मिस कैथरीन मेयो

की बहुचर्चित कृति

मदर इंडिया

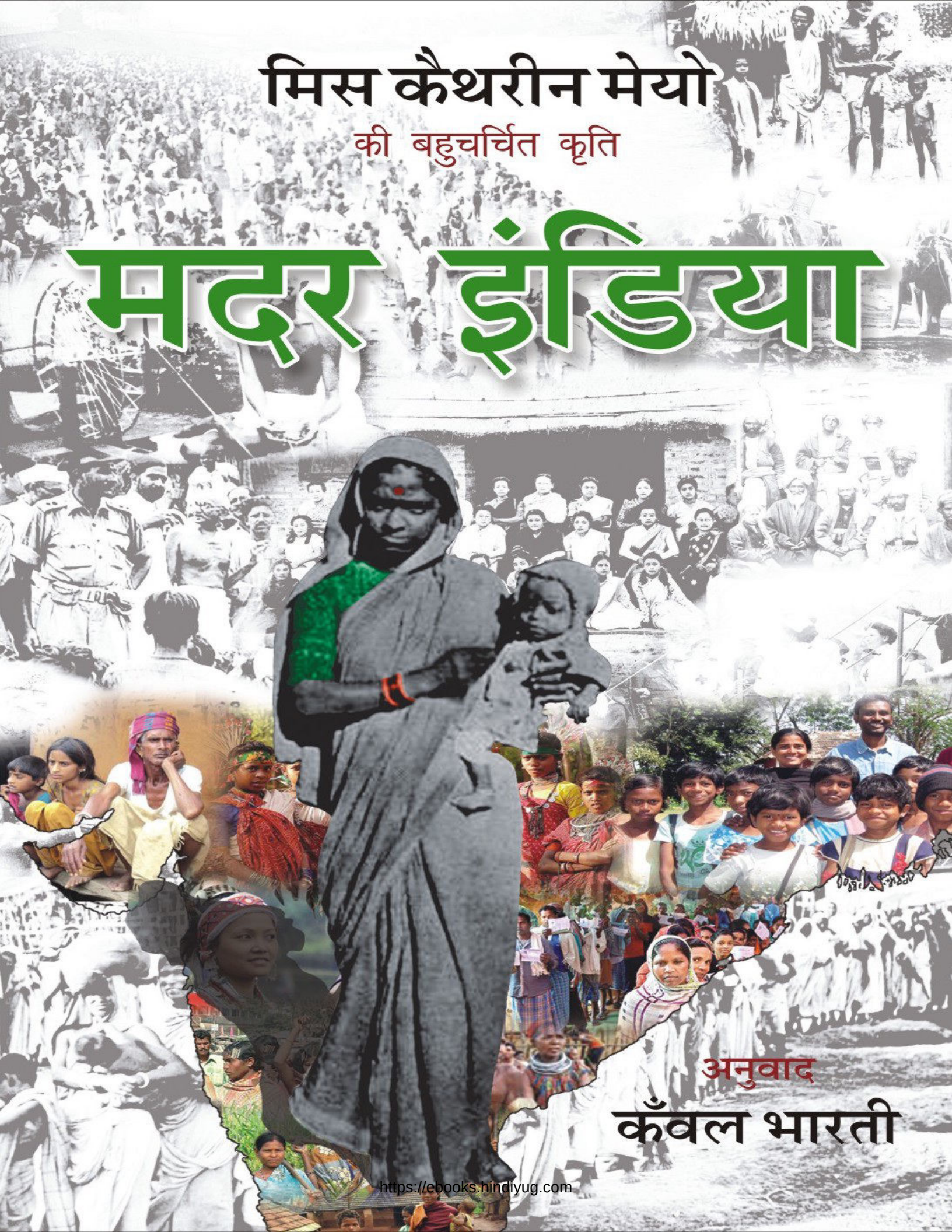

अनुवाद

कँवल भारती

https://ebooks.hindiyug.com

मिस कैथरीन मेयो

की बहुचर्चित कृति

मदर इंडिया

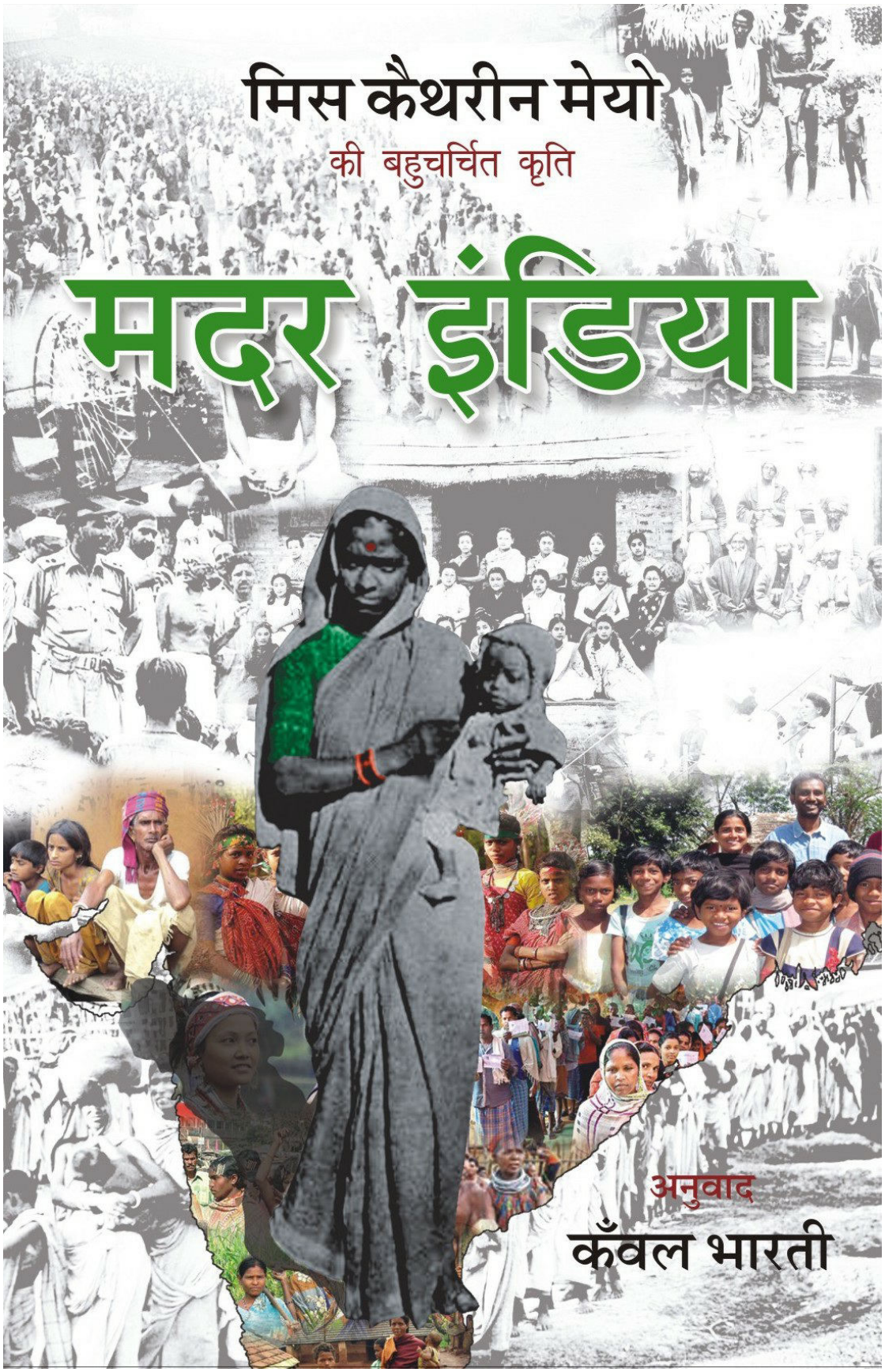

अनुवाद

कँवल भारती

https://ebooks.hindiyug.com

मिस कैथरीन मेयो की बहुचर्चित कृति

मदर इंडिया

अनुवाद

कँवल भारती

FORWARD PRESS
फारवर्ड प्रेस

https://ebooks.hindiyug.com

Photo by M. Moyca Newell

THE UNTOUCHABLE

"Just stood in the doorway." (*See* page 163.)

https://ebooks.hindiyug.com

ISBN : अजिल्द - 978-81-938175-6-8, सजिल्द - 978-81-938175-7-5

प्रथम संस्करण **:** 2019

प्रकाशक **:**
फारवर्ड प्रेस **[*]**
डी-128, साउथ गणेश नगर, नई दिल्ली - 110092

ई-मेल **:** fpbooks@forwardpress.in

संपर्क **:** +91-7827427311

© फारवर्ड ट्रस्ट **[*]**

डिजाइन-लेआउट **:** राजन कुमार

मदर इंडिया
कैथरीन मेयो
हिंदी अनुवाद **:** कँवल भारती

Mother India
Katherine Mayo
Hindi Translation : Kanwal Bharti

.....

[*] फारवर्ड प्रेस; 'फारवर्ड ट्रस्ट, 803/92, दीपाली, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली - 110019' की इकाई है

https://ebooks.hindiyug.com

भारत के लोगों
और
उन खेतिहर मजदूरों को भी,
जिन्होंने
मनुष्यता की खातिर
एक बार
मेरी जान बचाई थी

- कैथरीन मेयो

https://ebooks.hindiyug.com

‘यह उन सामान्य आचार-विचारों, रीति-रिवाजों और प्रशासन का एक सामान्य खाका है, जिसे अब तक मैं देख पाई। कोई वर्णन अपने आप में समग्र नहीं हो सकता है, लेकिन इसे पढ़कर कोई यह कह सकता है कि उसने एक बार ऐसा देखा है या इसके उलट उसके पास तथ्य हैं। साथ ही साथ यदि इस संदर्भ में कुतर्क किया जाएगा, तो मेरे पाठक इस बात को समझ जाएंगे कि पूरी तरह सुसंगतता की स्थिति असंभव है।’

‘दि रिमॉन्सट्रेटी ऑफ फ्रांसिस्को पेलसर्ट’, डच ईस्ट इंडिया कंपनी के एजेंट फ्रांसिस्को पेलसर्ट की गोपनीय रिपोर्ट है, जो 1620 से 1627 तक आगरा में तैनात थे। हाल ही में यह अंग्रेजी में ‘जहांगीर्स इंडिया’ नाम से प्रकाशित हुई है

- कैथरीन मेयो

अनुक्रम

अनुवादकीय
प्रस्तावना

भाग - *1*

परिचय : मांडले की बस
अध्याय - 1 : बहस
अध्याय - 2 : गुलाम मानसिकता
अध्याय - 3 : कंचे और लट्टू
अध्याय - 4 : जल्दी विवाह, जल्दी मृत्यु
अध्याय - 5 : साफगोई

भाग - *2*

अंतराल : ग्रैंड ट्रंक रोड
अध्याय - 6 : पति परमेश्वर
अध्याय - 7 : पाप की कीमत
अध्याय - 8 : भारत माता
अध्याय - 9 : परदे के पीछे
अध्याय - 10 : कुंवारी स्त्री

भाग-*3*

अंतराल : ब्राह्मण
अध्याय - 11 : मनुष्य से भी नीचे
अध्याय - 12 : वह देखो, प्रकाश पुंज!
अध्याय - 13 : हमें नौकरी दो या मौत दो
अध्याय - 14 : दोनों के बीच संबद्धता
अध्याय - 15 : शिक्षा देने से इनकार क्यों?
अध्याय - 16 : एक आदर्श परामर्श

भाग - *4*

अंतराल : मि. गांधी
अध्याय - 17 : मुक्ति-सेना का पाप
अध्याय - 18 : पवित्र गाय
अध्याय - 19 : दया का भाव
अध्याय - 20 : अपने मित्रों के घर में
अध्याय - 21 : नितांत अभाव का घर
अध्याय - 22 : सुधार
अध्याय - 23 : भारत के राजे-महाराजे

भाग - *5*

अंतराल : उत्तर क्षेत्र में
अध्याय - 24 : पुआल की लपटें
अध्याय - 25 : पैगम्बर के बेटे
अध्याय - 26 : धार्मिक नगरी
अध्याय - 27 : दुनिया का खतरा
अध्याय - 28 : नीम-हकीम, जिन्हें हम जानते हैं
अध्याय - 29 : आर्थिक लेंस के माध्यम से मनोवैज्ञानिक झलकियां
अध्याय - 30 : उपसंहार

परिशिष्ट - 1 : चिकित्सा संबंधी साक्ष्य
परिशिष्ट - 2 : महिलाओं की मुक्ति
परिशिष्ट - 3 : विविध

अनुवादकीय

कैथरीन मेयो की बहुचर्चित पुस्तक 'मदर इंडिया' का अनुवाद आपके हाथों में देकर आज मैं अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। 1927 में प्रकाशित इस अंग्रेजी-पुस्तक ने हिंदू भारत में खलबली मचा दी थी। हिंदुत्व, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति पर गर्व करने वाले नेता ऐसे बिलबिलाए थे, जैसे हजार बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिए हों। महात्मा गांधी सहित लगभग सभी हिंदू नेताओं ने मिस मेयो की 'मदर इंडिया' का खंडन किया था और लाला लाजपत राय को भी उसके विरोध में किताब लिखनी पड़ी थी। असल में मिस मेयो की किताब 'मदर इंडिया' सामाजिक विषमता, अंधी परंपराओं, भयानक अशिक्षा और गरीबी में जकड़े भारत की वह नंगी तस्वीर दिखाती है, जिसे देखकर कोई भी संवेदनशील व्यक्ति विचलित हो सकता है।

बाबा साहब डॉ. आंबेडकर की रचनाओं में 'मदर इंडिया' का अनेक स्थानों पर संदर्भ आया है। उन रचनाओं से ही मुझे उसके बारे में पता चला। संयोग से बाबा साहब की रचनावली बीती सदी के अंतिम दशक में अंग्रेजी में आई थी। उसी दशक में दिल्ली के 'प्राइस लो पब्लिकेशंस' ने 'मदर इंडिया' का 1997 में पुनर्मुद्रण किया। लेकिन, मुझे इसका पता एक साल बाद लगा। अत: 24 नवंबर 1998 को 'मदर इंडिया' की एक प्रति मेरे हाथ में आई। जैसे ही मैंने इसे पढ़ा और इसे हिंदी में लाने का मन बनाया। तो दिक्कत यह सामने आई कि उन दिनों मुझ पर पत्रकार बनने का भूत सवार था और पत्रकारिता कुछ दूसरा काम करने के लिए दम मारने का भी समय नहीं देती। मैंने अपनी इच्छा अपने बेटों से व्यक्त की, पर वे भी अपनी व्यस्तताओं के कारण इसमें रुचि नहीं ले पा रहे थे। इसलिए उन्हें भी समय नहीं मिल सका। अंतत: मुझे ही इसके लिए अपनी सुविधा के अनुसार समय निकालना पड़ा। किन्तु, यह समय मुझे 20 साल बाद 2017 के आरंभ में मिला। जब मैंने आधी से ज्यादा किताब का अनुवाद कर लिया, तो उस पर एक टिप्पणी मैंने अपनी फेसबुक वॉल पर लिखी; जिसे पढ़कर विद्वान साथी ओमप्रकाश कश्यप ने मुझे अवगत कराया कि हिंदी में उसका अनुवाद 1928 में ही हो गया था और उसी वर्ष हिंदी में उसका जवाब भी छप गया था। मेरे अनुरोध पर उन्होंने मुझे दोनों पुस्तकों की पीडीएफ फाइलें मेल कर दीं। अनुवाद की पीडीएफ फाइल अधूरी निकली। उसमें केवल 18वें अध्याय 'दि सैक्रेड काउ' तक का ही अनुवाद मिला, जबकि उस समय मैं 22वें अध्याय 'रिफॉर्म्स' का अनुवाद कर रहा था। किताब में उपसंहार को मिलाकर 30 अध्याय हैं।

पुराने हिंदी अनुवाद में उमा नेहरू की 27 पृष्ठों की लंबी प्रस्तावना है, शायद वही अनुवादक भी हैं, और लगभग 150 पृष्ठों में 'मदर इंडिया' की लेखिका मिस मेयो से 'दो बातें' भी की गई हैं। इन 150 पृष्ठों में मिस मेयो की जितनी भी भर्त्सना की जा सकती थी, वह की गई है। इसका प्रकाशन 'हिंदुस्तान प्रेस' इलाहाबाद से हुआ था। 'मदर इंडिया' का जवाब गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी (अब गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार) की श्रीमती चंद्रावती लखनपाल ने लिखा था; जिसका प्रकाशन संवत 1985 में 'गंगा पुस्तक माला', लखनऊ से हुआ था। मुझे इन दोनों पुस्तकों से 'मदर इंडिया' के प्रतिरोध को समझने में काफी मदद मिली।

निस्संदेह 'मदर इंडिया' का तीखा जवाब दिया गया था। पर, उस तीखे जवाब में भी मिस मेयो के दिए गए विवरण को नकारने का साहस कोई नहीं कर सका है। उमा नेहरू ने तो अपने अनुवाद की प्रस्तावना में यहां तक लिखा–

> 'इससे भी बड़ी गलती यह होगी कि हम इस पुस्तक का संपूर्ण रीति से प्रचार न करें। यदि इसमें हमारी वास्तविक दशा चित्रित है, तो इसे पढ़ना और दूसरों से पढ़वाना हमारा धार्मिक कर्तव्य होना चाहिए। यदि इस पुस्तक में अत्युक्तियां और झूठ है, तो उससे पश्चिमी संसार धोखा भले ही खाए, हम स्वयं उससे धोखा नहीं खा सकते। अपने दोषों से घृणा करना इन्हें दूर करने की पहली सीढ़ी है। और जो लोग अपने दोष देखने से घबराते हैं, वे दवा न खाने वाले बीमार के समान अपने रक्त से स्वयं अपने रोग का पालन करते हैं।' [1]

श्रीमती चंद्रावती लखनपाल भी 'मदर इंडिया का जवाब' में अपने 'दो शब्द' में यह कहना नहीं भूलीं–

> 'इसमें संदेह नहीं कि यूरोप और अमेरिका में शराब, व्यभिचार, चोरी, डाके तथा अत्याचार दिनोंदिन बढ़ रहे हैं। परंतु, मैं स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित कर देना चाहती हूं कि यह सब कुछ कह देना 'मदर इंडिया' का असली जवाब नहीं है। मिस मेयो की बहुत-सी बातें झूठ हैं। झूठ ही नहीं, गंदी तथा नीचतापूर्ण हैं। परंतु, क्या इस पुस्तक के पन्नों को पलटे जाने पर कोई इस बात से इनकार कर सकता है कि उसकी कई बातें सच्ची भी हैं और यह लिखते हुए छाती फटती है कि बिलकुल सच्ची हैं। मैं चाहती हूं कि भारतवर्ष के एक-एक व्यक्ति के हाथ में यह पुस्तक पहुंचे। और सबको मालूम हो जाए कि हमें बदनाम करने के लिए, जहां मिस मेयो ने झूठ बोलने में भी कसर नहीं छोड़ी है; वहीं कहीं-कहीं सच बोलने में कसर नहीं छोड़ी। पाठक वृंद, इन शब्दों की गूंज में पुस्तक के पन्ने पलटिए और अपने समाज की गंदगी को भस्म कर देने के लिए आंखों से चिनगारियां निकालते चलिए। यही 'मदर इंडिया' का असली जवाब है।' [2]

'आंखों से चिनगारियां निकालते चलिए'- इस वाक्य पर गौर करें। मिस मेयो ने 'मदर इंडिया' में गरीबों, अछूतों, शूद्रों और स्त्रियों की बदहाली तथा राजाओं, सामंतों और ब्राह्मणों के शोषण-तंत्र का जो वर्णन किया है; उसे पढ़कर शोषितों की आंखों से भी चिनगारियां निकलेंगी और शोषकों की आंखों से भी। पर, दोनों की चिनगारियों की अंतर्वस्तु में बुनियादी फर्क होगा।

27 जनवरी 1867 को अमेरिका के रिजवे, पेंसिल्वेनिया में जन्मीं मिस कैथरीन मेयो वर्ष 1924-25 में भारत आई थीं। वह मूलत: इतिहासकार थीं। एक इतिहासकार के रूप में उन्होंने पूरे भारत की यात्रा की। प्रांत-प्रांत घूमकर वहां के गांवों को देखा। आम जनता के जीवन, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, शिक्षा, स्कूलों-कॉलेजों, अस्पतालों, स्त्रियों और शूद्रों के हालात का पूरे तथ्यों के साथ अध्ययन किया। उन्हें सबसे अधिक दु:ख भारत की स्त्रियों और अछूत जातियों की स्थिति को देखकर हुआ था। अपने अध्ययन और अनुभवों के आधार पर उन्होंने 'मदर इंडिया' किताब लिखी, जो 1927 में प्रकाशित हुई। कहते हैं कि उन्होंने भारतीय महिलाओं की दुर्दशा से द्रवित होकर ही किताब का नाम 'मदर इंडिया' रखा था। इसके प्रकाशित होते ही जहां ब्रिटिश क्षेत्रों में इसका स्वागत हुआ, वहीं भारत में इसकी घोर निंदा हुई और इसे नस्लवाद तथा इंडोफोबिया की दृष्टि से देखा गया। मेयो ने अनेक महत्वपूर्ण किताबें लिखी थीं। परंतु, सर्वाधिक चर्चा में वे 'मदर इंडिया' से ही आई थीं, जिसने उन्हें भारत में कुख्यात और विदेशों में विख्यात कर दिया था। हिंदुओं द्वारा की जा रही आलोचना का सबसे बड़ा कारण यह था कि मिस मेयो ने हिंदू धर्म और संस्कृति पर हमला किया था। निस्संदेह, मेयो की किताब ने भारतीय लोगों के बारे में अमेरिकी लोगों के दिमाग पर नकारात्मक प्रभाव डाला था। पर, दुर्भाग्य से उस कालखंड में यही भारत का सच भी था। इसका जबरदस्त प्रभाव यह हुआ कि भारत में 50 से भी अधिक आलोचनात्मक पुस्तकों और पम्फलेटों का प्रकाशन हुआ और उसने इसी नाम से एक फिल्म के निर्माण को भी प्रेरित किया, जबकि भारत और न्यूयॉर्क में मिस मेयो के पुतलों के साथ उनकी किताब को भी जलाया गया। महात्मा गांधी ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा–

> 'मेरी नजर में यह एक नाली इंस्पेक्टर की रिपोर्ट है, जिसका उद्देश्य यह दिखाना है कि भारत में कितनी नालियां हैं और उनमें कितनी गंदगी भरी हुई है। इस किताब में उस गंदगी की बदबू का ही ग्राफिक विवरण है। अगर मिस मेयो यह स्वीकार करतीं कि वे भारत में गंदगी देखने आई थीं, तो हमें उनसे ज्यादा शिकायत नहीं होती। किन्तु, हमें दु:ख है कि उन्होंने अपने गलत निष्कर्षों से हर क्षेत्र में भारत को एक गंदा देश चित्रित किया है।'

मिस मेयो की 'मदर इंडिया' के खंडन में जितनी पुस्तकें लिखी गईं, उनमें कांग्रेस के लाला लाजपत राय की 'अनहैप्पी इंडिया', दलीप सिंह

सौंद की ‘माय मदर इंडिया’ और धान गोपाल मुकर्जी की ‘अ सन ऑफ मदर इंडिया आन्सर्स’ पुस्तकें मुख्य हैं। 1957 में हिंदी फिल्म ‘मदर इंडिया’ भी मिस मेयो की ‘मदर इंडिया’ की प्रतिक्रिया में ही बनी थी।

इससे समझा जा सकता है कि मिस मेयो की ‘मदर इंडिया’ ने भारत के हिंदू जगत को किस कदर विचलित कर दिया था।

आज 90 साल के बाद ‘मदर इंडिया’ को हिंदी में लाने का उद्देश्य ‘कहो गर्व से हम हिंदू हैं’ का नारा लगाने वाले हिंदू राष्ट्रवादियों की आंखों का जाला हटाना है। ताकि वे देख सकें कि क्या सचमुच हिंदू संस्कृति में दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों के लिए गर्व करने योग्य कुछ है?

कहीं-कहीं इतिहास को समझने के लिए मैंने अपने मित्र, इतिहास के प्रोफेसर ओमप्रकाश गुप्ता (ओमराज) की सहायता ली है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं। अनुवाद में अपने पुत्र मोग्गल्लान भारती, (असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र, डॉ. आंबेडकर विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) से भी यदा-कदा सहायता प्राप्त की है, जिसके लिए मैं उसे भी धन्यवाद देता हूं। इस कार्य के लिए मैं दलित चिंतक और लेखक एस.आर. दारापुरी (पूर्व आईपीएस अधिकारी) का भी आभारी हूं, जिन्होंने ‘मदर इंडिया’ का अनुवाद करने के लिए मुझे सबसे अधिक प्रोत्साहित किया था। उन्होंने मुझे उसके प्रकाशन की समस्या से भी निश्चिंत रहने को कहा था। उनका कहना था कि एक बार काम हो जाए, तो प्रकाशक भी मिल ही जाता है।

काम पूरा हो जाने के बाद उसका पुनर्निरीक्षण भी जरूरी था। मैं इसका पुनर्निरीक्षण मोग्गल्लान से कराना चाहता था, पर अपनी पीएचडी थीसिस में अत्यंत व्यस्त होने के कारण वह संभव नहीं हो सका। अन्ततः इस कार्य को भी मुझे ही अपने हाथ में लेना पड़ा। इसमें काफी समय लगा। कारण? आलोचना, पत्रकारिता और अन्य सृजन भी साथ-साथ चलता रहा। इस प्रकार इसके पूर्ण निष्पादन में एक वर्ष से भी ज्यादा का समय व्यय हुआ। प्रकाशन के लिए फारवर्ड प्रेस के प्रबंध संपादक प्रमोद रंजन से बात हुई। उन्हें कुछ अध्याय भेजे गए, जिनका अवलोकन करने के पश्चात वे इसके प्रकाशन के लिए सहर्ष तैयार हो गए। पर फिर व्यवधान आया। मुझे इसका अनुवादकीय लिखना था। दूसरे कामों की वजह से इसका लिखना भी कई महीनों तक टलता रहा। फिर इस दृढ़ संकल्प के साथ कि इसे इसी वर्ष 2017 में निपटाना ही है, 21 दिसंबर को यह काम भी समाप्त किया।

अब मैं प्रसन्न हूं कि यह पुस्तक आपके हाथों में है। इसके लिए मैं फारवर्ड प्रेस और प्रमोद रंजन का अत्यंत आभारी हूं।

- कँवल भारती
21 दिसंबर **2017**

---

[1] मिस मेयो की 'मदर इंडिया', श्रीमती उमा नेहरू, 1928. हिंदुस्तान प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ -13
[2] मदर इंडिया का जवाब, चंद्रावती लखनपाल, सं. 1985 वि., गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, पृष्ठ-6,7

प्रस्तावना

मुझे अनेक लोगों का, उनके नाम से–जिनमें भारतीय और अंग्रेज दोनों शामिल हैं–आभार व्यक्त करने में अतीव प्रसन्नता होगी, जिन्होंने इतनी विनम्रता से उन सूचनाओं, दस्तावेजों तथा स्थानों और चीजों तक मेरी पहुंच को सुगम बनाया है, जो मैं देखना चाहती थी। किन्तु, सत्य यह है कि जिन निष्कर्षों पर मैं पहुंची हूं; उनका पूर्वानुमान लगाना असंभव था। उन निष्कर्षों के लिए मेरे ये साथी जरा भी जिम्मेदार नहीं हैं। अतः मेरे निष्कर्षों से उन्हें व्यक्तिगत रूप से बिना वजह परेशान न करें।

इस वजह से इस किताब की पांडुलिपि न तो भारत सरकार के किसी सदस्य को, और न सरकार के किसी अंग्रेज या भारतीय अधिकारी को सौंपी गई है। हालांकि, अंतर्राष्ट्रीय स्तर के कुछ स्वास्थ्य अधिकारियों ने इस किताब की समीक्षा की है, जो भारतीय क्षेत्र से परिचित थे।

लेकिन, मैं यहां भारत में अपनी दो मित्रों—मिस एम. मोया नीवेल और हैरी हबर्ट फील्ड के प्रति, उनके बहुमूल्य योगदान और पूर्ण सहायता के लिए अपनी गहरी कृतज्ञता व्यक्त कर सकती हूं। इन दोनों के प्रति मेरी कृतज्ञता सीमा से परे है।

- कैथरीन मेयो, बेडफोर्ड हिल्स, न्यूयॉर्क

भाग – 1

https://ebooks.hindiyug.com

परिचय

मांडले की बस

कलकत्ता (अब कोलकाता), ब्रिटिश साम्राज्य का दूसरा बड़ा शहर, जो बंगाल की खाड़ी के शिखर पर गंगा नदी के किनारे बसा हुआ है, जिसे यहां हुगली कहते हैं। इस विशाल कलकत्ता में सब कुछ है– आधुनिक इमारतें, राष्ट्रीय स्मारक, पार्क, बगीचे, अस्पताल, संग्रहालय, विश्वविद्यालय, न्यायालय, होटल, कार्यालय, दुकानें और वह सब कुछ, जो एक समृद्ध अमेरिकी शहर में होता है। हालांकि, इसके नक्शे में सीधी सड़कें दिखाई गई हैं; पर इसके उलट यहां भारतीय नगरों की तरह ही मंदिर, मस्जिदें, बाजार, करीने से काटे-छांटे गए मैदान और गलियां हैं। चौराहों, गलियों तथा बाजारों में किताबों की छोटी-छोटी दुकानें हैं। जहां सुस्त चाल वाले, कमजोर नजर वाले और बीमार कदकाठी वाले नौजवान भारतीय छात्रों के झुंड अपनी देशी पोशाकों में रूसी साहित्य के ढेर पर ऐसे टूट पड़ते हैं, जैसे मक्खियां भिनभिना रही हैं।

समृद्ध कलकत्ता विश्व और भारत के व्यापार के लिए विशाल मुक्त द्वार है। जहां से सोने-चांदी, जूट-कपास और उन सारी चीजों का व्यापार होता है, जिनकी भारत और विश्व को एक-दूसरे से लेने की जरूरत पड़ती है। कलकत्ता भव्य और बनावटी शहर है, जहां सभी धर्मों और रंगों के बनावटी लोग गवर्नमेंट हाउस की गार्डन पार्टियों में जाते हैं। अंग्रेज लाट साहबों को सलाम ठोकते हैं। बढ़िया अंग्रेजी बोलते हैं। चाय पीते हैं। आइसक्रीम खाते हैं और सेना का बैंड सुनते हैं।

गवर्नमेंट हाउस के बाग की दीवारें इतनी ऊंची हैं कि आप वहां से सड़क नहीं देख सकते। किन्तु यदि आप देख सकते होते, तो आपको सड़कें तरह-तरह की मोटर-कारों, टैक्सियों और प्राइवेट गाड़ियों से भरी हुई दिखाई देतीं। इन्हीं गाड़ियों के बीच कभी-कभी आपको एक ट्राम जाती हुई दिखाई देगी, जिस पर बड़े अक्षरों में लिखा होता है- 'काली घाट'।

यदि आपने ध्यान दिया हो, तो यह बस पार्क के किनारे चलते हुए इम्पायर थिएटर को पार करने के बाद, बहुत से क्लबों, सेंट पॉल केथेड्रल, बिशप हाउस, अस्पताल और लंदन मिशन सोसायटी से गुजरती हुई एक घनी बस्ती पर जाकर रुकती है, जो इसका आखिरी ठहराव है। यही काली घाट है।

कलकत्ता इसी 'काली घाट' अर्थात् 'काली के स्थान' से बना है। 'काली' हिंदुओं की एक देवी है, जो विनाश के देवता शिव की पत्नी है। काली का काम संहार करना है। उसकी प्यास बलिदान के रक्त से शान्त होती है। कहा जाता है कि विश्व में उसका आध्यात्मिक शासन लगभग पांच हजार साल पहले आरंभ हुआ था और चार लाख 32 हजार साल तक रहेगा।

भारत में काली के छोटे-बड़े हजारों मंदिर हैं। कलकत्ता का काली मंदिर एक ब्राह्मण परिवार की निजी संपत्ति है, जो तीन शताब्दियों से उसके पास है। आज इस संपत्ति के स्वामी एक ही पिता के 100 पुत्र हैं। इन्हीं 100 में से एक पुत्र ने मुझे एक ब्राह्मण मित्र के साथ मंदिर परिसर दिखाने की अनुकंपा की है। मैं उसे मि. हलदार कहूंगी, क्योंकि यही उसका पारिवारिक नाम है।

अगर मि. हलदार आम बंगाली का पहनावा—सफेद धोती और सफेद कुर्ता—न पहने हुए होते, तो एक उत्तरी इटैलियन सज्जन समझे जा सकते थे। उनकी अंग्रेजी संवरी हुई थी और उनका आचरण अच्छा था।

उन्होंने कहा– 'इस मंदिर की अपनी 590 एकड़ जमीन है, जिसकी आय कर-मुक्त है। यहां नजदीक और दूर सब जगह से लोग आते हैं। इसलिए यहां हर समय भीड़ रहती है। वे यहां पूजा करते हैं। पैसा चढ़ाते हैं। यहां पुरोहित को भी दक्षिणा दी जाती है। यहां बहुत-सारे मंडप हैं, जो एक-दूसरे के समीप और ऊपर-नीचे हैं। इनमें मिठाइयां, मूर्तियां, फूल, तावीज और मन्नत के लिए चढ़ावे का सामान बेचा जाता है। इससे भी आय होती है।'

श्रद्धालुओं की भीड़ को तेजी से चीरकर आगे बढ़ते हुए मि. हलदार ने हमें वह खास मंदिर दिखाया। एक ऊंचे चबूतरे पर छत और खम्भे थे। उसके तीन तरफ लंबी-चौड़ी सीढ़ियां थीं। उसके चौथी तरफ एक छोर पर एक गहरा, अधखुला मंदिर था; जिसमें एक देवी की धुंधली-सी एक मूर्ति नजर आई। उसका चेहरा काला है। उसकी जीभ बाहर को निकली हुई है, जिससे खून टपक रहा है। उसके चार हाथ हैं, जिनमें से एक हाथ में कटा हुआ रक्तरंजित मानव-सिर है। दूसरे हाथ में खड्ग, तीसरे में रक्त से भरा पात्र है और चौथा हाथ धमकाने वाली मुद्रा में खाली है। उसके पैरों के पास परछाई में पुरोहित खड़े हुए थे।

देवी के सामने वाले एक लंबे चबूतरे पर बहुत-से स्त्री और पुरुष साष्टांग लेटे हुए प्रार्थना कर रहे हैं। उनके बीच में कुछ आवारा लड़के-लड़कियां सींकों पर टंगी मिठाइयां (लॉलीपॉप) चाटते हुए घूम रहे हैं। एक सफेद बछड़ा भी वहां घूम रहा है। इस सबके बीच में एक श्रद्धालु वृद्ध पालथी मारकर बैठा हुआ एक मोटी किताब जोर-जोर से पढ़ रहा है।

मि. हलदार ने मुझे बताया– 'वह भक्तों को हमारे हिंदू पुराण से काली की कथा पढ़कर सुना रहा है।'

अचानक एक मिमियाने की चीत्कार सुनाई दी। हम मंदिर के दूसरे छोर की तरफ खुले बरामदे की ओर दौड़े। यहां दो पुरोहित खड़े हुए थे। एक के हाथ में मुड़ी हुई खड्ग थी और दूसरा बकरी के बच्चे को पकड़े हुए था। बकरी का बच्चा चीख रहा था। क्योंकि, हवा में हिंसा की गंध थी; जिसे सूंघकर प्राणी सिहर जाते हैं। देवी के सामने जोर-जोर से ढोल-नगाड़े बजने लगे। पुरोहित ने चीखते हुए बकरी के बच्चे को हवा में उछालते हुए जमीन पर गिरा दिया। उसकी गर्दन फटे हुए खूंटे में एक हुक में फंसा दी गई है। दूसरा पुरोहित अपनी तेज धार की खड्ग से उस नन्ही-सी जान का सिर काट देता है। खून की धार जैसे ही फर्श पर गिरी, देवी की मूर्ति के आगे घंटे-घड़ियाल बजने लगे और सारे पुरोहित और भक्त साथ-साथ चिल्लाए– 'काली! काली!! काली!!!' कुछ तो मंदिर के फर्श पर ही लेट गए।

इसी समय एक औरत, जो बकरी के बच्चे की हत्या करने वाले पुरोहित के पीछे खड़ी थी, आकर फर्श पर लेट गई और अपनी जीभ से नीचे गिरे हुए उस खून को 'बच्चा पैदा होने की आशा से' चाटने लगी। तो दूसरी औरत उस खून पर अपना कपड़ा डाल देती है और उसे खून में सनाकर (लपेटकर) अपने वक्ष में रख लेती है। जबकि आधा दर्जन अनजान रोगों से ग्रस्त बीमार, भयंकर कुरूप, जख्मी और भूख से निर्जीव-से कुत्ते उस बहते खून के कुंड में जाकर अपनी भूख मिटाने लगे।

मि. हलदार ने गर्व के साथ कहा– 'हम यहां इसी तरीके से प्रतिदिन 150 से 200 तक बकरी के बच्चों को मारते हैं। इन बच्चों को बलि के लिए

भक्त लोग ही पूजा के लिए लाते हैं।'

इसके बाद वह हमें छोटी देवियों के मंदिरों में ले गया। उनमें एक लाल मंदिर चेचक की देवी का है। उसके पास ही एक मंदिर उसकी जुड़वां देवी का है, जो अपनी इच्छा से चेचक का रोग देती है या उससे छुटकारा दिलाती है। एक मंदिर पांच सिरों वाले काले नाग का है, जिसकी ठोड़ी के नीचे पुरोहित की नन्ही आकृति बनी हुई है। इसकी पूजा वे लोग करते हैं, जो सर्प-दंश से डरते हैं। आगे एक लाल बंदर देवता (हनुमान) की मूर्ति है, जिसकी पूजा पहलवान लोग कुश्ती लड़ने से पहले करते हैं। एक अन्य मूर्ति है, जिसकी पूजा धनी व्यापारी नए व्यापार में घाटा न होने और विश्वविद्यालय के छात्र परीक्षा में पास होने के लिए करते हैं। एक मूर्ति विश्वनाथ की है, जिसका चेहरा टोटम की तरह था। उसके बाद सब जगह मौजूद काली के पति शिव का लिंग प्रतीक है। इन सभी मंदिरों के पास गेंदे के फूल या टोकरियों में भरकर लाई गई लाल रंग की चढ़ावे की चीजें पड़ी हुई थीं। ये सब चीजें मंदिर की दुकानों पर बेची जा रही थीं। उन दुकानों पर मंदिर के सांडों के गोबर से बने पवित्र टिक्के (उपले) भी बिक रहे थे।

मि. हलदार हमें एक गली में ले गए, जहां पंक्तियों में तमाम साधु बैठे थे; जिनमें लगभग सभी नंगे थे। उनमें ज्यादातर मोटे-मुस्टंडे और बड़े केशों वाले थे, जो पूरे शरीर पर राख लपेटे हुए भीख मांग रहे थे। वे सभी फोटो खिंचवाने के लिए आतुर थे। वे फोटो खिंचवाने के लिए उछल-उछलकर खड़े हो रहे थे। एक पागल आदमी हमारी तरफ उछला। वह एक लड़की को बुरी तरह डरा रहा था। उस लड़की की कलाई पर एक दुपट्टा बंधा था, जिसका दूसरा सिरा एक युवक की कलाई पर बंधा हुआ था। वह युवक उस लड़की को खींचकर ले जा रहा था। मि. हलदार ने बताया– 'ये नवविवाहित पति-पत्नी हैं, जो यहां पुत्र के लिए प्रार्थना करने आए हैं।'

इसके बाद हम मंदिर के श्मशान घाट गए। वहां एक चिता जलाने की तैयारी चल रही थी। एक खुली जगह के बीच में एक चौकोर गड्ढा खोदा गया था, जिसे लकड़ियों से आधा भर दिया गया था। पास में ही जमीन पर, एक खूबसूरत जवान भारतीय स्त्री की लाश पड़ी थी, लग रहा था जैसे अचेत हो। उसके लंबे काले बाल उसके चारों ओर बिखरे हुए थे, कुछ फूल भी उनमें थे। उसके माथे, उसके हाथ और उसके पैरों के तलवों पर लगा हुआ लाल रंग बताता था कि वह सौभाग्यवती स्त्रियों में थी, जो विधवा होने से बच गई थी। यानी उसका पति जीवित था। उसके दो-तीन संबंधी और एक 10 वर्ष का बालक पास में ही खड़े थे, जो उदास लग रहे थे। कुछ दूरी पर एक बूढ़ी स्त्री बैठी रो रही थी। पांच या छह घुड़-मक्खियों की तरह कुछ भिखारी भी घूम-फिर रहे थे।

अब उन्होंने लाश को उठाया और गड्ढे में रखी लकड़ियों पर रख दिया। स्त्री का सिर एक तरफ झुक गया और एक हाथ लटक गया; जैसे उसने सोते में करवट बदली हो। वह कुछ ही घंटे पहले मरी लगती थी। उन्होंने उस पर ऊपर तक लकड़ियों का ढेर लगा दिया। अब उस छोटे बालक ने- जो शायद उसका बेटा था -हाथ में जलती आग लेकर चिता के सात चक्कर लगाए और उसके बाद उसने वह आग लकड़ियों पर फेंक दी। लकड़ियां जलने लगीं और धुआं उठने लगा। इस तरह अंतिम संस्कार संपन्न हुआ।

मि. हलदार ने समझाया– 'अच्छी तरह आग जलने से नाभि के सिवा सब जल जाता है। मंदिर के चाकर चिता की राख में से नाभि को निकाल लेते हैं और मृतक के परिवार सोने का सिक्का लेकर उसे नाभि के साथ मिट्टी के एक गोले में रखकर गंगा में बहा देते हैं। अब हम गंगा दिखाएंगे।'

वह हमें मंदिर से नीचे की ओर ले गया। वहां कीचड़-युक्त एक छोटा-सा नाला बह रहा था, जिसमें नहाने वालों की भीड़ थी। मि. हलदार ने कहा– 'यह प्राचीन गंगा की अवशेष धारा है। इसलिए यह बहुत गुणवान मानी जाती है। जैसा कि आप यहां देख भी रही हैं, यहां हर वर्ष हजारों बीमार लोग स्नान करने आते हैं और अपनी बीमारियों से मुक्ति पाते हैं। कुछ लोग अपने पापों से मुक्ति के लिए भी आते हैं और पूजा करने से पहले वे इसमें स्नान करते हैं।'

उन्होंने अपने घुटनों तक बह रहे उस पानी में स्नान करने के बाद उस पानी को पिया भी। उसके बाद उनमें से बहुत से लोग उसकी तलहटी में कुछ टटोलते रहे और फिर उसमें से मुट्ठीभर कीचड़ निकालकर उसे अपनी हथेली पर रखकर उसमें कुछ ढूंढने लगे। मि. हलदार ने बताया– 'यह चिता की राख है, जिसमें वे सोने का सिक्का ढूंढ रहे हैं। उन्हें सिक्का मिलने की उम्मीद रहती है।'

इस बीच घाट की सीढ़ियों पर पुरोहितों का आना-जाना लगा हुआ था। उनमें से हरेक के पास तीन या चार बकरी के बच्चे होते थे, जिन्हें वे उसी पानी में स्नान कराकर खींचते हुए वापस मंदिर के अहाते में ले जाते थे। वे बच्चे चीखते और छटपटाते थे। इस बीच स्त्री-पुरुष उसी नाले से बर्तनों में भी पानी भरकर ले जा रहे थे।

मि. हलदार ने आगे कहा– 'हर बकरी के बच्चे को बलि देने से पहले इस पवित्र नदी में स्नान कराकर शुद्ध किया जाता है। जो लोग पानी भरकर ले जा रहे हैं, उसे काली के चरणों पर और उसके सामने खड़े पुरोहितों के चरणों पर प्रवाहित किया जाता है।'

जैसे ही मि. हलदार ने मुझे मंदिर के बाहर तक छोड़ा। मेरा ध्यान आदमी के हाथ के आकार के बराबर एक गटर जैसी नाली के मुंह पर गया, जो जमीन की सतह पर था। इस नाली में एक छोटे सपाट पत्थर पर गेंदे के कुछ फूल, कुछ गुलाब-दल और कुछ सिक्के गिराए गए थे। मैं उसे देख ही रही थी कि अचानक नाली में से बहुत तेजी से गंदा पानी बाहर आया। तभी एक औरत भागती हुई आई और उस गंदे पानी को एक कटोरे में लेकर पी गई।

मि. हलदार ने बताया– 'यह हमारी गंगा का पवित्र जल है, जो काली और पुरोहितों के चरणों पर से बहकर और भी ज्यादा पवित्र हो गया है। मंदिर के फर्श से यह इसी तरह इस प्राचीन नाली से यहां आता है। यह पानी पेचिस और आंतों के बुखार में बहुत मुफीद साबित होता है। जो बीमार लोग यहां आ सकते हैं, वे पहले गंगा में स्नान करते हैं; फिर इस जल को पीते हैं। किन्तु जो बीमार यहां आने में अक्षम हैं, उनके लिए उनके परिचित इसे भरकर घर ले जाते हैं।'

इस तरह मैं अपनी मोटर तक आई, जो मेरा इंतजार कर रही थी। हम मोटर में बैठे और अस्पताल, बिशप हाउस, बहुत से क्लबों, इम्पायर थिएटर होते हुए कुछ ही मिनटों में कलकत्ता के बीच से निकल आए।

अगले दिन एक अंग्रेज थियोसोफिस्ट ने दुःखी होकर मुझसे पूछा– 'तुम काली घाट क्यों गई थीं? वह तो भारत नहीं है। केवल नीच, अज्ञानी और अनपढ़ भारतीय ही काली की पूजा करते हैं।'

मैंने एक प्रकांड विद्वान और प्रख्यात बंगाली ब्राह्मण से जब यह बात कही, तो उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार थी–

‘तुम्हारे अंग्रेज मित्र गलत हैं। यह सही है कि नीची जातियों में काली को पूजने वालों का प्रतिशत ज्यादा है और विष्णु को पूजने वालों का प्रतिशत कम है। ऐसा शायद इसलिए है कि इसके लिए आत्मसंयमी होने की जरूरत पड़ती है, जैसे- मांस-मदिरा से परहेज करना। किन्तु, हजारों ब्राह्मण हर जगह काली की पूजा करते हैं और काली घाट पर आने वाले श्रद्धालुओं में भी सभी जातियों के हिंदू शामिल होते हैं; जिनमें बहुत से अत्यंत उच्च शिक्षित और इस शहर व भारत के महत्वपूर्ण गणमान्य व्यक्ति होते हैं।’

https://ebooks.hindiyug.com

अध्याय **1**

बहस

जिसे हम भारत कहते हैं, क्षेत्रफल में वह संयुक्त राज्य अमेरिका से लगभग आधा है। इसकी जनसंख्या हमसे तीन गुनी है। इसका आयात और निर्यात व्यापार वर्ष 1924-25 में लगभग ढाई बिलियन डॉलर का था। [1] और न्यूयॉर्क से बंबई की यात्रा मात्र तीन सप्ताह की है।

मानवीय गतिविधियों के वर्तमान हालात में हम चाहे इच्छा करें या न करें, पर दुनिया के हर हिस्से से हमें जोड़ने वाली सड़कें लगातार छोटी होती जा रही हैं और उनकी संख्या बढ़ती जा रही हैं। ऐसे हालात में हमें इस विशाल और इतने नजदीक आ चुके पड़ोसी देश के बारे में कुछ खास तथ्यों का बौद्धिक ज्ञान जरूर होना चाहिए, जो हमारी आत्मरक्षा के लिए भी आवश्यक है।

लेकिन, एक औसत अमेरिकी व्यक्ति भारत के बारे में वास्तव में क्या जानता है? यही न कि वहां मि. गांधी रहते हैं और बाघ भी रहते हैं। इसके सिवा यदि वह कुछ जानता है, तो वह उसकी अपुष्ट धारणाएं हैं; जो उसने इस या उस पक्ष के पेशेवर प्रचारकों की अनभिज्ञ जानकारी से या भारत के धार्मिक या रहस्यात्मक स्रोतों से या किस्से-कहानियों से या यात्रा-साहित्य से या उपन्यासों और कविताओं से हासिल की हैं।

मैं इस तरह की अपुष्ट धारणाओं से संतुष्ट नहीं थी। इसलिए मैं यह देखने के लिए भारत आई कि वास्तव में यहां क्या है? इसके लिए मैंने किसी से कोई आर्थिक मदद नहीं ली। क्योंकि, मैं बिना किसी दबाव के निरपेक्ष और स्वतंत्र होकर यहां के मानव-जीवन को देखना चाहती थी।

धर्म, राजनीति और कला के क्षेत्रों को छोड़कर—जो मेरे लिए नीरस विषय हैं—मैं अपनी जांच-पड़ताल केवल सार्वजनिक स्वास्थ्य और उसकी संस्थाओं तक ही सीमित रखूंगी। उदाहरण के लिए मैं यह देखने की कोशिश करूंगी कि यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों को हैजा या प्लेग की महामारी रोकने का काम सौंपा जाए, तो उन्हें किन स्थितियों का सामना करना पड़ेगा। और यदि उन्हें आंतों के कीड़ों के विरुद्ध अभियान चलाना पड़े, तो कौन-सी कठिनाइयां उनके सामने आएंगी? और यह भी कि यदि वहां की सरकार को शिशु मृत्यु दर को रोकने, लोगों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने और उनके शैक्षिक स्तर को उठाने का प्रयास करना पड़े, तो कौन-सी शक्तियां उसकी मदद करेंगी और कौन-सी उसमें बाधक बनेंगी?

इनमें से किसी भी विषय को 'पूर्वी रहस्य' के आवरण से नहीं ढका जा सकता। उनका संबंध संपूर्ण राष्ट्र-परिवारों के साथ ठीक वैसा ही है, जैसे 23 नंबर की गली के जॉन स्मिथ के अस्वच्छ या स्वच्छ रहने का संबंध दूसरी गली के अंतिम छोर पर रहने वाले पीटर जॉन के अस्वच्छ या स्वच्छ रहने के साथ है।

अत: मैं अक्टूबर 1925 के आरंभ में लंदन गई और इंडिया ऑफिस पहुंची। वहां मैं बिलकुल अजनबी थी। पर मैंने वहां भारत जाने की अपनी पूरी योजना बताई।

वहां जो व्यक्ति मुझे मिला, उसने मुझसे पूछा– 'हम आपकी क्या सहायता कर सकते हैं?'

'कुछ नहीं'–मैंने उत्तर दिया। फिर कहा– 'सिर्फ मेरी बात पर विश्वास करें। एक विदेशी अजनबी आपसे भारत के बारे में प्रार्थना कर रही है, जिसे न तो वहां की प्राचीन वास्तुकला का अध्ययन करना है; न वहां के दार्शनिकों या कवियों से मिलना है। न वहां कोई बड़ा शिकार करना है और न मैं किसी की ओर से नियुक्त होकर वहां जा रही हूं; यह एक अजीब-सी बात है न! यह जानने के बाद कुछ सवाल पैदा हो रहे होंगे। लेकिन, मैं यह साफ कर दूं कि मैं न तो दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप करने वाली हूं और न मैं राजनीतिक जासूस हूं। मैं केवल एक आम अमेरिकी नागरिक हूं, जो अपने लोगों को भारत की वास्तविकता बताने के लिए वहां जाकर देखना चाहती हूं।'

यही बात मैंने उन भारतीयों को भी बताई, जिनसे मैं तब और उसके बाद मिली। मुझे अपने काम के दौरान दोनों तरह के बहुत-से लोगों से मिलना हुआ। वे चाहे आम भारतीय हों, अंग्रेज अधिकारी हों, सरकारी या गैर-सरकारी लोग हों; सभी ने मेरी भरपूर मदद की। उनकी मदद के बिना मैं यह काम इससे पांच गुना समय में भी पूरा नहीं कर सकती थी।

उस अंग्रेज ने मुझे सतर्क किया– 'किन्तु, आप जो भी करें। सावधानी से करें और उसको सार्वजनिक न करें। इस विशाल देश में कोई ऐसी बात नहीं है, जो सभी जगह सही हो। मद्रास और पेशावर, बंबई (अब मुंबई) और कलकत्ता इनमें से किसी एक प्रांत की बात किसी दूसरी जगह लागू नहीं होती। अगर आप एक जगह की बात दूसरी जगह पर कह देंगी, तो आप गलत साबित हो जाएंगी।'

मैंने कई बार पूरे देश की यात्रा की और काफी कुछ देखा। हर जगह मैंने भारतीय और ब्रिटिश स्वास्थ्य अधिकारियों से बातें कीं, उनके साथ शहर या देहातों में जाकर उनके काम करने के तरीकों को देखा। मैं बहुत से अस्पतालों में गई, जहां मैंने डॉक्टरों से बातचीत की और बीमारों को देखा। मैंने नार्थ-वेस्ट फ्रंटियर से मद्रास तक की लंबी यात्रा की है। कभी मैं जिले के कमिश्नर के साथ दौरे पर गई हूं, तो कभी किसानों के साथ ग्राम पंचायतों में जाकर बैठी हूं। कभी भारतीय नगर पालिका परिषद की बैठकों में शामिल हुई हूं, तो कभी अदालतों में जाकर मैंने जीवन के नजारों को भी देखा है। मैं अंग्रेज नर्सों के साथ बाजारों में घूमी हूं। उनके प्रांगणों, अंतरंग चैंबरों और छतों पर गई हूं। और जहां भी जरूरत हुई, मैं वहां गई हूं। मैंने रईसों के घरों को भी देखा है। वहां जच्चा महिला को किस तरह रखा जाता है, बच्चों और बीमारों की देखभाल किस तरह की जाती है, किस लापरवाही से खाने-पीने की चीजों को रखा जाता है और साफ-सफाई का कितना खयाल रखा जाता है; यह सब मैंने देखा है। मैंने रोजमर्रा के जीवन में—यात्रा में और घरों में—विभिन्न जातियों और वर्गों की आदतों और रस्मों को भी देखा है। मैंने कृषि केंद्रों और पशु-फार्मों में पशुओं और फसलों के रखरखाव को भी देखा है। मैंने धार्मिक भावना से बनाई गई पशुशालाओं में पशुओं की दुर्दशा को भी देखा है। मैंने स्कूलों में जाकर शिक्षकों और छात्रों से उनके लक्ष्यों और अनुभवों पर चर्चा की है। भारत के केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों में उठाए जा रहे मुद्दों और उन पर होने वाली बहसों को सुनकर मुझे चुने गए जन-प्रतिनिधियों की मानसिकता को जानने का अवसर मिला है। मैंने अनेक भारतीय राजाओं, नेताओं, शासकों और धर्मगुरुओं से भारत के लोगों की मानसिक और भौतिक स्थिति के बारे में बातें की हैं और उनके दिलचस्प जवाबों का लाभ मुझे अपने भ्रमण के दौरान देश के लोगों के हालात को समझने में मिला है।

और अंत में इस विशिष्ट भारतीय स्पष्टवादिता ने मुझे अंतत: यह सोचने के लिए विवश किया कि अंततोगत्वा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में कदाचित कुछ ऐसे समान तथ्य हैं, जिनके आधार पर आप भारत के बारे में एक आम धारणा बना सकते हैं। इससे भी अधिक मैंने यह देखा कि भारत के बारे में हम केवल उन्हीं विषयों पर आम धारणा बना सकते हैं, जिनमें हम पश्चिम के व्यस्त लोग केवल अपना भला-बुरा देखते हैं।

23 नंबर की गली का जॉन स्मिथ दूसरी गली के पीटर जॉन की वंश-परंपरा, उसके धर्म, उसके दर्शन, विचार और कला की हो सकता है कि कोई परवाह न करे। किन्तु, यदि पीटर अपने जीने की आदतों और सोचने के तरीकों को इस तरह बदल देता है कि उससे न केवल उसके और उसके परिवार के लिए, बल्कि वहां रहने वाले अन्य लोगों के लिए भी खतरा पैदा हो सकता है; तो हर व्यक्ति उस जॉन के बारे में जरूर पूछताछ करेगा।

आधुनिक भारतीय विचारक पूछते हैं– 'ब्रिटिश शासन के इतने लंबे वर्षों के बाद भी क्यों हम अपनी अज्ञानता, अपनी गरीबी और अपनी विकराल मृत्यु दर के लिए जाने जाते हैं? किस अधिकार से हमें ज्ञान, रोटी और जीवन के सुख से वंचित किया जाता है?'

सर चिमनलाल सीतलवाड़ ने अफसोस जताया– 'यह देश जिस रोग से पीड़ित है, वह है उद्यम करने के लिए अग्रसर न होने की प्रवृत्ति, उत्साह और कठिन परिश्रम की कमी।' [2] लेकिन, मि. गांधी कहते हैं– 'ब्रिटिश शासकों पर हमारा आरोप बिलकुल सही है। क्योंकि, हमारी असहाय स्थिति, हमारे आगे न बढ़ने और हमारी मौलिकता की कमी के लिए वे ही जिम्मेदार हैं।' [3]

राजनेता पूछते हैं– 'हमारा उत्साह इतना निष्फल क्यों है? हम अपनी प्रतिज्ञाएं, अपना भ्रातृत्व-भाव और आजादी का लक्ष्य इतनी जल्दी क्यों भूल गए? हमारी मानवता इतनी छोटी क्यों हो गई? हम इतनी जल्दी क्यों थक जाते हैं और क्यों वक्त से पहले जवानी में ही मर जाते हैं?' और वे खुद ही जवाब भी देते हैं– 'हमारे धार्मिक मूल्य विदेशी आघातों से जख्मी और लहूलुहान हो गए हैं और हमारी आत्माएं उनके घमंडी व्यवहार से जहरीली हो गई हैं, जिससे हमारा जीवन सूख-सा गया है। अब कुछ नहीं किया जा सकता। हम केवल राजनीतिक मंच पर चढ़कर अत्याचारी शासक को समाप्त करके ही इस लड़ाई को जीत सकते हैं। अंग्रेजों के जाने के बाद ही हम यहां आजादी से सांस ले सकते हैं और अपनी प्यारी भारत माता की सेवा कर सकते हैं।'

अब मैं पीड़ित लोगों के साथ हार्दिक सहानुभूति रखते हुए इस विषय पर जो मुख्य बात कहने का साहस करना चाहती हूं, वह यह है–

> भारत का अंग्रेजी शासन चाहे अच्छा हो या बुरा, या निष्क्रिय हो; पर ऊपर वर्णित हालात से उसका कुछ भी संबंध नहीं है। इसलिए, वह इसमें कुछ भी नहीं कर सकता है। अकर्मण्यता, जड़ता, आगे बढ़ने में असहाय स्थिति और मौलिकता की कमी; धैर्य, दृढ़ता, उत्साह तथा जीवन-स्फूर्ति की कमी। ये सब एक भारतीय की ऐसी कमियां हैं, जो उनमें आज पैदा नहीं हुई हैं; बल्कि इन कमियों का एक लंबा इतिहास है। ये कमियां उसमें तब तक बनी रहेंगी, जब तक कि वह उनको समझकर अपने दोनों हाथों से उखाड़कर नहीं फेंक देगा। उसकी आत्मा और देह सचमुच गुलामी में बंध चुकी हैं। किन्तु, वह अपनी गुलामी को खुद ही गले से चिपटाकर रखता है और उसकी रक्षा के लिए हिंसा पर उतर आता है। इसलिए उसे उसकी गुलामी से कोई सरोकार नहीं, बल्कि उसकी स्वयं की नई चेतना ही मुक्ति दिला सकती है। अतीत, वर्तमान या भविष्य की अपनी गुलामी के लिए बाहरी तत्त्वों पर आरोप लगाकर वह अपने आपको ही धोखा देता है और इस तरह वह अपनी मुक्ति की अवधि को और आगे बढ़ा लेता है।

एक 12 साल की बाल कन्या को लीजिए, जो अपने हाड़-मांस में अत्यंत दयनीय है; और जो अनपढ़ और अज्ञानी है। उसे स्वस्थ रहने के बारे में कुछ नहीं सिखाया गया है। उसे समय से पहले ही मां बना दीजिए और फिर उसके कमजोर बच्चे को शुरू से ही दूषित वातावरण में रखिए, तो यही होगा कि उसकी जीवन-शक्ति दिन-प्रतिदिन सूखती चली जाएगी। उसे कहीं खेलने नहीं जाने दीजिए और घर में रखकर उसमें ऐसी आदतें डाल दीजिए कि वह 30 वर्ष की आयु में भी झगड़ालू, कमजोर और बूढ़ा हो जाए। तब क्या तुम उससे यह पूछोगे कि उसका पुरुषत्व कमजोर क्यों है?

इसकी विशाल जनसंख्या को ही लीजिए, मुख्य रूप से ग्रामीण जनसंख्या को, जो अनपढ़ है और अपनी जहालत को पसंद करती है। आप इस आबादी को प्राथमिक शिक्षा देने की कोशिश कीजिए और उसकी एक भी स्त्री को शिक्षक मत बनाइए। क्योंकि अगर आपने स्त्री को शिक्षक की नौकरी दी, तो उसे परदे से बाहर आना होगा और तब वह बर्बाद हो जाएगी। क्या तब भी आप यह पूछेंगे कि जनता में शिक्षा की रफ्तार धीमी क्यों है?

अगर लोगों के शरीर और मस्तिष्क इसी तरह से विकसित किए जाएंगे, तो आप यह कैसे पूछ सकते हैं कि उनकी मृत्यु-दर क्यों अधिक है और वे गरीब क्यों हैं?

भारत पर चाहे अंग्रेजों का राज हो या रूसियों का। उस पर जापानी राज करें या देशी राजे-महाराजे ही देश को बांट लें और पुरानी राजशाही को ही जीवित रखें। या कोई स्वराज शक्ति ज्यादा स्वायत्त होकर वर्तमान सरकार की जगह ले ले। लेकिन, जो वास्तविक शक्ति भारत को तेजी से स्वतंत्रता की ओर ले जा सकती है, वह भारत के लोगों की ही शक्ति है। पर इसके लिए जरूरी है कि भारत के लोग बातों में, बहस में और दूसरों पर दोष लगाने में समय नष्ट न करें। बल्कि पूरे उत्साह और दृढ़ संकल्पों के साथ अपने शरीर, अपनी आत्मा और अपने दिमागों में परिवर्तन लाने का काम शुरू कर दें।

मुझे विश्वास है कि यह विषय सामान्य किताबों में नहीं दिया गया है। एक भारतीय इन सबको मिलाकर नहीं देखता है, वह उसके अलग-अलग रूप को जानता है। परंतु, वह उनको एक जगह एकत्र करने और उससे आवश्यक नतीजे निकालने से होने वाली परेशानी से बचना चाहता है। भारत आने वाले यात्री इसे नहीं देख पाते। क्योंकि, उन्हें भारत की बाहरी सुंदरता के सिवाय उसके भीतर के वास्तविक जीवन को देखने का अवसर ही नहीं मिलता। ब्रिटिश अधिकारी विशेष रूप से ऐसे विषयों से खुद भी बचते हैं और दूसरों को भी उसमें नहीं पड़ने देते।

1919 के सुधारों के समय से ही वे अपने रोजाना के कामों में हुक्म देने की बजाय लोगों से समझा-बुझाकर ही काम लेने में विश्वास करते हैं। इसलिए सफलता की आशा भी उन्हें विनम्रता से ही लोगों को समझाने से मिलती है। विदेशी संस्थाएं भी—जो भारतीयों के नैतिक कल्याण के लिए काम कर रही हैं—अक्सर इसी नीति पर काम करती प्रतीत होती हैं। वे भारत के लोगों को अपनी कमजोरियों को दूर करने के लिए कहने की बजाय उन्हें अपने गुणों पर गर्व करने और दूसरों की कमजोरियां दिखाने का काम करती हैं। इस तरह अब वे या तो मौन रहते हैं या चापलूसी करते हैं। इससे आदमी की बीमारी बढ़ती ही जा रही है। या उसका शरीर और दिमाग दोनों मरते जा रहे हैं। इस बीमारी को वह खुद ही ठीक कर सकता है, कोई भी दूसरा नहीं। उसका मित्र ही उसे आईना दिखा सकता है कि उसे कौन-सी बीमार चीज मार रही है।

मुझे खुद इस काम की जिम्मेदारी लेते हुए यह पूरी तरह पता था कि लोग मुझ पर तमाम तरह के इल्जाम लगाएंगे। मसलन—गंदगी फैलाने का इल्जाम, अन्याय करने का इल्जाम, भौतिकवादी होने का इल्जाम, सहानुभूति न रखने का इल्जाम, झूठ बोलने का इल्जाम और संभवत: गंदी बातों का भी इल्जाम। किन्तु इन सारी स्थितियों को देखकर—इस डर से कि इसके परिणाम क्या होंगे—मैं अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हट सकती।

इसलिए, इस किताब के आरंभ में ही मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि मानव जाति के आठवें हिस्से के जीवन और भविष्य के संबंध में मेरे लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण चीज क्या है? आगामी पृष्ठों में उनका व्यापक चित्रण किया जाएगा तथा भारतीय जीवन के कुछ दूसरे पहलुओं पर भी

प्रकाश डाला जाएगा। कोई भी विषय और कोई भी पहलू भारतीय जीवन के आदिम प्रभावों से बच नहीं सकता।

---

[1] रिव्यू ऑफ दि ट्रेड ऑफ इंडिया इन 1924-25, डिपार्टमेंट ऑफ कमर्शियल इंटैलिजेंस एंड स्टेटिस्टिक्स, कलकत्ता, 1926, पृष्ठ-51
[2] लेजिसलेटिव असेंबली डिबेट्स-1925, खंड-6, संख्या-6, पृष्ठ- 396
[3] यंग इंडिया, 25 मार्च 1926, पृष्ठ-112, यह मि. गांधी का साप्ताहिक पत्र है, जिसमें से आगे भी काफी कुछ उद्धृत किया गया है।

अध्याय **2**

गुलाम मानसिकता

मि. गांधी का कहना है– 'जब तक स्वराज [1] नहीं मिलता, तब तक के लिए हमें दूसरी चीजों को टाल नहीं देना चाहिए; वरना स्वराज ही टल जाएगा। स्वराज केवल बहादुर और पवित्र लोगों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।' [2]

किन्तु, आजकल इस पुराने नेता का प्रभाव कम हो गया है। उनकी शिक्षा को कोई नहीं सुन रहा है। प्रत्येक राजनीतिक मंच से भारत माता के लिए प्राण अर्पित करने की आवाजें गूंजती हैं, परंतु भारत के ये सपूत अपनी ही कही बातों पर कोई अमल नहीं करते हैं। भारत माता सचमुच गरीब, रोगग्रस्त, ज्ञानविहीन और असहाय है। किन्तु, उसके योग्यतम बेटे उसे स्वतंत्र कराने में अपनी शक्ति लगाने की बजाय आपस में लड़ने में ही समय नष्ट करते हैं अथवा आलसियों की तरह अपनी खुद की व्यर्थता पर रोते हुए पड़े रहते हैं।

इस बीच लगता है ब्रिटिश सरकार भारत के अपने प्रशासन में लगातार प्रगति कर रही है और यदि इस प्रगति में कोई रुकावट नहीं डाली गई, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि अगले 10 वर्षों में कितनी ज्यादा प्रगति हो जाएगी। बहुत-से स्कूल खुले हैं। अस्पताल बने हैं। बहुत-से राजमार्ग बने हैं। बहुत-से पुल बने हैं। सिंचाई के लिए सैकड़ों मील लंबी नहरें बनी हैं। बहुत-सी मंडियां कायम हुई हैं। हजारों एकड़ बंजर भूमि को खेती के लायक बनाया गया है। बहुत-से कुएं खोदे गए हैं और देश में भोजन और व्यापार के लिए बहुत-से चावल, गेहूं, बाजरा और कपास की पैदावार की गई है।

यद्यपि प्रगति की यह गति देश की विशाल आवश्यकताओं को देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा की प्रगति की तुलना में धीमी है। परंतु इसकी भौतिक प्रगति की गति तभी आगे बढ़ेगी, जब शिक्षित भारतवासी पूरे प्राण-पण से कठिन परिश्रम और स्वस्थ मन से इसके प्रति समर्पित हो जाएंगे। किन्तु, आज भारत के जनप्रतिनिधियों में जनता के प्रति हमदर्दी के जरा भी लक्षण दिखाई नहीं दे रहे हैं। जबकि अंग्रेजी सरकार पर वे निरंतर आरोप लगाते रहते हैं, जो उनकी नापसंद के बावजूद उनकी बूढ़ी भारत माता के सुख के लिए काम कर रही है।

भारत की अनुमानित जनसंख्या 31 करोड़ 90 लाख (उस समय थी) है। [3] भारतीय राजाओं द्वारा शासित भारतीय राज्यों को अलग कर दें, तो ब्रिटिश भारत की जनसंख्या 24 करोड़ 70 लाख है। इस जनसंख्या में भी दो लाख से कुछ ही कम यूरोपियन लोग रहते हैं, जिनमें वायसराय से लेकर उनके स्त्री, पुरुष और बच्चे सब शामिल हैं। इनमें सभी श्रेणियों के ब्रिटिश सेना के अधिकारियों को मिलाकर भी उनकी संख्या 60,000 से भी कम है। ब्रिटिश विभागों में काम करने वाले लोगों की संख्या 3,432 है, जिनमें सिविल सेवा, मेडिकल सेवा, इंजीनियर, वनरक्षक, रेल प्रशासक, टकसाल, धातु-परीक्षक, शिक्षा, कृषि और पशु-चिकित्सा विभागों के विशेषज्ञ शामिल हैं। भारतीय पुलिस सेवा में अंग्रेजों की संख्या लगभग 4,000 है। किन्तु, इस अंतिम संख्या में अधीनस्थ और प्रांतीय सेवा के लोग शामिल नहीं हैं। इनमें यूरोपियन लोगों की संख्या इतनी कम है कि उल्लेखनीय नहीं है।

अत: आज भारत में ब्रिटिश बल का प्रतिनिधित्व इस प्रकार है–

सेना	60,000
सिविल सेवा	3,432
पुलिस	4,000
योग	**67,432**

जिसके बारे में भारत के लोग यह कहते हैं कि इन्हीं के जुल्मों की वजह से 24 करोड़ 70 लाख भारतीयों में दास मानसिकता पैदा हुई है, उनकी कुल स्थानीय संख्या इतनी ही है।

किन्तु, कोई भी इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं करेगा कि अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में हमेशा या तो अराजकता थी या छोटी-छोटी लड़ाइयों और डाकुओं की लूटमार थी। एक राजा दूसरे राजा को लूटता था और वे सब मिलकर जनता को लूटते थे या फिर वह विदेशी शासक का आसान शिकार बन जाता था। यदि कभी कोई एक देशी राजा ऊपर उठता भी था और दूसरे के क्षेत्र पर कब्जा करके अपना क्षेत्र बढ़ा लेता था, तो भी उसका शासन थोड़े ही समय का होता था। पूरे भारत पर किसी एक राजा ने कभी राज नहीं किया। इसलिए बार-बार हमलावर विजेता मध्य एशिया से निकलकर पहाड़ी दर्रे के रास्ते से आकर देश पर हमला बोल देते थे और प्राचीन हिंदू जाति के लोग हर हमले को बिना लड़े ही सह लेते थे और खामोश पड़े रहते थे।

इसके बहुत-से कारण बताए जाते हैं। जैसे— जो दिखाई देता है, वह वास्तव में होता नहीं है; सब भ्रम है, संसार असार है, अनंतकाल तक जीवन स्वप्न है, हिंदू धर्म की इन शिक्षाओं ने हिंदुओं को निर्जीव बना दिया है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदुओं को निकम्मा बनाने में इसी शिक्षा ने अपनी भूमिका निभाई है। किन्तु, फिलहाल हम बौद्धिक अमेरिकन अपने दिमाग से इन चीजों को अलग रखना चाहते हैं और पहले उन विषयों पर विचार करते हैं, जिन पर बहस की गुंजाइश बहुत कम है और जिनकी व्याख्या के लिए हमें किसी भाष्यकार या शब्दकोश की जरूरत नहीं होगी। भारतीय तमाम भौतिक और आध्यात्मिक दुःखों; जैसे- गरीबी, बीमारी, अज्ञानता, राजनीतिक अज्ञानता, उदासीनता, अक्षमता और अपने मन में बैठी हीनता की ग्रंथि का—सामाजिक अपमान की संभावना में भी—हमेशा प्रचार करते हैं, जो चट्टान की मजबूती वाली भौतिक वास्तविकता के आधार पर टिका है। और यही आधार उनके संसार में पैदा होने और वैवाहिक जीवन जीने का ढंग है।

सामान्यत: एक भारतीय लड़की रजस्वला होने के नौ महीने बाद मां बनने के लिए प्रतीक्षा करने लगती है। [4] अर्थात् 14 और आठ वर्ष की आयु के बीच में ही, जबकि आठ वर्ष की तो आयु बहुत ही कम है। हालांकि, कुछ वर्गों में यह भी अपवाद नहीं है। लेकिन, 14 वर्ष की आयु औसत से ऊपर है। अपनी कम आयु और अपने रहन-सहन के कारण और इस कारण भी कि उनसे पीछे की अनगिनत पीढ़ियां इसी तरह पाली

गई हैं, वे मां तो बन जाती हैं। पर उनका शरीर कमजोर ही रहता है। वे पूरी तरह अशिक्षित होती हैं। उनके ज्ञान की सीमा सिर्फ यहीं तक रहती है कि घर के देवताओं की पूजा कैसे की जाए, भूतों के प्रकोप को कैसे शांत किया जाए और अपने पति की किस तरह सेवा की जाए। क्योंकि, उनकी धार्मिक आस्थाओं में उनका पति ही उनका देवता होता है।

अब पति के बारे में सुनिए। वह अपनी पत्नी के साथ पहली बार सहवास करने वाला उसी की उम्र का कोई छोटा बालक भी हो सकता है अथवा कोई 50 साल का विधुर भी हो सकता है। उसे अपने पति वाले अधिकार अवश्य चाहिए। वह अपरिपक्व हो या नि:शेष, किसी भी स्थिति में उसमें स्वस्थ बच्चा पैदा करने की शक्ति नहीं होती है।

इसलिए, वह छोटी मां एक विनाशकारी गर्भ की पीड़ा झेलती है; जिसका अंत उस प्रसव में होता है, जिसकी यातनाओं को अगर विस्तार से न बताया जाए तो आप कल्पना नहीं कर सकेंगे।

अगर बच्चा अपने जन्म की यातना से जीवित बच भी जाता है, तो वह एक कमजोर बच्चा होता है, जिसमें न सही हड्डियां होती हैं और न शरीर में जान होती है। उसमें मैथुन संबंधी रोग का जहर भी भरा होता है, जिसका कभी भी हवा में उड़ते हुए रोगाणु से संक्रमण हो सकता है; तो ऐसी स्थिति में बच्चे की मां के सिवा कोई उसकी देखभाल करने वाला नहीं होता है। पर, वह मां भी सफाई के नियमों से अनजान होती है और पुराने समय के अंधविश्वासों के सहारे रहती है। इसमें उसकी सहायता घर की वे पुरानी औरतें करती हैं, जो उस जैसी ही अज्ञानी और अंधविश्वासों से भरी होती हैं। औरत चाहे उच्च जाति की हो या निम्न जाति की, सामाजिक व्यवस्था में उसका स्थान बच्चा पैदा करने वाली स्त्री का ही है। इसलिए, उसकी रुचि भी जीवन में मां बनने की ही रहती है और वही उसकी बातचीत का विषय रहता है। इसलिए, बच्चा घर में ही बड़ा होता है और जबसे वह बोलना और चलना-फिरना सीखता है, तबसे वह यौन-संबंधों को ही सीखता है।

हिंदुओं के महान देवता 'शिव' हैं; जिसकी मूर्ति सड़कों के किनारे, मंदिरों में, घरों में, गले के तावीजों में, सब जगह होती है। यह मूर्ति सब जगह पुरुष लिंग के रूप में है, जिसकी पूजा रोज भक्तजन करते हैं। विष्णु के अनुयायी दक्षिण में सबसे ज्यादा हैं और वे बचपन से ही अपने मस्तक पर शिवलिंग का चिह्न लगाते हैं। [5] यद्यपि, यह माना जाता है कि इन और इन जैसे अन्य प्रतीकों के प्राचीन आविष्कार उनके आध्यात्मिक विकास और साधना में उनकी सहायता करने के लिए किए गए थे। लेकिन, देवी-देवताओं के संभोग के विस्तृत वर्णन भजनों या स्तोत्रों में मौजूद हैं। यही चिह्न उनको यौन-संबंध का शाब्दिक अर्थ बताते हैं और साधारण लोगों के दिमाग में वैसा करने के संकेत को धार्मिक स्वीकृति भी मिल जाती है। [6]

एक आधुनिक लिंगोपासक आध्यात्मिक गुरु कहते हैं– 'बेवकूफ लोग न समझते हैं और न कभी समझेंगे। क्योंकि, वे इसके केवल शारीरिक पक्ष को देखते हैं।' [7] किन्तु, इस गुरु की निंदा के बावजूद भारत में व्यावहारिक रूप से सब-कुछ देखने के बाद आम निष्कर्ष यह है कि सिर्फ बुद्धिमानों के लिए बना यह धर्म अधिकांश लोगों को अपने हाल पर छोड़ देता है। और यदि यौन प्रतीक न भी होते, तो भी वे मंदिर की दीवारों पर, मंदिर के रथों पर, महलों के दरवाजों पर तथा सड़कों के किनारे दीवारों पर बने भित्ति-चित्र यौन-क्रीड़ा के दृश्यों का ही प्रदर्शन करते हैं। और घर में रहने वाली औरतों के होठों पर शृंगार के गीत रहते हैं। संक्षेप में यह कि संपूर्ण मानव जगत के ये क्रिया-कलाप बच्चे के दिमाग में वह सब भर देते हैं, जो ये चित्र दिखाते हैं।

यह सच है कि 12 सितंबर 1923 को जिनेवा में अश्लील साहित्य के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता हुआ था, जिसके अनुसार भारतीय विधायिका ने बाकायदा भारतीय दंड संहिता और अपराध प्रक्रिया संहिता में संशोधन किया था। इस संशोधन में उन लोगों के लिए दंड का प्रावधान किया गया है, जो किसी भी तरह की अश्लील सामग्री, किताब, प्रस्तुति या चित्र को बेचता है। किराए पर देता है। बांटता है। खुलेआम दिखाता है। सूचित करता है या उससे लाभ प्राप्त करता है। इस संशोधन का मुसलमानों ने स्वागत किया था, पर हिंदू इसके विरोध में थे। क्योंकि, अगर यह पास हो जाता तो हिंदू धर्म से जुड़े विषयों, उसकी प्राचीन परंपराओं तथा प्रथाओं और हिंदुओं के प्रिय पुरोहितों के विशेषाधिकारों के लिए तबाही आ सकती थी। इसलिए भारतीय विधायिका ने—जिसमें अधिकांश हिंदू प्रतिनिधि हैं—इस संशोधन में हिंदुओं के हित में यह आपत्ति जोड़ दी– [8]

> 'यह धारा ऐसी किसी किताब, पम्फलेट, लेख, चित्र या पेंटिंग पर लागू नहीं होगी, जो वास्तव में धार्मिक कार्य के लिए है या उसका धार्मिक कार्य में प्रयोग हो। और न यह उस मूर्ति या चित्र पर लागू होगी, जो किसी मंदिर पर या उसके भीतर या देवताओं की मूर्तियों को लाने-ले जाने वाले किसी वाहन पर बना होगा।'

देश के बहुत से भागों में—चाहे उत्तर हो या दक्षिण—किसी छोटे लड़के को उसकी शारीरिक सुंदरता के साथ इस तरह तैयार किया जाता है कि उसके आकर्षण का उपयोग या तो प्रौढ़ पुरुषों की अप्राकृतिक काम-संतुष्टि के लिए किया जाए। या फिर उसे वेश्यावृत्ति वाले किसी मंदिर से जोड़ दिया जाए। और इसमें उसके माता-पिता को कुछ भी बुराई नजर नहीं आती है। बल्कि, वे उलटे इस बात से खुश होते हैं कि उनका बेटा दूसरों के लिए आकर्षक बन गया है।

यह कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसके स्रोत केवल निम्न श्रेणी के लोग या मूर्ख ही हैं। वास्तव में उनके अच्छा-बुरा देखने और हमारे अच्छा-बुरा देखने में बहुत अंतर है। एक मां—वह चाहे उच्च जाति की हो या निम्न जाति की—यही चाहती है कि लड़की को ठीक से नींद आ जाए और उसका लड़का मर्द बनने के लिए हस्तमैथुन करे। और कम-से-कम उस लड़के की हस्तमैथुन की यह आदत जीवन-पर्यंत तो बनी ही रहेगी।

इस अंतिम बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए। वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारियों ने दूर-दूर तक के तमाम श्रेणियों के लोगों का परीक्षण करके इस बात को प्रमाणित किया है कि प्रत्येक बच्चे में—किसी भी कारण से—बचपन की गंदी आदत मौजूद है। बचपन के दौरान उसके शारीरिक प्रभावों के संबंध में किसी की कुछ भी राय हो सकती है। पर उसके प्रभाव से जो समय से पहले ही अपरिपक्व विचारधारा बनती है, उसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। और जब वह परिपक्व जीवन में आता है, तो शरीर और नसों का ह्रास उसको बेकार कर देता है।

कुछ लोग प्राचीन हिंदू धर्म-ग्रंथों से हवाला देकर साबित करते हैं कि मूल शास्त्रों में अवयस्कों के विवाह का समर्थन नहीं किया गया है। इस पर खूब बहस होती है और खूब उद्धरण दिए जाते हैं। उद्धरण के विरुद्ध भी उद्धरण दिए जाते हैं। पंडितों में असहमतियां हैं। पर, जिस तरह वे अपनी दलीलों में संशय का कुहासा हटाते हैं, उससे रोज की हकीकत नहीं छिप सकती।

हिंदू प्रथा के अनुसार, आदमी को जितनी जल्दी हो सके एक वैध पुत्र चाहिए। उसके अंतिम समय में उसके पास उसका पुत्र ही होना चाहिए। क्योंकि, पुत्र ही पिता के मरने के बाद उसका अंतिम संस्कार करता है और जलती चिता में उसके कपाल को फोड़ता है; जिससे उसकी आत्मा मुक्त हो जाए। इस वजह से और अपनी प्रवृत्ति की वजह से भी एक औसत लड़का जब संभोग शुरू करता है, तब वह इस कार्य के लिए

शारीरिक रूप से सक्षम नहीं होता है। इसलिए, वह न ही आदतन और न ही आम लोगों की राय में अपनी काम-वासना को अपनी पत्नी या पत्नियों तक सीमित रख पाता है। इसे न तो वह जरूरी समझता है और न अन्य लोग समझते हैं।

मि. गांधी ने लिखा है कि वह अपनी पत्नी के साथ 13 साल की आयु से इसी तरह रह रहे थे। वे यह भी लिखते हैं– 'अगर वह अपने भाई के विपरीत, स्कूल जाने के लिए हर दिन एक निश्चित अवधि के लिए उसे नहीं छोड़ते, तो या तो वह बीमार होकर अकाल मौत मर गए होते या उनकी जिंदगी बोझिल बन गई होती।' [9]

पश्चिम के आधुनिक विचारों के प्रभाव में बाल-विवाह के विषय पर–इधर कुछ वर्षों में–बहुत ज्यादा विचार हुआ है और भारतीय मस्तिष्क में उसकी चिंता की रेखाएं भी साफ दिखाई दे रही हैं। किन्तु, व्यवहार में इस पर अभी भी अमल नहीं मिलता है और रूढ़िवादी हिंदू आज भी अपनी प्राचीन प्रथा के पक्ष में दृढ़ता से लड़ते हैं।

हिंदू आचार संहिता में किसी भी तरह का आत्म-संयम बरतने का जरा भी आदेश नहीं दिया गया है और यौन-संबंधों में तो एकदम ही नहीं। एक प्रतिष्ठित हिंदू बैरिस्टर ने कहा– 'मेरे पिता ने मुझे बचपन से ही संक्रमण से बचना सिखाया था।'

मैंने कहा– 'क्या यह बेहतर नहीं होता कि वह आपको आत्मसंयम सिखाते?'

'ओह! किन्तु हम जानते हैं कि वह असंभव होता।'

एक समुदाय के गुरु और मशहूर हिंदू महात्मा ने मुझे समझाया– 'ऐसे मामलों में किसी भी पहलू से पुण्य और पाप के सवाल को नहीं जोड़ा जा सकता। मैं उस काम से निबटकर उसको तुरंत भूल जाता हूं। मैं इसे इसलिए करता हूं, ताकि मेरी पत्नी दुःखी न हो; जो मुझसे कम समझदार है। इसे करने या न करने का कोई अर्थ नहीं है। यह केवल माया का संसार है।'

इस विवरण से यह जानकर थोड़ा आश्चर्य होगा कि पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक एक औसत दर्जे का हिंदू पुरुष अपनी अनियंत्रित काम-वासना के कारण 30 वर्ष की आयु में ही बूढ़ा हो जाता है और ऐसे हर 10 पुरुषों में सात-आठ पुरुष 25 और 30 वर्ष की आयु में नपुंसक हो जाते हैं। ये आंकड़े निराधार नहीं हैं, बल्कि ऊपर दी गई शर्त के सिवाय पूरी तरह सही हैं। खेत जोतने वाला किसान अपनी गरीबी और श्रम करते रहने के कारण साधन-संपन्न या शहर में रहने वाले लोगों के मुकाबले इस स्थिति से बचा रहता है। इसका प्रमाण भारतीय अखबारों में छपने वाले विज्ञापन हैं, जो इस पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। आपको उनमें जादुई और बलवर्धक दवाइयों के विज्ञापन भरे नजर आएंगे। किसी का शीर्षक होगा– 'केवल राजाओं और रईसों के लिए।' तो किसी का होगा– 'साधारण पुरुषों के लिए', जिनमें लिखा होता है– 'केवल एक रुपए [10] में अपने क्षीण अंग को 32 खम्भों की ताकत दो।'

अकेले पंजाब में 29 दिसंबर 1922 और 4 दिसंबर 1925 के बीच सरकार ने अलग-अलग 11 देशी अखबारों पर अश्लील विज्ञापनों के लिए मुकदमा चलाया। इनमें सात हिंदू अखबार, तीन मुस्लिम अखबार और एक सिख अखबार था। उन पर 25 से 200 रुपए तक जुर्माना लगाया गया था और एक मामले में 90 दिन के कठोर कारावास की सजा भी दी गई थी। यहां यह बात भी बाकायदा ध्यान में रखनी चाहिए कि ऐसे मुकदमे वहां नहीं हुए हैं, जहां विज्ञापन में शारीरिक वर्णन साधारण और शालीन भाषा में किया गया है।

इन 11 मुकदमों के बाद सरकार ने सभी संपादकों को प्रेस-सूचना जारी की कि ऐसे अश्लील विज्ञापनों के प्रकाशन पर, उन पर भारी जुर्माना लगाया जा सकता है तथा उन्हें इस तरह के विज्ञापन प्रकाशित करने से पूर्व उनके बारे में अच्छी तरह से जांच-पड़ताल करने की सलाह दी गई। इस सुझाव पर 'ब्राह्मण समाचार' [11] ने यह विचार छापा–

> 'सरकार चाहती है कि ऐसे विज्ञापन न छापे जाएं और संपादक छापने से पहले उनकी जांच कर लें। किन्तु, अगर सूचना विभाग स्वयं ही अश्लील विज्ञापनों को तैयार करके अपनी रिपोर्ट के साथ भेजेगा, तो यह ज्यादा बेहतर होगा। क्योंकि, इससे विषय की सामग्री और उसके लिखने के ढंग का ज्ञान हो सकेगा।'

यह सच है कि मि. गांधी ने अपने समाचार पत्र में इन चीजों को नापसंद किया है। वे लिखते हैं– 'दवाइयां और मशीनी आविष्कार, शरीर को सहन करने योग्य बना सकते हैं; परंतु मस्तिष्क को कमजोर कर देते हैं।' [12]

लेकिन, आम लोगों के दृष्टिकोण से अलग एक खास बात भी देखने को मिली। एक उच्च प्रतिष्ठित हिंदू ने अपनी बेटी के विवाह से पूर्व, अपने होने वाले दामाद से ब्रिटिश डॉक्टर का प्रमाणित किया हुआ यह प्रमाण-पत्र लाने को कहा कि उसे कोई यौन-संक्रमण नहीं है। इसका मतलब साफ है कि बांझ स्त्री अपने माता-पिता को ही परेशानी में डालती है। स्त्री जब बांझ होती है, तो आमतौर पर स्त्री को ही उसका दोषी माना जाता है; जबकि अक्सर पति की अक्षमता के कारण स्त्री बांझ होती है। इस दृष्टि से वह पिता केवल अपनी बेटी के लिए व्यावहारिक सावधानी बरत रहा था। क्योंकि, वह यह नहीं चाहता था कि उसकी बेटी को दोषी बताकर घर से निकाल दिया जाए और उसे वापस पिता के यहां आना पड़े। कोई भी इस तरह की बीमारी को बुरा नहीं कहता और जनता की आम राय भी इसके खिलाफ नहीं है।

किन्तु, यदि बहुत दिनों तक पत्नी को बच्चा नहीं होता है–वह चाहे किसी भी हिंदू की पत्नी हो–तो हिंदू पति के पास एक अंतिम उपाय होता है कि वह अपनी पत्नी को भेंट का सामान देकर किसी मंदिर की यात्रा पर भेज सकता है। कुछ जातियों में तो समय बचाने के मकसद से शादी के बाद पहली रात को ही पत्नी को मंदिर भेजने की बात कही जाती है। वह स्त्री मंदिर जाकर, दिन में भगवान से पुत्र के लिए प्रार्थना करती है और रात में मंदिर के अंदर ही सो जाती है। सवेरे वह पुजारी को अपनी व्यथा सुनाती है कि रात के अंधेरे में कौन उसके पास आकर सोया था। पुरोहित उससे कहता है– 'ऐ सौभाग्यवती! स्तुति करो। वह देवता थे।'

इसके बाद वह स्त्री घर वापस लौट जाती है।

यदि उसे बच्चा होता है और वह जीवित रहता है, तो साल भर बाद वह फिर चढ़ावा और साथ में बच्चे के सिर के उतरे बाल लेकर मंदिर जाती है। [13]

आजकल मंदिरों में आने वाले लोग कभी-कभी एक वृक्ष की शाखाओं पर सैकड़ों चीथड़े सरीखी मटमैली पोटलियां लटकी हुई देखते हैं। उस वृक्ष की जड़ के पास इंसानी बालों से बनी एक मोटी चटाई पड़ी होती है। यह देवता का वृक्ष है, जिससे मन्नत मांगी जाती है। यह देवता के महात्म्य को प्रकट करता है। मंदिर की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए, उसके पुरोहितों का चयन बहुत सावधानी से बलिष्ठ भाइयों में से किया जाता है।

हालांकि, हर व्यक्ति इसके बारे में सब कुछ समझता है। फिर भी उसमें श्रद्धा का यह भाव बना रहता है कि उससे उसका परिवार खुश रहता है।

इस विषय में यह कहना काफी होगा कि हिंदुओं की यह स्थिति उनकी गुलाम मानसिकता को प्रमाणित करती है।

इसी से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि हिंदुओं में कोई सच्चा और स्थिर नेता क्यों नहीं पैदा होता? क्या कारण है कि समय-समय पर नेता बनने की आंकाक्षा रखने वाले ऐसे लोग हमेशा थोड़े समय तक ही अपने अनुयायियों के चंचल दिमागों को काबू में रख पाते हैं?

भारतीय जनता कुछ हद तक इस स्थिति को समझती है, पर कोई बिरले ही उसकी जड़ में जाता है। इसलिए न वह उसके पूर्ण महत्व को पहचानता है और न उसके परिणामों को उससे जोड़कर देख पाता है। वह बार-बार निराश होकर पूछता है– 'हमारे ये श्रेष्ठ नेता, जिनको हमारा मार्ग-दर्शन करना चाहिए, जवानी में ही क्यों मर जाते हैं?' और इसका एक ही जवाब हो सकता है– 'कर्म, किस्मत यानी एक रहस्यपूर्ण भाग्य।'

एक हिंदू डॉक्टर हरिप्रसाद कहते हैं– 'हमारे देशवासियों का औसत जीवन 23 वर्ष है।' [14] और वह उसका दोष खराब सफाई व्यवस्था को देते हैं। एक दूसरे भारतीय सज्जन मणिलाल सी. पारेख हैं, [15] जिनका विचार है कि तपेदिक का रोग भयानक रूप से बढ़ रहा है। यह रोग लोगों के कमजोर शरीरों और उनकी गंदी आदतों के कारण उनमें फैल रहा है। पर वह कहते हैं कि अभी इस रोग और इससे होने वाली मृत्यु दर की वृद्धि के कारणों के बारे में सोचने की जरूरत नहीं है। वह यह कामना करते हैं कि भारत को शीघ्र 'स्वराज' मिल जाए, ताकि इस देश के लोग इस विशाल समस्या को हल कर सकें।

इस प्रकार ये लोग अभी भी अपना दोष दूसरों पर डालने और सच्चाई से भागने की कोशिश करते हैं।

एक और प्रतिष्ठित ब्राह्मण डॉक्टर ने–जो बंबई में फिजीशियन और पैथोलॉजिस्ट हैं–मुझे ये अपने मूल्यवान विचार बताए हैं–

> 'मेरे देश के लोगों की मानसिक और भौतिक गरीबी का कारण यह है कि वे अपनी शारीरिक मर्यादा में नहीं रहते हैं। इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे लोगों का स्वास्थ्य इसलिए निरंतर गिरता जाता है, क्योंकि उनमें एकाग्रता की प्राकृतिक शक्ति तथा लक्ष्य के लिए आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तथा परिश्रम का अभाव है और वे विषय-भोगों में ही अपनी संपूर्ण ऊर्जा खर्च कर देते हैं।'

एक बार फिर हम उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। उन लोगों को लीजिए, जिनके शरीर का संसार में प्रवेश करने से पहले ही दिवाला निकल चुका है। वे उस नस्ल से हैं, जो दिवालिया नस्लों में भी दिवालिया है। फिर बचपन से ही उन्हें ऐसे प्रभावों और प्रथाओं में पालिए, जो उनके जीवन को निगल जाएं। जवान होने पर उन्हें एक बेलगाम जीवन दे दीजिए, जिसमें वे अपनी संपूर्ण रचनात्मक ऊर्जा बेरोकटोक एक ही दिशा में खर्च कर दें। और उस अवस्था में जब अंग्रेज और अमेरिका के लोग अपने मनुष्यत्व के पूर्ण गौरव पर पहुंचते हैं। तब उन्हें टूटी हुई नसों वाला, बेजान, चिड़चिड़ा और बूढ़ा बना दीजिए। क्या आपको यह पता लगाने की जरूरत नहीं है कि किन कारणों से वे गरीब हैं, बीमार हैं; अकाल मौत मर रहे हैं और उनके हाथ इतने कमजोर और कांप क्यों रहे हैं कि शासन की बागडोर नहीं पकड़ सकते?

---

[1] सेल्फ गवर्नमेंट, यंग इंडिया, 19 नवंबर 1025, पृष्ठ-399
[2] वही
[3] दि इंडियन ईयर बुक, टाइम्स प्रेस (बंबई), 1926, पृष्ठ-13
[4] सी.एफ. पोस्ट, पृष्ठ-44
[5] कभी-कभी इस प्रतीक या चिह्न की मजेदार व्याख्या भी की जाती है।
[6] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरिमॅनीज, आबे जे.ए. दुब्वा, क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1924, पृष्ठ-111, 112 व 628 से 631 आदि।
[7] भक्तियोग में स्वामी विवेकानंद, रोनाल्ड शय के अर्ल की पुस्तक 'दि हार्ट ऑफ आर्यावर्त' का अध्याय-13 'कांस्टेबल एंड कंपनी' लंदन, 1925 भी देखिए।
[8] देखिए–इंडियन पैनल कोड, एक्ट नं.-8, 1925, भाग-292
[9] यंग इंडिया, 7 जनवरी 1926
[10] रुपए का बजार मूल्य अन्य अंतर्राष्ट्रीय विनिमय के साथ बदलता रहता है। संयुक्त राज्य की मुद्रा में एक रुपए का मूल्य 33.33 सेंट है और 3 रुपए एक डॉलर के बराबर हैं।
[11] लाहौर का हिंदू समाचार पत्र, अंक, 16 फरवरी 1926
[12] यंग इंडिया, 2 सितंबर, 1926, पृष्ठ-309
[13] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, पृ- 503, 504
[14] यंग इंडिया, 5 नवंबर 1925, पृष्ठ-375
[15] सर्वेंट्स ऑफ इंडिया, 8 अप्रैल 1926, पृष्ठ-124

अध्याय 3

कंचे और लट्टू

अगर हम बाल-विवाह के विषय में भारत सरकार के रुख का अध्ययन करें, तो यह बात सामने आती है कि उसके द्वारा प्रगति और परिवर्तन की दिशा में निरंतर लोगों को समझा-बुझाकर काम करते हुए, हमेशा दो चीजों का ध्यान रखा जाता है–एक, जहां तक हो सके धर्म के मामले में हस्तक्षेप करने से बचा जाए और दूसरा, ऐसे कानून को स्वीकृति देने से बचा जाए, जिसे लागू नहीं कराया जा सकता। धार्मिक श्रद्धा और ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों के विषय में भारतीय लोगों की मान्यताओं का विरोध करने का परिणाम यह हुआ है कि वे पागल हो गए हैं और दंगा तथा रक्तपात करने पर उतर आए हैं। इसलिए, कम-से-कम भारत जैसे देश में ऐसे कानून को लागू करना–जिसका पालन करना या न करना उसमें रहने वाले लोगों पर निर्भर करता है–लगभग असंभव है।

भारतीय और ब्रिटिश दोनों अधिकारी इस बात पर एकमत हैं कि विवाह के लिए लड़कियों की आयु बढ़ाने से संबंधित कोई भी नया कानून आज हिंदुओं को स्वीकार नहीं होगा। इसलिए, उनका विचार था कि भारत के लोगों की इस मन:स्थिति को देखते हुए, वे अधिक-से-अधिक विवाहित दंपति में सहवास की आयु बढ़ाने की ही आशा कर सकते हैं। इस दिशा में एक कदम 1891 में उठाया गया था, जब सरकार ने कुछ प्रगतिशील भारतीयों के समर्थन से रूढ़िवादी हिंदुओं के साथ–जिन्होंने सरकार पर हिंदुओं की सर्वाधिक पवित्र बाल-विवाह संस्था की हत्या करने का आरोप लगाया था–एक बड़ी लड़ाई लड़ने के बाद 10 वर्ष की आयु को 12 वर्ष करने में सफलता प्राप्त की थी। बाद की विधानसभाओं में इस प्रश्न पर फिर से संघर्ष शुरू हो चुका है। गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों ने विवाह की आयु में और वृद्धि करने संबंधी बिल प्रस्तुत किए हैं। पर, जैसा कि हमेशा होता रहा है कि किसी-न-किसी चरण में जाकर रूढ़िवादियों के बहुमत से ये बिल पास नहीं हो सके हैं।

ऐसे अवसरों पर वायसराय की सरकार का रवैया यह रहा है कि उसने मुख्य विषय का हमेशा समर्थन किया है। परंतु, इस तरह के कानून बनाने में उसने सदैव सावधानी बरती है। क्योंकि, वह जनता की राय में कानून की बदनामी नहीं चाहती। ऐसा करना उसके लिए इसलिए और भी आवश्यक हो गया। क्योंकि, आमतौर पर भारतीय नेता की यह आदत बनी हुई है कि वह केवल कानून पास कराकर ही संतुष्ट हो जाता है। पर, उस कानून का जनता से अमल कैसे कराया जाए? इस विषय में वह अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता। अत: यह अस्वाभाविक नहीं है कि सरकार के इस व्यवहार से कोई भी खुश नहीं है। एक ओर उस पर सदियों की धार्मिक आस्थाओं को नष्ट करने के आरोप लगाए जाते हैं, तो दूसरी ओर इससे भी ज्यादा कटु, लेकिन विपरीत परिणाम वाले आरोप लगाए जाते हैं।

विधानसभा में एक रूढ़िवादी ब्राह्मण सदस्य ने चिल्लाकर पूछा– 'आपको पुरुष से पत्नी को अलग करने का क्या अधिकार है? आप हमारे प्राचीन विश्वासों और परंपराओं पर हमला कर सकते हैं, पर हम आपका अनुसरण नहीं करेंगे।' [1] इसी तेवर के साथ एक दूसरे सदस्य ने कहा– 'ऐसा लगता है कि भारत सरकार का हर अंग्रेज व्यक्ति दूसरे लोगों (भारतीयों) की प्रगति में बाधाएं डाल रहा है।' [2]

इस तरह की बहसों से इस संपूर्ण विषय पर जनता की राय का अच्छा खासा पता चल जाता है। लगता है कि ये सदस्य अपने समाज की स्थितियों से अच्छी तरह परिचित हैं। पर फर्क सिर्फ इतना है कि इन स्थितियों पर कोई ज्यादा जोर देता है और कोई कम।

जालंधर से सांसद राय बहादुर बख्शी, सोहन लाल ने विवाह के लिए सहमत आयु 14 वर्ष करने के लिए गैर-सरकारी संशोधन बिल प्रस्तुत करते हुए यह तर्क दिया– [3]

> 'इस देश में उच्च वर्गों में नवजात बच्चों और युवा पत्नियों की अकाल मृत्यु की ऊंची दर लड़कियों की उस गर्भावस्था की वजह से है, जिनके यौवन की दहलीज पर पहुंचने से पहले ही या उसके शारीरिक अंगों का पूर्ण विकास होने से पूर्व ही उनके साथ सहवास किया जाता है और वे गर्भवती हो जाती हैं। शरीर के विकसित होने से पूर्व किए गए सहवास का परिणाम यह होता है कि न केवल लड़की का स्वास्थ्य कमजोर रहता है, बल्कि उसके बच्चे भी कमजोर और बीमार पैदा होते हैं। और इनमें से अधिकांश साधारण किस्म की या मौसमी बीमारी का भी सामना नहीं कर पाते। कुछ बच्चे तो पैदा होते ही और कुछ शिशु अवस्था में ही मर जाते हैं। यदि वे जीते भी हैं, तो उन्हें जीवित रखने के लिए हमेशा चिकित्सा और दवाइयों की जरूरत पड़ती है।'
>
> 'दूसरे शब्दों में- वे बच्चे अपने परिवार और अपने देश का भला करने से ज्यादा डॉक्टरों का भला करते हैं। वे न अच्छे सैनिक बन सकते हैं और न अच्छे नागरिक; न घर के बाहर काम कर सकते हैं और न घर के भीतर। वे न शत्रु पर हमला करने के लिए उपयुक्त हो सकते हैं और न शत्रुओं या चोर-डाकुओं से अपने आप को बचाने में समर्थ हो सकते हैं। [4] संक्षेप में उनका जन्म समाज को कुछ भी लाभ पहुंचाए बिना उनके माता-पिता के स्वास्थ्य और धन दोनों की बर्बादी का कारण बनता है। अधिकांश पति ऐसी स्थितियों में कई बार विवाह करते हैं। क्योंकि, उनसे पैदा होने वाले बच्चे अधिक समय तक जीवित नहीं रहते और उनकी पत्नियां भी कम आयु में ही मर जाती हैं।'

इस तरह की अनेक बहसों से पता चलता है कि अधिकांश भारतीय सदस्य सैद्धांतिक रूप से तो इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब तक लड़की का शरीर पूर्ण विकसित न हो जाए, उसे मां बनने से रोकना चाहिए। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि अपरिपक्व आयु में लड़की का विवाह रोके बिना ऐसा कर पाना असंभव है। परंतु, वे एक स्वर से इसे असंभव भी मानते हैं, जिसके वे तीन कारण बताते हैं–

पहला, क्योंकि इसमें प्राचीन धार्मिक प्रथा बाधक है। जैसे- हिंदुओं में लड़की का विवाह-पूर्व रजस्वला होना। यद्यपि यह एक सामान्य बात है, पर यदि उसे धार्मिक नहीं, तो सामाजिक पाप माना जाता है। [5]

दूसरा, क्योंकि पिता अपनी पुत्री को इस डर से घर में रखने का साहस नहीं करता है कि कहीं कन्यादान से पहले ही उसका शील भंग न हो जाए। और इस अनैतिक कार्य की आशंका संयुक्त परिवारों में–जहां अनेक पुरुष और लड़के, भाई, भतीजे, चाचा एक ही छत के नीचे रहते हैं–विशेष रूप से रहती है।

तीसरा, क्योंकि मां-बाप लड़की के रजस्वला होने के बाद–उसकी कामवासना को अतृप्त रखते हुए–घर में रखने का साहस नहीं करते हैं।

इन तीन खतरों को ध्यान में रखते हुए मद्रास के विद्वान ब्राह्मण सदस्य दीवान बहादुर टी. रंगाचारी ने 1925 के गैर-सरकारी बिल का प्रचंड विरोध किया, जिसमें विवाह की सहमत आयु बढ़ाकर 14 वर्ष कर दी गई थी। उन्होंने कहा– 'यदि यह कानून लागू हो गया, तो पिता को अपनी लड़की को उसके पति से दूर रखने के लिए उसे जनाना में भेजना पड़ जाएगा।' इस मद्रासी सदस्य ने निम्न शब्दों में चेतावनी दी– [6]

> 'हमारे देश में 12 और 14 वर्ष के बीच की लड़कियों की स्थिति का स्मरण कीजिए। क्या हमारे घरों में हमारी लड़कियां नहीं हैं? क्या हमारे घरों में हमारी बहिनें नहीं हैं? इसे याद रखिए और अपने पड़ोसियों को याद रखिए। हमारी आदतों, हमारे रीति-रिवाजों, हमारे युवाओं की शीघ्र प्रौढ़ता, हमारी आबोहवा और देश की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मैं इस विषय पर आपसे सही निर्णय लेने की प्रार्थना करता हूं।'

एक अन्य ब्राह्मण सदस्य ने भी तीव्र विरोध करते हुए कहा– [7]

> 'इस देश में स्त्रीत्व की जो परंपरा है, वैसी स्त्रीत्व की परंपरा अन्य किसी भी देश में नहीं है। स्त्रीत्व का हमारा आदर्श यह है कि हमारी स्त्रियां पतियों का आदर करती हैं। उन्हें मां का दूध पीने के समय से ही सिखाया जाता है कि उनके पति ही पृथ्वी पर उनके भगवान हैं। एक ब्राह्मण बालिका-पत्नी के लिए सारे समाज सुधारकों से ज्यादा उसका पति ही महान, सच्चा और हितैषी है।'
>
> 'आपको हमारी इस प्राचीन वैवाहिक संस्था की पवित्रता और उदात्त परंपरा में हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है? आपके इस कानून का उद्देश्य क्या है? क्या आप भारत की स्त्रियों को बलवान और उनके बच्चों को भीमकाय बनाना चाहते हैं? लेकिन याद रहे कि ऐसा करने की कोशिश में आप अन्य बहुत-सी बुराइयों को पैदा कर देंगे, जो इससे भी बदतर होंगी। आप लड़कियों के स्वास्थ्य की रक्षा अवश्य करें, परंतु उन्हें वह संस्कार और वह शिक्षा देना बंद न करें, जिसमें वे अपने पति को भगवान के रूप में देखती हैं। क्योंकि, यह शिक्षा सिर्फ भारत के हिंदुओं में ही है। अत: मैं विनती करता हूं कि आप हमारे घरों को बर्बाद न करें।'

सलेम और कोयम्बटूर से सदस्य मि. शामू खान चेट्टी ने इस दलील के साथ इसका जवाब दिया– [8]

> 'अगर अपराध से पहले तथाकथित विवाह का संस्कार हो जाता है, तो उससे वह अपराध जायज नहीं होता है और न जायज ठहराया जा सकता है। मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि यदि आपने किसी नरभक्षी से यह पूछा कि वह नरभक्षी क्यों बना है, तो वह भी इस घृणित कार्य के लिए अपने धर्म का हवाला देगा।'

और कलकत्ता से भारतीय ईसाइयों के प्रतिनिधि डॉ. एस.के. दत्ता ने कहा– [9]

> 'अगर कोई मनुष्य का बनाया हुआ कानून है, तो उसमें छोटी-छोटी लड़कियों को जबरदस्ती मां बनने के लिए मजबूर करने वाला कानून भी है।'

अंतत: विवाह की सहमत आयु 14 वर्ष करने वाला वह कानून पारित नहीं हो सका। पर हकीकत में उसे सार्वजनिक असंतोष के तूफान में दफन होना पड़ा। अगली असेंबली में वायसराय की सरकार के नेता सर अलेक्जेंडर मुडीमैन ने गतिरोध को खत्म करते हुए एक ऐसा सरकारी बिल प्रस्तुत किया, जो रूढ़िवादी हिंदुओं को भी स्वीकार हो सकता था। इस बिल में सहवास की आयु वैवाहिक अवस्था में 13 वर्ष और अवैवाहिक अवस्था में 14 वर्ष निर्धारित की गई थी और यह बिल 1925 के अधिनियम-29 के रूप में पारित हो गया।

इस बिल पर भी जो बहस असेंबली में हुई, उससे एक बार फिर भारतीयों के विचारों का परिचय मिला।

कुछ वक्ताओं ने कहा कि जनता के विचारों में परिवर्तन की बेहतर आशा उसी तरह की जा सकती है, जिस तरह विभिन्न जातियों, पार्टियों और समितियों के लोगों के विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है। उन्होंने इस कानून को बुरा, निरर्थक और अनुपयोगी बताया तथा इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि संपूर्ण भारत में फैले हुए रूढ़िवादी हिंदू बाल-विवाह को रोकने वाले इस कानून को अपने धर्म के खिलाफ युद्ध के रूप में समझेंगे और उसका उल्लंघन करेंगे।

इसी तरह यह भी कहा गया कि अगर बालिका वधू की उसके बचपन में रक्षा करने का प्रयास किया गया, तो उसे भी पवित्र विवाह-संबंध पर हमला माना जाएगा। उसे लागू करना असंभव होगा और उसका परिणाम खून-खराबा और अराजकता होगा।

पर, यह सच है कि अजमेर-मारवाड़ा के राय साहब एम. हरबिलास शारदा ने यह कहा– [10]

> 'जहां सामाजिक या धार्मिक प्रथाएं हमारी मनुष्यता पर आघात करती हों और असहाय लोगों पर अन्याय करती हों, वहां उसे रोकने का कानून ही एक सही कदम है। तीन या चार वर्ष की कन्या से विवाह करना और नौ या 10 वर्ष की उम्र में उसके साथ सहवास करने की अनुमति देना- वह कहीं पर भी हो -मानवीय भावना के साथ अत्याचार है।'

किन्तु इलाहाबाद के पंडित मदन मोहन मालवीय का विचार कुछ अलग ही था। उन्होंने कहा– [11]

> 'मुझे इस प्रथा की कठोर वास्तविकताओं का पता है। मैं जानता हूं कि इसके तहत व्यापक रूप से 12 वर्ष से भी कम उम्र में विवाह होते हैं और ऐसी स्थिति में उन्हें सहवास करने से रोका जाना असंभव है। मेरा सुझाव है कि संभवत: यह बेहतर होगा कि हमें कानून से बाहर इसका समाधान निकालना चाहिए। जैसा कि विवाहित लोगों के मामले में होता है। सहवास की आयु पर उचित लोकमत बनाने के लिए हमें शिक्षा के विकास और समाज-सुधार पर भरोसा करना चाहिए। महोदय, मुझे विश्वास है कि इस विषय में काफी बड़ी प्रगति हुई है। अनेक प्रांतों में उच्च वर्गों में विवाह की आयु में वृद्धि हुई है। ये केवल गरीब वर्ग ही हैं, जो दुर्भाग्य से अभी भी अज्ञानता के शिकार हैं। उच्च वर्गों की अपेक्षा गरीब वर्गों में ही जल्दी शादियां हो जाती हैं।'

वर्धमान से मि. अमर नाथ दत्त ने बिल का विरोध करते हुए कहा– [12]

> 'हमें अपने प्रगतिशील विचारों को कम प्रगतिशील देशवासियों पर लादने का कोई अधिकार नहीं है। हमारे गांव गुटों में बंट गए हैं। यदि सहवास की सहमत आयु 13 वर्ष हो जाती है, तो सही या गलत का फैसला पुलिस के हाथ में आ जाएगा और वह गांव में एक गुट के कहने पर दूसरे गुट के लोगों को अपमानित और उत्पीड़ित करेगी। मैं सरकार से मांग करूंगा कि वह एक बार फिर इस बिल को वापस ले ले। महोदय, मैं बंगाल से आता हूं और यह जानता हूं कि वहां बहुमत के लोगों की क्या राय है?'

दक्षिण आरकोट के मि. एम.के. आचार्य ने भी परिवर्तन का विरोध किया– [13]

> 'जो चीज दोष नहीं है, उसे यह कानून दोष बना देगा। और जो अपराध नहीं है, उसे यह भविष्य में अपराध बना देगा। भले ही कुछ लोगों की भावनाएं हमारे खिलाफ हों, पर हम इसे अपराध मानने को तैयार नहीं हैं।'

इन्हीं आचार्य ने आगे कहा– [14]

> 'भारत में ऐसे बुद्धिमान लोग बहुत कम हैं, जिन्हें तुरंत सुधार की आवश्यकता महसूस होती है। फिर भी सुधार होगा। और अगर धीरे-धीरे सुधार होगा, तो इससे कोई हानि नहीं है। वास्तव में यह माननीय सदस्यों को जब तक वे शिमला में हैं, उनके मनोरंजन के लिए कंचे और लट्टू देने जैसा है।' [15]

---

[1] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1925, वॉल्यूम-5, पार्ट-3, पृष्ठ-2890
[2] वही, 1925, वॉल्यूम-6, पृष्ठ-557
[3] वही, 1922, वॉल्यूम-2, पार्ट-3, पृष्ठ- 2650
[4] डाकुओं के गिरोह द्वारा लूटमार
[5] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 23 और 24 मार्च 1925, वॉल्यूम- 5, पार्ट-3. और 01 सितंबर, वॉल्यूम- 6
[6] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1925, वॉल्यूम-5, पार्ट-3, पृष्ठ- 2884
[7] वही, पृष्ठ-2890
[8] वही, 1925, वॉल्यूम-6, पृष्ठ- 558
[9] वही, 1925, वॉल्यूम-5, पार्ट-3, पृष्ठ-2839

[10] वही, 1925, वॉल्यूम-6, पृष्ठ-561
[11] वही, पृष्ठ-573, 574
[12] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1925, वॉल्यूम-6, पृष्ठ-558, 559
[13] वही, पृष्ठ-551
[14] वही, पृष्ठ-556
[15] गर्मियों में केंद्र सरकार शिमला में बैठती थी।

अध्याय **4**

जल्दी विवाह, जल्दी मृत्यु

हिंदुओं के निष्फल जीवन-चक्र को कभी-कभार उत्तर के लोगों की कठोर आवाज भंग कर जाती है। इस विषय में उनकी रुचि बहुत कम रहती है, फिर भी जब उनकी आवाज आती है, तो उसमें ठेठ बुद्धिमत्ता होती है।

एक नवाब सर साहिबजादा अब्दुल कयूम हैं, जिनके नाम से ही पता चलता है कि वह मुसलमान हैं। उन्होंने सुदूर के नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस का पक्ष लेते हुए कहा– [1]

> 'मैं केवल इस विषय के व्यावहारिक पक्ष पर कुछ शब्द बोलना चाहूंगा। देश के उस हिस्से में जहां मैं रहता हूं, बाल-विवाह नहीं होते हैं। इसलिए इस बिल का हम पर कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। मेरे विचार से इसका सही इलाज यह होता कि पुरुष के लिए भी और स्त्री के लिए भी विवाह की एक खास आयु निश्चत कर दी जाती। पर, मुझे नहीं लगता कि देश इसके लिए तैयार है। खैर! अब यह विचार करें कि कौन मुकदमा करेगा, कौन जांच करेगा और कौन गवाही देगा और कौन फैसले को लागू कराएगा? इसके बाद दूसरी कठिनाई यह है कि आप एक युवा जोड़े को विवाह की अनुमति देते हैं। उन्हें साथ रहने की अनुमति देते हैं और उन्हें सहवास करने की अनुमति देते हैं। फिर आप उन्हें इस आधार पर कानून के द्वारा रोकेंगे कि अभी उनकी उम्र सहवास के योग्य नहीं हुई है।'
>
> 'ठीक है, मान लिया कि यह कानून पास हो गया और युवा दंपति को सहवास करने से रोक दिया गया। फिर मुझे लगता है–यह होगा कि ऐसे अधिकतर मामलों में आप युवाओं को सड़कों पर भटकने के लिए छोड़ देंगे। लेकिन, जब तक आप लोगों को कम आयु में विवाह करने की अनुमति देते रहेंगे, तब तक ऐसे कानून को लागू करने का कोई पर्याप्त कारण नहीं है, जो उनके निजी जीवन में दखल दे।'

आखिरकार अनेक सदस्यों ने यह माना कि कानून बनने के बाद भी उस पर अमल नहीं होगा और बाल पत्नियों के साथ वही व्यवहार होता रहेगा, जो उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियां कहेंगी और जो पति के धर्मसम्मत अधिकार के तहत होगा।

किन्तु, हिंदुओं की इस सारी बहस से सामान्य धारणा यह प्रकट होती है कि सामाजिक सुधार के लिए कानून बनाना जरूरी है। हालांकि, उन पर अमल कराना मुश्किल है। वह समाज पर एक शैक्षिक प्रभाव डाल सकता है, इसलिए उसका बन जाना ही लाभदायक है। एक भारतीय नेता कहता है– 'लोगों को शिक्षित किया जाना चाहिए। उनको उस मार्ग पर चलना चाहिए, जो मैंने उन्हें दिखाया है।' यह कहने के बाद वह समझता है कि बस, उसका काम हो गया।

मद्रास के ब्राह्मण सदस्य दीवान बहादुर टी. रंगाचारी के विचारों से जो पहले उद्धृत किए जा चुके हैं, सहमति रखने वाले कम लोग ही हैं। उन्होंने बिल में संशोधन का प्रस्ताव रखने वाले एक असेंबली सदस्य को संबोधित करते हुए यह कहा– [2]

> 'क्या मैं माननीय सदस्य से पूछ सकता हूं कि वह इस सदन के बाहर कितने मंचों से इस विषय में बोले हैं? (एक आवाज– 'कभी नहीं') क्या उन्होंने कभी अपने प्रांत में भी सभा की है और क्या आपने लोगों को इन सुधारों के महत्व के बारे में समझाया है? महोदय! आपके लिए अपील करके लोगों के समर्थन और सहयोग से इस स्थिति से लाभ उठाकर कानून को पास करा लेना आसान है। लेकिन, आपके लिए अपने देश में स्त्री-पुरुषों के बीच जाना और उनको समझाना इतना आसान नहीं है।'

इस प्रकार काउंसिल में लोग जिम्मेदारी का भार एक-दूसरे पर डालते हैं, जैसे भिखारी अपना ठिकाना बदलता है। कोई कहता है– 'ये सिर्फ ब्राह्मण ही हैं, जो कम आयु में अपनी लड़कियों की शादियां करते हैं।' इसी तरह कोई कहता है– 'यह प्रथा सिर्फ निम्न जातियों में ही पाई जाती है।' और कोई अन्य कहता है- 'हर हाल में समय पूर्व जल्दी विवाह की बुराइयों का वर्णन अतिरंजनापूर्ण ज्यादा हैं। इसलिए उनमें दखल देना मूर्खतापूर्ण है और बाल पत्नियों की सुरक्षा का जिम्मा सामाजिक तथा धार्मिक सुधार समितियों को सौंप दिया जाना चाहिए।'

लेकिन राजनीतिक लोगों के बदलते रंगों से दूर–जहां वे प्रगति के बारे में आभासी दावे करते हैं–जब हम कोरी वास्तविकता की और जाते हैं, तो हमें सदमा लगता है। भारत की ताजा जनगणना कहती है– [3]

> 'व्यावहारिक रूप से यह माना जा सकता है कि प्रत्येक स्त्री रजस्वला होने पर या उसके बाद ही विवाहित होती है और इसलिए हर स्थिति में रजस्वला होने के साथ ही सहवास भी शुरू हो जाता है।'

इस बात के महत्व का अनुभव इसी से हो जाता है कि भारत में लगभग प्रत्येक पीढ़ी में 32 लाख बाल माताएं प्रसव के दौरान ही मर जाती हैं; [4] जो भारत, फ्रांस, बेल्जियम, इटली यूनाइटेड स्टेट्स और ब्रिटिश साम्राज्य में विश्व युद्ध में मारे गए लोगों की संख्या से भी ज्यादा है। जबकि भारत की आबादी का औसत शारीरिक कद अंतर्राष्ट्रीय सूची में सबसे नीचे है।

पुन: संविधानसभा पर आते हैं। फिर उत्तर भारत से ही एक सदस्य बोलता है, जो सफेद दाढ़ी-मूंछ वाला, लंबा, सीधा, दुबला-पतला और ताकतवर, लोहे जैसा सख्त जमींदार है तथा अपने आसपास बैठे दक्षिण के लोगों से अलग है। जब वह बोलता है, तो दूसरे उसका मजाक उड़ाते हैं। यह व्यक्ति पंजाब के एक वृद्ध सिख योद्धा सरदार हीरा सिंह बरार थे, जिन्होंने कहा– [5]

> 'महोदय! मेरा विचार है, बाल-हत्याओं को रोकने का सही हल यह है कि इस तरह के बच्चे पैदा करने वाले उनके माता-पिताओं की पिटाई की जाए। इसी तरह हमारे बहुत-से वे मित्र भी थप्पड़ खाने लायक हैं, जो स्वस्थ बच्चे पैदा करने के लिए हमेशा विवाह की आयु बढ़ाने का विरोध करते हैं। क्या यह पाप नहीं है कि वे नौ या 10 वर्ष की बेबी और 10 वर्ष के लड़के को पति-पत्नी कहते हैं? यह शर्मनाक है। (आवाजें- नहीं! नहीं!!) यह इस पीढ़ी के लिए भी और आने वाली पीढ़ी के लिए भी दुर्भाग्यपूर्ण है। 9-10 वर्ष की ये लड़कियां, जो स्वयं बच्चियां हैं; गुड़ियों से खेलने की बजाय पत्नियां बनकर बच्चों की मां बन जाती हैं। वे लड़के, जिन्हें स्कूल में जाकर पढ़ना चाहिए; वे अपने आधा दर्जन लड़के-लड़कियों का परिवार संभाल रहे हैं। मैं ऐसे समाज में रहना पसंद नहीं करता। मैं ऐसे समाज पर शर्म महसूस करता हूं, जिसमें न कोई पुरुषत्व है और न कोई नारीत्व है। मुझे स्वयं पत्नी के रूप में एक 12 साल की छोटी लड़की के साथ समाज में जाने में शर्म महसूस होगी। हम सब बातें करते हैं, बातें और सिर्फ बातें। एक बार नहीं, सैकड़ों बार। पर इन बातों से क्या हुआ? सारी बातें इस सदन में ही छोड़ देते हैं, सारी बातें मंच पर ही छोड़ देते हैं। घरों को कुछ नहीं ले जाते हैं, इसलिए कुछ भी होना नहीं है। स्वस्थ बच्चे ही स्वस्थ राष्ट्र की बुनियाद हैं। हम सब जानते हैं कि माता-पिता स्वस्थ बच्चे पैदा नहीं कर सकते। हमें सक्षम बनने के लिए दीर्घ जीवन जीना होगा। पर, इसके लिए बाल-विवाह को रोका जाना जरूरी है। लेकिन, जल्दी शादी करना और जल्दी मर जाना ही हम भारतीयों का आदर्श बन गया है।'

भारतीय व्यवस्थापिका में भारतीय सदस्यों के बीच होने वाली बातचीत से तो तथ्यों का पता चल जाता है। किन्तु, जब एक कवि उन सच्चाइयों को विदेशियों के विचारार्थ रखने के लिए शब्दों का आडंबर खड़ा करता है, तो उसका स्वरूप काफी बदल जाता है। रबीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने हाल के एक लेख 'दि इंडियन आइडियल ऑफ मैरिज' में कहा है कि बाल-विवाह एक उन्नत आत्मा का फूल है। वह जाति के उत्थान के लिए कामवासना और सांसारिकता पर परम ज्ञान की विजय है। उनकी बात का तार्किक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय स्त्रियों को अगर नियंत्रण में रखना है, तो उन्हें रजस्वला होने से पूर्व ही विवाह-बंधन में बांध देना चाहिए। उनके मूल शब्द ये हैं– [6]

> 'इच्छा प्रकृति की वह सर्वाधिक बलवती ताकत है, जिसके साथ भारत की विवाह-समस्या के समाधान का युद्ध हुआ। इसलिए इस पर विजय प्राप्त करना आसान नहीं था। विशेष उम्र होती है, जब लड़के-लड़की के बीच यौन आकर्षण चरम पर पहुंच जाता है। इसलिए, यदि सामाजिक इच्छा के अनुसार विवाह होता है (न कि निजी पसंद के अनुसार), तो वह उस खास आयु से पहले ही कर दिया जाना चाहिए। भारत में बाल-विवाह की प्रथा इसी कारण से बनी।'

दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह है कि एक स्त्री का विवाह उसके स्त्री होने से पहले ही हो जाना चाहिए। इस तरह का विचार उस लेखक के दिमाग से आया है, जिसकी आधुनिक भारतीय लेखकों में व्यापक ख्याति है। वह हमें अपने इस विचार से यह सुझाव देना चाहते हैं कि हम पश्चिम के भौतिकवादी विचारधारा के लोग अगर बिना सोचे-समझे जल्दबाजी में केवल उन शब्दों पर विश्वास कर लें, जिनमें भारत के दिन-प्रति-दिन के जीवन का दावा किया जाता है, तो हम धोखा खा जाएंगे। अब तक मैंने केवल विवाहित बच्चों के विषय में लिखा है। भारत में वेश्यावृत्ति के सामान्य विषय पर लिखने की जरूरत इस किताब में नहीं है। पर, उसकी वास्तविक स्थिति को जानने के लिए उसके कुछ विशेष पहलुओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। देश के कुछ भागों में, विशेषकर मद्रास प्रेसीडेंसी और उड़ीसा में हिंदुओं में एक प्रथा प्रचलित है; जिसमें उनके माता-पिता देवताओं की कृपा हासिल करने के लिए यह मन्नत मानते हैं कि वे अपना अगला बच्चा–अगर लड़की होती है तो–देवता को दान कर देंगे। कभी-कभी विशेष रूप से सबसे सुंदर बच्ची को भी–जिसे वे किसी कारण से घर में रखना नहीं चाहते हैं–मंदिर को भेंट कर देते हैं।

इस प्रथा के अनुसार, उस नन्हीं जान को मंदिर की उन स्त्रियों को–जो खुद भी इसी प्रथा के तहत उस मंदिर में लाई गईं थीं–नाचना-गाना सिखाने के लिए सौंप दिया जाता है। बहुधा पांच वर्ष की आयु तक वह 'काम की' मान ली जाती है और वह पुजारियों की हवस मिटाने वाली वेश्या बन जाती है।

बाद में यदि वह जीवित रहती है, तो नित्य मंदिर-पूजा में नाच-गाकर सेवा करती है। मंदिर के बाहर बने घरों में, जहां मंदिर में दर्शन के लिए आने वाले पुरुष श्रद्धालु ठहरते हैं, कुछ पैसे लेकर उनके उपयोग के लिए वे (ऐसी लड़कियां) हमेशा उपलब्ध रहती हैं। वे खूबसूरत ढंग से सजती-संवरती हैं। कभी-कभी उन्हें देवताओं के आभूषण भी पहना दिए जाते हैं और वे तब तक सक्रिय रहती हैं, जब तक उनका सौंदर्य फीका नहीं पड़ता है।

उसके बाद उन पर उस देवता की छाप लगाकर–जिसके मंदिर में वे रह चुकी होती हैं–खर्च के लिए कुछ पैसा देकर उन्हें बाहर निकाल दिया जाता है। इसके बाद वे भिखारी बनकर जीविका चलाती हैं। उनके माता और पिता–अपनी जाति और वर्ग में चाहे वे उच्च हों या संभ्रांत–इस तरह अपनी लड़कियों को छोड़ देने के बाद भी समाज में आदर से देखे जाते हैं। उनके इस तरह के कार्य को उनकी सम्मानित प्रथा माना जाता है। इस प्रथा के तहत रहने वाली लड़कियों की एक पृथक जाति बन जाती है। और ऐसी सभी स्त्रियों को 'देवदासी' अर्थात 'देवताओं की वेश्या' कहा जाता है और वे मंदिर की शान मानी जाती हैं।' [7]

अब अगर यह पूछा जाए कि एक उत्तरदायी सरकार इस देश में इस प्रथा को क्यों जारी रखे हुए है? तो इसका उत्तर ढूंढना मुश्किल नहीं है। यह प्रथा जनता की भावना से जुड़ी हुई है। इसकी जड़ें एक अत्यंत रूढिवादी और कामवासना से ग्रस्त धार्मिक लोगों के दूर अतीत में अर्थात् उनके प्राचीन इतिहास में हैं। यदि कोई यह जानना चाहे कि इस प्रथा पर सीधा हमला किया जाए, तो लोग उस हमले का मुकाबला–धर्म के नाम पर खुलकर और छिपकर–किस तरह करते हैं, तो उसे मिस एमि विल्सन कारमाइकल के असाधारण शोधकार्य [8] और उनकी किताबों [9] को देखना चाहिए।

यदि देवताओं के मंदिर से इन बच्चियों को बलपूर्वक हटा दिया जाए, तो पूरा प्रांत पागलपन की हद तक लड़ने के लिए तैयार हो जाएगा।

'आप इसे पूरब से बलपूर्वक खत्म नहीं कर सकते।' हालांकि, पश्चिमी आदर्श और संपर्क अपना कार्य धीरे-धीरे कर रहे हैं और ब्रिटिश अधिकारी भी शांति से शिक्षा देने का काम कर रहे हैं। संभवतः यही कारण है कि कुछ वर्षों में परिवर्तन के पक्ष में जो प्रभाव पड़ा है, वह प्रभाव बल प्रयोग से नहीं हो सकता।

इस प्रकार, जब संविधानसभा के सामने अविवाहित लड़कियों के लिए सहवास-सहमति की आयु बढ़ाने के लिए एक प्रस्ताव आया, तो उसका तगड़ा विरोध राव बहादुर टी. रंगाचारी द्वारा ही किया गया था। उनका तर्क था, कि इस तरह का कदम मंदिर की वेश्याओं के लिए बहुत दुःखदायी होगा।

और क्यों?

क्योंकि, जैसा कि उन्होंने स्पष्ट किया कि देवदासियों की बेटियों की शादी जाति के पुरुषों से नहीं हो सकती, इसलिए– [10]

> 'कि इन लड़कियों को विवाह के लिए पति नहीं मिल सकते। क्योंकि, उनकी माताएं कुछ बड़े जमींदारों के साथ उनका विवाह करके उनको उन्हीं जमींदारों के यहां छोड़ देती हैं।'

और इस हमदर्द सदस्य ने चेतावनी देते हुए कहा कि अगर लड़की की आयु में वृद्धि कर दी गई, तो कोई भी जमींदार उस लड़की को नहीं चाहेगा। परिणामत: अच्छा सौदा निकल जाएगा और गरीब मां को ही उस लड़की का पालन करना होगा। किन्तु, इस बहस में मजेदार बात यह नहीं थी कि एक प्रमुख ब्राह्मण ने अपने लोगों की भावनाओं को प्रकट किया, बल्कि यह है कि उसके आसपास बैठे सदस्यों ने उनके तर्कों का विरोध किया।

इसके बाद उड़ीसा से सदस्य मि. मिश्रा ने देवदासियों अर्थात साधारण दासियों/वेश्याओं के विषय में अपने ये विचार रखे– [11]

> 'उनका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। उनकी उपस्थिति विवाह और अन्य समारोहों में भी भगवान के भजन गाने के लिए आवश्यक मानी जाती है। बहुतों ने इन लड़कियों को जमींदारों और राजाओं को बेचे जाने की बातें कही है। [12] लेकिन, जमींदार कुटनियों के माध्यम से लड़कियां कभी नहीं लेते। जो होता है, वह यह है। जब जमींदार या राजा विवाह करते हैं, तो उनकी पत्नियों या रानियों के साथ नौकरानी के रूप में कुछ लौंडियां (लड़कियां) भी साथ आती हैं। कुटनियों से लड़कियां लेने जैसी चीज अस्तित्व में ही नहीं है। कोई भी भला मनुष्य चाहे वह जमींदार हो, राजा हो या आम आदमी हो, इस घृणित दलाली से लड़कियों को स्वीकार नहीं करेगा। हमें इन नाबालिग लड़कियों के बारे में क्यों सोचना चाहिए? वे अपनी देखभाल खुद कर सकती हैं।'

मि. मिश्रा के वक्तव्य में यद्यपि सीधी बातें थीं, फिर भी उनकी बातें उनके साथी सदस्यों को चुभी थीं। इसलिए उसके उत्तर में जो भाषण हुए, उनमें पश्चिमी प्रभाव की काफी झलक मौजूद थी। उनकी बातें सच थीं, पर वे उनको रिकॉर्ड में लेना नहीं चाहते थे। इसलिए, वे बार-बार 'अपने शब्द वापस लो' की आवाजें लगाकर उनके भाषण में व्यवधान डाल रहे थे। अत: दूसरे सदस्यों के वक्तव्यों से इस बात का सबूत मिला

कि कम-से-कम इस देश में एक नया विचार पैदा हो गया है। किन्तु, जिनका धर्म उन्हें यह सिखाता है कि संपूर्ण कर्मों से मुक्ति ही परम ज्ञान (निर्वाण) की प्राप्ति है, उन लोगों के बीच इस नए विचार को एक ठोस कार्य में बदलने के लिए एक दूसरी मानसिक क्रांति की आवश्यकता होगी।

---

[1] लेजिसलेटिव असेंबली, 1925, वॉल्यूम-6, पृष्ठ-571, 572
[2] वही, 1925, वॉल्यूम-5, पार्ट-3, पृष्ठ-2847
[3] सेन्सस ऑफ इंडिया, 1921, अपेंडिक्स-7
[4] लेजिसलेटिव असेंबली डिबेट्स, 1922, वॉल्यूम-3, पार्ट 1, पृष्ठ-882
[5] वही, 1925, वॉल्यूम-5, पार्ट-3, पृष्ठ-2829 से 31
[6] दि बुक ऑफ मैरिज, केसलिंग, हरकोर्ट, ब्रास एंड कं., न्यूयॉर्क, 1926, पृष्ठ-112
[7] देखिए, दि गोल्डन बाउ, जे.जी. फ्रेजर, मैकमिलन एंड कं., लंदन, 1914, एडोनिस, ऐटिस, वसिरिस, वॉल्यूम-1, पृष्ठ 61-65
[8] दोहनावुर, तिन्नेवैली जनपद, दक्षिण भारत में।
[9] लोटस बड्स, थिंग्स एज दे आर, मॉर्गन एंड स्कॉट, लंदन
[10] लेजिस्लेटिवअसेंबली डिबेट्स, 1923, वॉल्यूम-3, पार्ट-4, पृष्ठ-2807, 2808
[11] वही, पृष्ठ-2826, 2827
[12] महाराजा के लिए एक हिंदू उपाधि

अध्याय **5**

साफगोई

बाल विवाह के बारे में विधायिका के सदस्यों ने जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसके परिणाम को देखने के लिए किसी विदेशी के लिए सबसे सीधा तरीका यह है कि वह भारत में महिला अस्पतालों को जाकर देखे। मैंने यही काम पंजाब से बंबई तक और मद्रास से संयुक्त राज्यों तक जाकर किया है। यह काम पुरुष नहीं कर सकता है। क्योंकि, वह चाहे डॉक्टर हो या न हो; उसे महिला रोगी को देखने की इजाजत नहीं दी जाएगी।

उत्तर-पूर्व के एक शहर में भारतीय महिलाओं में एक 'परदा' [1] अस्पताल का बहुत नाम है। यहां भीरू स्वभाव वाली महिलाओं की भीड़ रहती है, जिन्हें उनके घरों की चहारदीवारी के बाहर पहली बार निकलने का अवसर मिला है। और अगर वे बीमार न पड़तीं, तो अब भी यहां आने का जोखिम नहीं उठातीं। मुस्लिम महिलाएं हमेशा और हिंदू महिलाएं यदा-कदा परदा वाली गाड़ियों से यहां पहुंचती हैं। या बक्सेनुमा छोटी पालकी या डोलियों में बैठाकर लाई जाती हैं, जिनमें वे किसी तरह अपने शरीर को झुकाकर बैठ पाती हैं। उन डोलियों को सामान की गठरी की तरह एक लट्ठे में झुलाते हुए लाया जाता है। उनमें सरकारी बाबुओं की पत्नियां होती हैं। अधिकारियों और व्यवसायी पुरुषों की पत्नियां होती हैं। कभी-कभी धनी स्त्रियां, तो कभी-कभी गरीब स्त्रियां भी होती हैं। यानी उच्च जाति की स्त्रियां भी आती हैं और निम्न जाति की स्त्रियां भी। ये सब यहां धार्मिक और जातीय भेदभाव को भुलाते हुए अपनी बीमारी–जिससे वे मर रही हैं–से ठीक होने के लिए मदद मांग रही हैं।

यह अस्पताल एक मंजिला भवन में है, जिसमें कतार से अनेक कमरे हैं। इनमें कुछ वार्ड हैं और कुछ अलग-अलग कमरे हैं। वर्षों पहले जब यह आरंभ हुआ था, तो यहां महिलाओं के आने की गति बहुत सुस्त थी। पहले साल में केवल नौ स्त्रियां ही प्रसव के लिए आई थीं। पर, अब यहां सारे बिस्तर भरे हुए हैं; यहां तक कि बरामदा भी चारपाइयों से भरा हुआ है। जगह न होने के कारण बीसियों स्त्रियां यहां भर्ती होने के लिए चिरौरी कर रही हैं।

अगर आप चहल-कदमी करते हुए चारपाइयों के बीच से निकलें और सफेद तकियों पर लेटे हुए चेहरों पर नजर डालते जाएं, तो आपको गैर-आर्यों के चेहरे काले, ब्राह्मण स्त्रियों के चेहरे हल्के भूरे, मुस्लिम महिलाओं के चेहरे सुंदर तरासे हुए (क्योंकि उनकी नस्ल उत्तरी ईरान की है) और दक्षिण की महिलाओं के चेहरे भद्दे दिखाई देंगे। पर, सभी के चेहरे बताते हैं कि उनकी पीड़ा और बेबसी एक समान है। यहां लगभग महिलाओं की बीमारियों का ही इलाज होता है। इन बीमार स्त्रियों में बहुत-सी युवा हैं और लगभग सभी यौन-रोगों से संक्रमित हैं।

कुछ नि:संतान लोग भी यहां आते हैं, जो संतानोत्पत्ति के लिए दवाई या ऑपरेशन की प्रार्थना करते हैं; ताकि उनकी भारतीय पत्नी को पुत्र हो और वे सम्मानित स्थिति प्राप्त कर सकें। ब्रिटिश महिला सर्जन अधीक्षिका कहती हैं– 'इन महिलाओं में लगातार एक बच्चा होने के बाद सूजाक की बीमारी हो जाती है और उससे उनकी कोख नष्ट हो जाती है। यहां बहुत-सी ऐसी युवा लड़कियां भी आती हैं, जिनके अंदरूनी अंग विवाह के पहले वर्ष में इस कदर नष्ट हो चुके होते हैं कि देखकर डर लगता है। यहां 90 प्रतिशत स्त्रियों की कोख की सूजन का कारण सूजाक की बीमारी है।'

जैसे ही हम एक युवा लड़की के बिस्तर पर जाकर रुकते हैं, वह हमें भूखे जानवर की तरह देखने लगती है। डॉक्टर बताती है– 'यह एक नई मरीज है। इसके कई बच्चे हुए हैं, पर सभी मरे हुए। इस बार अगर इसके जीवित बच्चा नहीं हुआ, तो इसका पति इसको रखेगा नहीं। इसलिए यह हमारे पास प्रसव के लिए आई है। इसे भी यौन रोग है। पर आशा है, हम इसे सही कर सकते हैं।'

'और इसे क्या हुआ है?'–मैं एक दूसरे बिस्तर पर जाकर पूछती हूं। उसके चेहरे पर हमें मृत्यु की पीड़ा दिखाई दे रही थी।

डॉक्टर ने बताया– 'यह एक हिंदू अधिकारी की पत्नी है। इसके पहले प्रसव में ही बच्चा जीवित नहीं रह सका था। इसलिए तीन दिन पहले, जब इसे दूसरे प्रसव के दर्द शुरू हुए, तो इसका पति इसे यहां ले आया था। इसे दिल की बीमारी और दमा भी है और इसकी एक टांग भी टूटी हुई थी। मुझे इसकी टांग भी ठीक करनी पड़ी और प्रसव भी करवाया। इसे जुड़वां बच्चे हुए, पर वे भी मरे हुए, जिन्हें संडसी से पकड़कर निकालना पड़ा। अंदर संक्रमण होने की वजह से इसकी कोख नष्ट हो गई है और अब यह दोबारा बच्चे को जन्म नहीं दे सकती। लेकिन, अभी यह बात इसे मालूम नहीं है। मुझे लगता है कि अगर इसने इसे सुन लिया, तो मर जाएगी।'

'इसकी उम्र? 13 वर्ष कुछ महीने।'

आगे बढ़ने पर मैंने एक पीली पड़ चुकी लड़की को देखा, जो अपनी चिड़िया के पंजे जैसे हाथ में कागज का एक खिलौना पकड़े हुए थी। जैसे ही वह मुझे देखकर मुस्कराई, मैंने पूछा– 'और इसे क्या हुआ है?'

आह! डॉक्टर कहती है– 'यह सरकारी प्राइमरी स्कूल में पढ़ती थी। खुश थी और पढ़ने में इतनी तेज थी कि इसने अभी छात्रवृत्ति के लिए पुरस्कार जीता था। पर पांच महीने पहले छुट्टियों में इसके भाई ने इसे इसके आदमी के घर भेज दिया, जिसके साथ इसकी शादी हुई थी। उस आदमी की आयु 50 वर्ष है। उनके विचार में वह सभ्य हिंदू है, इसलिए निंदनीय नहीं है। पर हमारे विचार से वह जानवर है। इसके साथ जो गलत काम हुआ, उसे यह लड़की बताते हुए भी डरती है। हफ्तों तक यह बद से बदतर होती गई, और अंत में पागल हो गई। तब इसकी छोटी बहिन–जो हमारी पुरानी मरीज रह चुकी है–इसे इसके पति के घर से भगाकर यहां ले आई।'

मैंने ऐसी लड़की कभी नहीं देखी, जिसके साथ इतना क्रूर दुष्कर्म हुआ है। इसके अंदरूनी जख्मों में कीड़े पड़ गए थे। यहां आने के कई दिनों तक यह चुपचाप बिस्तर पर लेटी रही थी। कुछ बोलती भी नहीं थी। केवल भावशून्य आंखों से ताकती रहती थी। उसके बाद एक दिन क्या हुआ कि संयोग से एक हाथ टूटी लड़की अस्पताल में इलाज के लिए आई। हमने उस लड़की की चारपाई को इसके बिस्तर के पास रख दिया। मैं जब भी जाती, तो उस लड़की के साथ खेलने लगती थी, जिसे यह देखती रहती थी। हमें इस तरह उसके साथ खेलते हुए देखकर इसने महसूस करना शुरू किया कि हम लोग क्रूर नहीं हैं। अगले दिन जैसे ही मैं इसके पास से गुजरी, यह मुस्कुराई। और एक दिन बाद इसने भावुक होकर मेरे गले में अपनी बाहें डाल दीं। इसका दिमाग ठीक होने लगा था। अब इसका मानसिक संतुलन भी ठीक हो रहा है, पर इसका शरीर अभी भी बीमार है। लेकिन, दुर्भाग्य से इसे यह याद नहीं है कि इसके साथ वास्तव में क्या हुआ था। यह बस अपने खिलौनों के साथ लेटी रहती है। कुछ हैरान रहती है और कमजोर हाथों से उनसे खेलती रहती है या अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से कमरे में हमारी हलचलों को निहारती रहती है। इसकी स्थिति बहुत दयनीय है।

https://ebooks.hindiyug.com

इसी बीच इसके पति ने अपने वैवाहिक अधिकारों को वापस पाने के लिए मुकदमा कर दिया है। वह इसे फिर से घर ले जाने के लिए दबाव बना रहा है। यह अभी 13 वर्ष की नहीं हुई है।

मानसिक पागलपन के ऐसे उदाहरण सामान्य हैं। यदि एक बच्चे को अपने माता-पिता से विरासत में कमजोर शरीर की बजाय बलिष्ठ-से-बलिष्ठ शरीर भी मिला हो, तो भी वह कोमल ही होता है और इस तरह के जुल्मों को बर्दाश्त नहीं कर सकता है। जिस लड़की के बारे में अभी बताया गया, वह एक संभ्रांत, शिक्षित और सभ्य परिवार की बेटी थी। किन्तु, यह लड़की बिलकुल उस जैसी है, जिसे मैंने यहां से तीन सौ मील दूर एक गांव में देखा था। उस लड़की की शादी बचपन में ही कर दी गई थी और 10 वर्ष की उम्र में उसे पति के साथ भेज दिया गया था। वहां उसका लगातार इतना ज्यादा उपयोग किया गया कि वह घबराकर पागल हो गई। उसके बाद उसे इतना पीटा गया कि वह तड़पकर एक कोने में ढेर हो गई। यहां तक कि मार पड़ने पर भी वहां से हिली नहीं। जब वह उसके लायक नहीं रह गई, तो उसका पति अंतत: उसे बुरा सौदा समझकर, निराश होकर उस नन्हें मासूम शरीर को अपने कंधे पर डालकर जंगल में ले गया और मरने के लिए एक झाड़ी में फेंक आया।

संयोग से एक भारतीय ने उस लड़की को फेंकते हुए देख लिया था, जिसने तुरंत इसकी खबर एक अंग्रेज महिला को दी; वरना वह लड़की झाड़ी में ही मर जाती। खबर सुनकर वह अंग्रेज महिला स्वयं जंगल में गई और उस लड़की को उठाकर अपने साथ लेकर आई। बताते हैं कि उसके साथ हुए जुल्म से उसके दिमाग पर इतना गहरा आघात हुआ था कि उसमें धीरे-धीरे चेतना आई थी। पर जब शांति और प्यार के साथ एक बच्ची की तरह उसकी देखभाल की गई, तो वह सामान्य बातचीत करने की स्थिति में आ गई थी। उसके बाद जब मैंने उसे एक साल चार महीने के बाद पहली बार देखा, तो वह पुराने बगीचे में खुशी से दौड़ती हुई दूसरे बच्चों के साथ खेल रही थी। वह एक गुड़िया को हाथ में पकड़े हुए संतुष्ट लग रही थी। उसके अंग्रेज संरक्षक जब तक चाहेंगे, उसे रखेंगे। उसके बाद क्या होगा? पता नहीं!

उत्तरी क्षेत्र को छोड़ दें, तो भारत के अधिकांश भागों में सामान्यतया यही स्थिति है। बंबई प्रेसीडेंसी में शिक्षित और प्रगतिशील महिलाओं की संख्या सबसे अच्छी है। फिर भी उस प्रांत में बहुसंख्यक स्त्रियों की स्थिति, अन्य प्रांतों से कुछ भिन्न है। उदाहरण के लिए मैंने एक स्त्री को देखा, जो साढ़े नौ वर्ष की आयु में मां बनी थी, उसका पेट चीरकर बच्चा निकाला गया था। और जो लड़का हुआ था, उसका वजन एक और तीन चौथाई (1.75) पाउण्ड था।

बंबई से एक हजार मील पूर्वी भारत के दूसरी ओर भी आपको यही कहानी मिलेगी। यहां के अस्पताल की एक अत्यंत योग्य और समर्पित अंग्रेज महिला डॉक्टर ने मुझे बताया– 'हम इन बाल पत्नियों से क्या उम्मीद कर सकते हैं? पहले गर्भकाल में ही इनकी जीवन-शक्ति खत्म हो जाती है। उसके बाद भी वे लगातार काम करती रहती हैं और बार-बार के गर्भधारण से बच्चा जनने के लिए जिस नई शक्ति की उन्हें आवश्यकता होती है, उसे अपने अंदर पैदा करने का उन्हें कोई अवसर ही नहीं मिलता है। यहां सबसे बड़ा बच्चा पांच पाउण्ड का है। सामान्य वजन चार पाउण्ड है। बहुत से बच्चे मरे हुए पैदा होते हैं और जो जिंदा पैदा होते हैं, उनमें भी जीवन शक्ति इतनी कम होती है कि उनमें हर बीमारी का संक्रमण जल्दी हो जाता है। यहां मेरी अधिकांश मरीज वे स्त्रियां हैं, जो विश्वविद्यालय के छात्रों की पत्नियां हैं। इनमें से लगभग हरेक को यौन-संक्रमण है। जब मैं पहली बार भारत आई, तो मैंने इस विश्वास में कोशिश की कि मैं इन लड़कियों के माता-पिता से जाकर मिलूं और उन्हें उनकी बेटियों की इस हालत के बारे में बताऊं, ताकि वे रोकथाम का कुछ उपाय करें। परंतु, जब मुझे मालूम हुआ कि उन्हें अपनी बेटी के होने वाले पति की बीमारी के बारे में पता रहता है। लेकिन, उस पर उन्हें न शर्म होती है और न वे उसे गलत समझते हैं। तो फिर मैंने अपनी कोशिश करनी छोड़ दी। वे इस बीमारी से बिलकुल परेशान नहीं होते हैं। न वे इस बात को मानते हैं कि वे अपनी बेटियों की अगली नस्ल में एक घातक बीमारी फैलाने का काम कर रहे हैं।

अब मैं जिस बात से चिंतित हूं, वह यह है कि हमारे अस्पताल के पास पैसे की हमेशा कमी रहती है। ऐसी स्थिति में क्या इन मरीजों को दवाई देने का मुझे अधिकार है? एक मरीज के इलाज की कीमत 20 रुपए आती है और जो स्त्री ठीक होकर घर जाती है, वह पति के संपर्क में आकर फिर उसी बीमारी से ग्रस्त हो जाती है। मैं इन बहुमूल्य 20 रुपए से और बहुत-से अच्छे काम कर सकती हूं, लेकिन फिर भी...!

मद्रास प्रेसीडेंसी में भी पश्चिम से उत्तर तक कोई अच्छी कहानी नहीं है। एक अत्यंत अनुभवी महिला सर्जन ने मुझे बताया– 'यहां अधिकांश स्त्रियों के लिए विवाह एक शारीरिक त्रासदी है। लड़की एक या दो स्वस्थ बच्चों को जन्म दे सकती है। परंतु, उसके बाद वह अपने आप या तो संक्रमण से, या निर्मम देखभाल से अपंग हो जाती है। ऐसे हजारों स्त्री-रोगों के मामलों में–जिनमें मैंने इलाज किया और अभी भी कर रही हूं– मुझे एक भी ऐसी स्त्री नहीं मिली, जिसे यौन-रोग न हुआ हो।'

भारत के अन्य प्रांतों में भी स्वास्थ्यकर्मी पुरुषों और महिलाओं ने–जिनमें यूरोपीय और पाश्चात्य शिक्षित भारतीय भी थे—मुझे कम उम्र में पत्नी बनने वाली स्त्रियों में होने वाले कुप्रभावों के बारे में ऐसी ही बातें बताई हैं। जैसे—मां को जल्दी तपेदिक हो जाता है। उनके शरीर के अंदरूनी अंग अपनी जगह से हट जाते हैं। कमर की हड्डी और बच्चेदानी पर अत्यधिक जोर पड़ने के कारण उनकी अपरिपक्व हड्डियां कमजोर पड़ जाती हैं। और वे इतनी बर्बाद हो जाती हैं कि उनमें दोबारा बच्चा जनने की शक्ति नहीं रह जाती है। ऐसी स्थिति में उन्हें हिस्टीरिया और दिमागी रोग हो जाते हैं और उनके शरीर का मानसिक विकास रुक जाता है।

एक भारतीय अनुभवी फिजीशियन ने मुझे बताया—'भारतीय स्त्रियों का बहुत कम प्रतिशत मुझे स्वस्थ और मजबूत दिखाई दिया। मुझे लगता है कि उनकी यह स्थिति उनके यौन-संक्रमण और सहवास की अधिकता की वजह से होती है। उनके साथ सामान्यत: दिन में दो या तीन बार सहवास किया जाता है।'

36 वर्ष पहले जब सहवास के लिए सहमत आयु के बिल पर भारतीय विधायिका में बहस चल रही थी, तब समस्त महिला चिकित्सकों ने—जो उस समय भारत में काम कर रही थीं और जिन्होंने अपने आपको उनकी सेवा के लिए समर्पित कर दिया था—वायसराय से स्त्रियों की मुक्ति के लिए प्रार्थना की थी। उन्होंने अपने प्रार्थना-पत्र में सामान्य मामलों को प्रस्तुत किया था, जो चिकित्सा के समय उनमें से हरेक के व्यक्तिगत अनुभवों में आए थे। उनमें से कुछ घटनाएं निम्नलिखित हैं, जिनसे जाना जा सकता है कि जब वे मरीज पहली बार इलाज के लिए उनके पास आई थीं, तो उनकी कितनी बदतर स्थिति थी– [2]

(क) आयु नौ वर्ष : विवाह के एक दिन बाद ही जांघ की हड्डी उतर गई थी। कोख नष्ट हो गई थी और मांस लटक गया था।

(ख) आयु 10 वर्ष : खड़ी होने में असमर्थ थी। अत्यधिक खून बह रहा था। मांस के चिथड़े लटक रहे थे।

(ग) आयु नौ वर्ष : उसके साथ इस कदर बलात्कार हुआ था कि उसकी सर्जरी भी मुश्किल थी। उसके पति की और भी दो जीवित पत्नियां थीं

और वह बढ़िया अंग्रेजी बोलता था।

(घ) आयु लगभग सात वर्ष : अपने पति के साथ रहती थी। वह विवाह के तीन दिन बाद घोर यंत्रणा में तड़प-तड़प कर मर गई।

(ङ) आयु लगभग 10 वर्ष : अपने हाथों और घुटनों पर रेंगकर अस्पताल आई। अपने विवाह के बाद से वह कभी भी खड़ी होने में समर्थ नहीं हुई।

यहां जो सूची दी गई है, वह संक्षिप्त है। मूल सूची इससे बड़ी है। आप पूरी सूची इस पुस्तक के परिशिष्ट में देख सकते हैं। [3]

यह बात 1891 की थी। 1922 में यह विषय पुन: भारतीय विधायिका के समक्ष लाया गया और वर्षों बाद महिला सर्जन डॉक्टरों ने एक बार फिर वही प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया। उसका किसी ने भी विरोध नहीं किया और न कोई कर सकता था। जिस अंग्रेज ने अपनी बहस में इस प्रार्थना-पत्र का उल्लेख किया, वह उसका जोर से पाठ करने का साहस नहीं कर सका। किन्तु, सहमत आयु में वृद्धि करने वाले इस बिल पर चर्चा करते हुए, उसने अपने भाषण का समापन इन शब्दों के साथ किया था–

> 'अधिकांश लोगों ने कहा है कि इस बिल से आंदोलन होने की संभावना है। आंदोलन को जितना मैं नापसंद करता हूं, उतना कोई नहीं करता। मैं तो आंदोलन से ऊब गया हूं। किन्तु महोदय! यह मामला जब स्त्रियों और बच्चों के जीवन से जुड़ा है, तो मैं ड्यूक ऑफ वेलिंगटन के शब्दों में केवल इतना ही कह सकता हूं– आंदोलन करो और नरक में जाओ।'

साप्ताहिक पत्र 'यंग इंडिया' [4] के ताजा अंक में मि. गांधी ने अपने नाम से एक लेख 'बाल-विवाह का अभिशाप' शीर्षक से प्रकाशित किया है। इसमें मि. गांधी लिखते हैं–

> 'यह हमारे हजारों होनहार लड़के और लड़कियों की जीवन शक्ति को नष्ट कर रहा है, जिन पर हमारे समाज का भविष्य निर्भर करता है। यह प्रतिवर्ष हजारों दुर्बल लड़के और लड़कियों को पैदा कर रहा है, जिनके माता-पिताओं के शरीर भी अभी पूरी तरह परिपक्व नहीं हुए हैं। आज हमारे समाज में जो सर्वाधिक भयानक बाल-मृत्यु दर और मृतक बच्चों का पैदा होना जारी है, उसका उर्वर कारण यही बाल-विवाह है। यह (1) संख्या, (2) शारीरिक शक्ति और साहस, (3) नैतिकता–इन तीन दृष्टियों से हिंदू समाज को भी धीरे-धीरे पतन के गर्त में ले जाने का मुख्य कारण है।'

जितना रोचक मि. गांधी का यह लेख है—उतना ही रोचक इसका उत्तर भी है, जो एक ऐसे भारतीय संवाददाता ने दिया है–जिसको मि. गांधी स्वयं 'समाज में उच्च स्थिति का व्यक्ति मानते हैं। वह लिखता है– [5]

> 'मुझे आपका लेख 'बाल-विवाह का अभिशाप' पढ़कर बहुत अधिक पीड़ा हुई। मैं यह समझने में असफल हूं कि आप उन लोगों के उदार विचारों को क्यों नहीं शामिल कर सके, जो आपसे भिन्न मत रखते हैं। मुझे लगता है, यह कहना अनुचित है कि जो लोग बाल-विवाह पर जोर देते हैं, वे पापी हैं।'
>
> 'बाल विवाह की प्रथा किसी एक प्रांत या समाज के किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारत में सर्वत्र है।'
>
> 'बाल-विवाह का मुख्य विरोध इस बात पर है कि इससे बाल-पत्नी और उसके बच्चों का स्वास्थ्य कमजोर हो जाता है। पर यह विरोध निम्न कारणों से बहुत विश्वसनीय नहीं है। हिंदुओं में अब विवाह की आयु बढ़ रही है, पर जाति कमजोर होती जा रही है। 50 या 100 साल पहले स्त्री और पुरुष सामान्यत: मजबूत, स्वस्थ और आज की अपेक्षा अधिक आयु के होते थे। किन्तु, तब बाल विवाह अधिक प्रचलन में था। इन तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि बाल विवाह शारीरिक व्याधियों और कमजोरियों का उतना बड़ा कारण नहीं है, जितना लोग मानते हैं।'

अंतिम पंक्तियों में जो तर्क दिया गया है, वह भारतीयों में इतना आम है कि उस पर कुछ कहे बिना नहीं रहा जा सकता। लेखक को अपने दादाओं के कार्य और पोते-पोतियों की स्थिति के बीच कोई संबंध दिखाई नहीं देता है। लगता है, उसने खुद से ही कागज पर यह संबंध लिख दिया है।

मि. गांधी का बाल-विवाह पर प्रहार जारी रहा। हालांकि, वह अरण्यरोदन जैसा था। पर, उन्होंने अपने लेख के विरोध में आए कुछ और पत्रों को भी प्रकाशित किया। इनमें एक पत्र उन्होंने एक बंगाली हिंदू महिला का भी छापा है; जिसमें वह लिखती है– [6]

> 'मैं नहीं जानती कि आपने हमारे समाज की गरीब बाल-पत्नियों के पक्ष में जो शब्द लिखे हैं, उनके लिए मैं आपका किस तरह धन्यवाद करूं। हमारी स्त्रियां चुपचाप, नम्र होकर अपने दु:खों का बोझ सहन करती हैं। अब उनमें किसी भी दु:ख से लड़ने की कोई भी शक्ति बाकी नहीं रह गई है।'

इसके उत्तर में मि. गांधी ने अपने निजी अनुभव से कुछ उदाहरण दिए। जैसे—एक 60 वर्षीय शिक्षाविद ने एक नौ वर्ष की लड़की से विवाह किया और जनता में उसने अपना सम्मान भी नहीं खोया। किन्तु, अंत में उन्होंने भारत की पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त महिलाओं पर यह आरोप लगाया कि वे अपनी ऊर्जा राजनीति में, भाषण देने में, अपनी प्रसिद्धि पाने में और फालतू बातों में ज्यादा खर्च करती हैं। और भारत की मुक्ति के लिए किए जाने वाले कार्य की उपेक्षा करती हैं, जिन्हें वे ही कर सकती हैं। उन्होंने कहा– [7]

> 'क्या स्त्रियों का हमेशा पुरुषों को दोष देना और उसी में अपनी संतुष्टि समझना उचित है? यदि वे चाहें, तो स्त्रियों के वोट के अधिकार के लिए लड़ सकती हैं। इसमें न समय खर्च होना है और न कोई परेशानी होनी है। इससे उनको मनोरंजन का साधन भी मिल जाता है। लेकिन, कहां हैं ऐसी साहसिक स्त्रियां, जो बाल-पत्नियों और बाल-विधवाओं के बीच काम करें और तब तक चैन से न बैठें, जब तक कि बालिका-विवाह असंभव न हो जाए?

इन विषयों पर चर्चा करके उनकी वास्तविकता पर परदा डालना और उन्हें जल्दी से टालना लोगों की आदत बन गई है। इस विषय पर और प्रकाश डालने के लिए जब ईसाई मिशनरियों की रिपोर्टों का अध्ययन किया गया, तो पता चला कि उनमें शर्मनाक बातों के स्थान पर डॉट-डॉट देकर उन बातों को ही दफन कर दिया गया है। इसका कारण यह है कि ईसाई मिशनरी पहले उन लोगों का हित सोचते हैं, जहां से उनको धन मिलता है, और जिनकी मेजों पर वे अपनी रिपोर्ट रखेंगे। इसके बाद वे उन भारतीयों का हित सोचते हैं, जिन्हें खुश रखकर ही वे अपने मिशन में सफलता हासिल कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उन सामान्य लोगों ने भी—जो भारतीय जीवन की इन सच्चाइयों को जानते हैं—का वर्णन करने के बजाय उन पर परदा ही डालने का काम किया है; जिसकी एक वजह तो यह है कि वे भारतीयों को नाराज करना नहीं चाहते थे। क्योंकि, इससे उनकी बदनामी होती, जिसे वे न अनुभव करते हैं और न समझ सकते हैं। दूसरी वजह यह है कि वे अपने पाश्चात्य पाठकों की रुचि का अपमान करना नहीं चाहते थे।

फिर भी इस तरह के मामलों में सत्य को दबाना या छिपाना निंदनीय है। क्योंकि, कुछ पश्चिमी पाठक तो ऐसे हैं कि उन्हें जब तक साफ-साफ न बताया जाए, वे मौजूदा स्थितियों की कल्पना नहीं कर सकते।

फिर भी यदि कोई भारत की समस्याओं को समझना चाहता है, तो वह मि. गांधी के शब्दों में आत्म-छल है, जिसे वह 'महापाप' कहते हैं। यदि कोई भारतीय जीवन के इन बुनियादी पहलुओं की हकीकत को न देखे और यदि कोई इस विषय को टाल देना चाहे, तो उसे यह सोचना

चाहिए कि उसे इस तरह अपने लिए प्रसन्न होने और उन लाखों छोटे बच्चों और महिलाओं के बारे में बोलने और सुनने का भी क्या अधिकार है, जो आज शारीरिक यातनाएं सह रहे हैं।

---

[1] औरतों का एकांत, जैसा कि हरम होता है।
[2] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1922, वॉल्यूम-3, पार्ट-1, पृष्ठ-881 से 883, परिशिष्ट, पृष्ठ-919
[3] देखिए, परिशिष्ट-1
[4] यंग इंडिया, 26 अगस्त 1926, पृष्ठ-302
[5] यंग इंडिया, 9 सितंबर 1926, पृष्ठ-318
[6] वही, 7 अक्टूबर 1926, पृष्ठ-349
[7] वही

भाग – 2

https://ebooks.hindiyug.com

ग्रैंड ट्रंक रोड

खैबर के पास ग्रैंड ट्रंक रोड है। काली, नंगी, कंटीली पहाड़ियां उन खाइयों को देख रही हैं, जो उनको विभाजित करती हैं। दोनों ओर कबीलाई लोगों के गांव हैं। प्रत्येक घर अपने आप में एक छोटा दुर्ग जैसा है। उसके चारों ओर ऊंचे लड़ाकू बुर्ज हैं, जिनकी ऊंची दीवारों में राइफलों के लिए छेद बने हुए हैं।

'आपका पेशा क्या है?'–मकान-मालिक से पूछते हैं। तो वह कहता है– 'हमारे लोगों का पेशा और क्या हो सकता है?' वह आगे बताता है– 'हम छापामार हैं।'

वे सड़क पर बंदूक नहीं चलाते, क्योंकि यह सम्राट की सड़क है। पर सड़क के दोनों तरफ हमारा देश है, वहां हम जहां चाहें गोली चलाते हैं। उनका संपूर्ण जीवन युद्ध है। एक कुल दूसरे कुल से, एक घर दूसरे घर से, एक आदमी दूसरे आदमी से—वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान, सब इसी तरह—लड़ने में खुश रहते हैं। यहां पहाड़ियां नंगी हैं, जिसकी वजह से भोजन मिलना दुर्लभ होता है। इसलिए, वे जीवन का सुख घात लगाकर मनुष्य का शिकार करने में ही समझते हैं और इसी में चतुर भी हैं।

ऊंटों की दो मील लंबी कतार—पूंछ से नाक और नाक से पूंछ मिली हुई—नमक, कपास और चीनी लादे शान से झूमती हुई भारत से एशिया जा रही है। और इसी तरह ऊंटों की दो मील लंबी दूसरी कतार- पूंछ से नाक और नाक से पूंछ मिली हुई—झूमती हुई एशिया का माल भारत में ला रही है। मार्ग में रक्षा के लिए सशस्त्र अफरीदी सैनिक इनके साथ हैं। सशस्त्र चौकियां हैं। जगह-जगह सड़क के किनारे कुछ ऐसे स्थान भी बने हुए हैं, जहां से तीन या चार तेज निशानेबाज बंदूक चला सकें। कंटीले तारों की बाड़ें लगी हुई हैं। बाज जैसी नाक और आंखों वाले कबीलाई लोग पैदल ही चल रहे हैं। प्रत्येक के पास दो-दो राइफलें हैं और वे शिकार की तलाश में हैं। खट-खट करते हुए दूसरे नंबर की रायल फ्यूजिलर्स बटालियन का एक दस्ता वहां से गुजरा, जिसमें गोरी त्वचा के अंग्रेज किशोर, फुर्तीले और उत्साही जवान नजर आते थे। उनको देखकर आश्चर्य होता था कि वे वहां क्या कर रहे हैं? लेकिन, उन्हीं के कारण संभव हुआ था कि कोई हिंदू खैबर तक जाने का साहस करता है। जब तक पैक्स ब्रिटानिका (अंग्रेजों का शांति-राज्य) वहां नहीं कायम हुआ था, तब तक कोई भी हिंदू वहां से जिंदा नहीं लौटता था। सिवाय उसके, जो औरतों के कपड़े पहनकर छिप-छिपाकर निकल जाता हो।

ग्रैंड ट्रंक रोड दक्षिण की ओर जाती है, एक चौड़ी शांत नदी की तरह; जिसकी लहरें विचारशून्य मनुष्यों की तरह हैं। इसके किनारों पर बहुत से बंदर खेलते-कूदते हैं। मोर, हिरन और ऊंटों के झुंड, जिनकी छोटे नग्न लड़के पूरी रखवाली करते हैं। धूल का रेला, बादामी आंखों वाले सफेद बैल, जिनकी गर्दनों और सींगों के चारों ओर नीले रंग की डोर में पिरोई हुई मालाएं लिपटी हुई थीं। जापान के लिए गाड़ी पर लदे कपास के ऊंचे ढेर को खींच रहे थे। खुले मैदानों में बसे हुए गांव, भारत के वास्तविक घर हैं; जो कहीं पास-पास, तो कहीं मीलों दूर तक छितराए हुए हैं। हर गांव में मिट्टी की दीवारों से बने हुए झोपड़े हैं। गड्ढा खोदकर निकाली गई मिट्टी से ही दीवारें बनाई गई हैं। वह गड्ढा अब उनका तालाब बन गया है, जो पानी से आधा भरा रहता है। उसी पानी से वे नहाते-धोते हैं और अपनी प्यास बुझाते हैं। भारत के 90 प्रतिशत लोग ऐसे ही गांवों में जीवन जीते हैं। हिंदू या मुसलमान दोनों समान रूप से कड़ी मेहनत करने वाले, खेतों में हल जोतने वाले, साधारण, अशिक्षित, शांत और दयालु स्वभाव के होते हैं। सिवाय इसके कि कुछ लोग चुपके से उनमें जाकर उत्पात करने लगें।

सूर्य अस्त हो रहा है। मानो, पृथ्वी के ऊपर आदमी के रूप में मुंह पर लाल रंग का नकाब पहने कोई प्रेत आत्मा जा रही है। धीरे-धीरे यह नकाब चौड़ा और गहरा होता जाता है और पूरा वायुमंडल, वृक्ष और तारागण सब उस नीले रंग में डूब जाते हैं। इसी समय धुएं की तेज गंध का एक झोंका आता है। यह धुआं उन चूल्हों से आ रहा है, जो संपूर्ण गांवों में रात होते ही जलने लगते हैं। इसी समय अंधकार में उत्पन्न होने वाले धुएं से मुग्ध भारत माता अपना विराट रूप दिखलाती है। ऐसा लगता है, जैसे संध्या प्रकाश से आच्छादित वृक्षों के पीछे अपने बच्चों की रसोइयों से निकले हुए धुएं की चादर से शरीर को ढके हुए आकाश के नीले तारों से अपने केशों को सुशोभित किए यह माता देश के बच्चों के लिए ईश्वर से हाथ फैलाकर प्रार्थना कर रही है।

इसके सिवाय ग्रैंड ट्रंक रोड वैसा ही है, जैसा 'किम' में वर्णन किया गया है। उसे फिर से पढ़ें, क्योंकि उसमें पूरी सत्यता है। 'जमजमा' अभी भी लाहौर में है। महबूब अली तीन साल पहले मर चुके हैं, पर उनके दोनों बच्चे इंग्लैंड में पढ़ रहे हैं। और वृद्ध महिला अभी भी बैलगाड़ी में यात्रा करती है और परदे में से उसकी आवाज धूल के गुबार को चीरती हुई सुनाई दे जाती है।

अध्याय **6**

पति परमेश्वर

राजा साहब की भेजी हुई खूबसूरत रॉल्स-रायस कार हमें गेस्ट हाउस से पैलेस की ओर ले जा रही थी। मेरे साथ राजा साहब का एक खास अधिकारी था, जो एक उच्च जातीय सनातनी ब्राह्मण था। वह यूरोपियन ड्रेस में था और कैसी भी बातचीत करने और कुछ समझाने-बताने के लिए हमेशा तैयार था।

मैंने उससे पूछा–'मान लीजिए कि आपकी एक अबोध छोटी बेटी है। आप उसकी शादी किस उम्र में करेंगे?'

उसने बढ़िया अंग्रेजी में जवाब दिया–'पांच या सात वर्ष में। लेकिन, मैं उसके नौ साल पूरे होने पर उसकी शादी जरूर कर दूंगा।'

'और अगर आप नहीं करें, तो क्या दंड है और यह किसे भोगना होगा?–मैंने सवाल किया

उसने बताया– 'यह मुझे ही भोगना होगा। मैं अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाऊंगा। कोई भी मेरे साथ खाना नहीं खाएगा, न मुझे पानी देगा और न मैं किसी संस्कार में न्योता जाऊंगा। कोई भी अपनी बेटी का विवाह मेरे बेटे से नहीं करेगा, जिससे मेरे बेटे का कोई भी जायज पुत्र नहीं हो सकता है। तब वास्तव में मेरा कोई भी सामाजिक अस्तित्व नहीं रह जाएगा। मेरे मरने पर मेरी जाति का कोई भी आदमी मेरी अरथी को अपना कंधा नहीं देगा और अगले जन्म में मुझे इससे भी भारी दंड मिलेगा।'

'तब, आपकी बेटी का क्या होगा?'–मैंने पूछा।

उसने बताया–'लड़की? ओह हां! हमारे नियम के अनुसार मुझे उसे अपने घर से निकालना होगा और अकेले ही उसे जंगल में छोड़ देना होगा। वहां मुझे उसे खाली हाथ छोड़ना होगा। उसके बाद फिर मैं उससे किसी तरह का कोई संबंध नहीं रखूंगा। उसे कोई हिंदू न खाना दे सकता है और न जंगली जानवरों से उसकी रक्षा कर सकता है। और अगर किसी ने उसे खाना दिया या उसकी रक्षा की, तो उसे पाप लगेगा।'

'यह सब क्या आप सचमुच करेंगे?'– मैंने फिर पूछा।

'नहीं, ऐसा अवसर आने ही नहीं दिया जाएगा। मैं इस भयानक पाप की कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसका मुझे दंड भोगना पड़े।'–उसने कहा।

इस चित्र में ध्यान देने वाली बात यह थी कि उसे अपने सिवाय कोई दुःखी नहीं दिखाई दे रहा था।

हिंदू रिवाज में लड़की के जन्म को सामान्य रूप से एक भारी बोझ और कर्ज समझा जाता है। इसलिए बाकायदा उसके जन्म पर परिवार के लोग दुःखी होते हैं। लेकिन, एक सच्चा गवाह भी मुझे मिला, जो हमेशा नहीं मिलता। वह एक समृद्ध हिंदू जमींदार था। उसने मुझसे कहा– 'मेरे 12 बच्चे हुए थे। 10 लड़कियां थीं। पर, मैंने उन्हें जिंदा नहीं रखा। उनका बोझ कौन सहन कर सकता था। दो लड़के अवश्य मैंने जीवित रखे हैं।'

इसी तरह की स्पष्टवादिता का एक दृष्टांत भरतपुर में बंदोबस्त आयुक्त रहे, सर माइकल ओड्वायर ने अपनी किताब में दिया है। उन्होंने लिखा है– [1]

> 'महाराजा की बहिन का विवाह पंजाब के एक बड़े सरदार के साथ होने वाला था। महाराजा नाबालिग थे। पर उनके परिवार ने ऐसे आयोजनों पर खर्च के लिए 30 हजार पाउण्ड से 40 हजार पाउण्ड स्वीकृत कराने का दबाव बनाया। राज्य परिषद के स्थानीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। किन्तु, उस समय रियासत का संचालन ब्रिटिश सरकार के अधीन होने के नाते मैंने और राज्य के राजनीतिक एजेंट ने इस फिजूलखर्ची का विरोध किया। अंत में मामला पूरी परिषद में विचार के लिए रखा गया। मैंने परिषद के एक वृद्ध सदस्य से पूछा कि महाराजा की इससे पूर्व किसी पुत्री या बहिन की शादी में कितना धन स्वीकृत किया गया था? उसने इनकार में सिर हिलाते हुए कहा कि पहले ऐसा कोई अवसर ही नहीं आया।' मैंने कहा कि ऐसा कैसे हो सकता है? राज्य को बने दो सौ साल से भी ज्यादा हो गए हैं, और इसके 11 उत्तराधिकारी राजगद्दी पर बैठ चुके हैं, जिनमें पिता से पुत्र तक कोई भी गोद लिया हुआ नहीं है। क्या आप यह बताना चाहते हैं कि किसी महाराजा के कोई बेटी कभी हुई ही नहीं थी? उस वृद्ध सदस्य ने थोड़ा संकोच से कहा– साहब! आप हमारे रिवाजों को जानते ही हैं, फिर इसका कारण भी जरूर जानते होंगे। यहां लड़कियां पैदा तो हुई थीं। पर, उन्हें जिंदा नहीं रहने दिया गया। ...और सचमुच ऐसा ही था।'

किन्तु, यहां यह स्मरण दिलाना उचित होगा कि यह बात इतिहास के लगभग सभी जानकार जानते हैं कि शिशु-हत्या न सिर्फ आरंभिक नस्लों में, बल्कि ग्रीस और रोम में भी सामान्य बात रही है। सिर्फ उन जातियों को छोड़कर, जो ईसाई या मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित रही हैं। आज भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के कानून ने यह प्रथा बंद कर दी है, पर गुप्त तरीके से इसे मानना आसान है। यही वजह है कि अभी भी यह प्राचीन रिवाज देश के अनेक भागों में मौजूद है। [2]

इस तरह के मामलों के सही आंकड़े व्यावहारिक रूप से मिलने मुश्किल हैं; जैसा कि बाद में इस अध्याय में मालूम होगा। लेकिन, लड़कियों की प्राचीन आबादी के संबंध में संयुक्त राज्य जनगणना के अधीक्षक का यह वक्तव्य [3] काफी सावधानी से सारे फंदों से बचाते हुए तैयार किया गया है–

> 'मुझे लड़कियों के प्रति कोई सक्रिय घृणा होने का संदेह नहीं है। किन्तु, यदि लड़कियों से ऐसी कोई सक्रिय नफरत नहीं करता है, तो उनकी निष्क्रिय उपेक्षा अवश्य की जाती है। बेटे की देखभाल माता-पिता करते हैं और बेटी की देखभाल भगवान करता है। बेटी को अच्छे कपड़े नहीं पहनाए जाते हैं। जब वह बीमार होती है, तो उस पर ध्यान भी कम दिया जाता है। और जब ठीक होती है, तो खाना भी कम और खराब दिया जाता है। यह क्रूरता या उपेक्षा की वजह से नहीं है, बल्कि यह इस वजह से है कि बेटे को बेटी की अपेक्षा ज्यादा महत्व दिया जाता है। इसलिए, बेटे की देखभाल ज्यादा की जाती है। उसे स्वादिष्ट भोजन दिया जाता है और उस पर ज्यादा खर्च भी किया जाता है। जबकि बेटी को तीनों (माता, पिता और पुत्र) के खाने के बाद जो बचता है, उसी से उसे संतुष्ट रहना पड़ता है। यह इसी का परिणाम है कि एक और पांच वर्ष के बीच की लड़कियों की मृत्यु दर उस आयु के लड़कों की मृत्यु दर से अधिक रहती है।'

लोगों के लिए लड़कियां नामुराद होती हैं। इस व्यवहार को मैंने स्वयं बंगाल के एक अस्पताल में देखा था। वह पांच या छह साल की बच्ची थी, जिसका सिर कुएं में गिरने से फट गया था। उसकी मां खून से लथपथ बच्ची को गोद में उठाकर बदहवास हालत में उसे उपचार के लिए अस्पताल ले आई थी। एक या दो दिन में उसे टिटनेस हो गया और अब बच्ची मृत्यु के दरवाजे पर थी। उसकी पीड़ा देखी नहीं जाती थी। लेकिन, तभी जब उसकी मां दुःख और भय की मूर्ति बनी बच्ची से चिपटी हुई बुदबुदाती हुई भगवान से उसके ठीक होने की प्रार्थना कर रही थी और अंग्रेज महिला डॉक्टर उसका इलाज कर रही थी। अचानक एक बंगाली बाबू उसके पास आकर खड़ा हो गया, जो कोई साधारण कर्मचारी

या क्लर्क लगता था।

उसने डॉक्टर से कहा– 'मिस साहिब, मैं अपनी पत्नी को लेने आया हूं।'

'तुम्हारी पत्नी?'—डॉक्टर सख्ती से चिल्लाई। बोली– 'देखो अपनी पत्नी की हालत को। यह है तुम्हारी बच्ची, देखो इसे। तुम क्या कहना चाहते हो?'

उसने कहा– 'मैं यह कहना चाहता हूं कि मैं अपनी पत्नी को तुरंत घर ले जाने आया हूं, ताकि यह अपने वैवाहिक दायित्वों को पूरा करे।'

'लेकिन यदि इसकी मां चली जाएगी, तो तुम्हारी बच्ची मर जाएगी। तुम उन्हें अलग नहीं कर सकते, समझे!' और बच्ची दर्द में भी मां के जाने की खबर सुनकर डर से मां से चिपटकर बिलखने लगी थी।

वह स्त्री फर्श पर अपने घुटनों के बल बैठकर अपने दोनों हाथों से अपने पति के पैरों पर सिर रख कर साष्टांग मुद्रा में लेट गई और उसके पैरों की धूल को अपने माथे पर लगाकर गिड़गिड़ाने लगी– 'मेरे मालिक! मेरे मालिक!!, दया करो।'

'मैं कहता हूं, मुझे तेरी जरूरत है। फौरन चल। तूने मुझे अकेला छोड़ दिया है।' –उसने कहा।

'मेरे मालिक! छोटी बच्ची है। मेरे मालिक!' – स्त्री फिर गिड़गिड़ाई।

उसके पति ने उस विनम्र मूर्ति को अपने पैर से जोर का धक्का दिया और यह कहकर कि मुझे जो कहना था, कह दिया। वह बिना उसे देखे, मुड़कर बाहर धूप की रोशनी में चला गया।

जैसे ही स्त्री उठी, बच्ची ने चीख मारी।

डॉक्टर, जो वर्षों से इस तरह की बातें देखती आई थी, चिल्लाकर बोली– 'तुम क्या उसका कहना मानोगी?'

स्त्री ने सिसकते हुए कहा– 'मैं न मानने की हिम्मत नहीं कर सकती।' और उसने अपने मुंह पर चादर डाली और वह अपने पति के पीछे निरीह और कातर पशु की तरह दौड़ती हुई चली गई।

जो लड़की अपने नौंवें या 12वें साल में—या उससे भी पहले—अपने पति के घर चली जाती है, उसे किताबों से कुछ सीखने का न समय मिलता है और न अवसर। लेकिन, वह दो चीजें जरूर सीख लेती हैं—एक, पति की सेवा करने का धर्म और दूसरी, अपने देवताओं और प्रेतों की मनौती का धर्म। पति के प्रति स्त्री का क्या धर्म है? इसका वर्णन प्राचीन 'पद्मपुराण' [4] में मिलता है, जिसका अनुवाद इस प्रकार है– [5]

> 'स्त्री के लिए उसके पति के सिवा कोई दूसरा भगवान पृथ्वी पर नहीं है। उसके लिए सबसे श्रेष्ठ धर्म यह है कि वह अपने पति को खुश रखने के लिए उसकी हर आज्ञा का पालन करे। उसी के अनुसार चलना उसके जीवन का एकमात्र नियम होना चाहिए। पति कैसा भी हो– लूला-लंगड़ा, वृद्ध, बीमार या अपराधी, क्रोधी, विलासी, दुराचारी, शराबी और जुआरी भी; वह भले ही बदनाम जगहों पर जाता हो और दूसरी स्त्रियों के साथ खुलेआम व्यभिचार करता हो। भले ही उसे अपने घर से कोई लगाव न हो। उसका व्यवहार भले ही पागलों की तरह हो। भले ही समाज में उसकी कोई इज्जत न हो। वह अंधा हो, बहरा हो, गूंगा हो या बोलने में हकलाता हो। मतलब यह कि उसमें कितनी ही बुराइयां और दुष्टता हो सकती है। पर, पत्नी को उसे हमेशा अपने भगवान के रूप में देखना चाहिए। पूरी श्रद्धा से उसकी देखभाल करनी चाहिए। उसके चरित्र पर ध्यान दिए बगैर, उसे अप्रसन्न करने का कोई अवसर नहीं देना चाहिए।
>
> 'एक पत्नी को उसके पति के भोजन कर लेने के बाद ही भोजन करना चाहिए। यदि पति उपवास रखता है, तो पत्नी को भी उपवास रखना चाहिए। यदि पति भोजन को नहीं छूता है, तो पत्नी को भी नहीं छूना चाहिए। यदि पति कष्ट में है, तो पत्नी को भी कष्ट में रहना चाहिए। यदि पति खुश है, तो पत्नी को भी उसकी खुशी में शामिल होना चाहिए। और पति की मृत्यु होने पर पत्नी को भी उसी चिता में जलकर मर जाना चाहिए। तभी हर कोई उसका गुणगान करेगा।'
>
> 'यदि पति गाता है, तो पत्नी को उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। यदि पति नाचता है, तो पत्नी को उसे देखकर हर्षित होना चाहिए। और यदि पति ज्ञान की बात करे, तो पत्नी को उसे सुनकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। पति की उपस्थिति में पत्नी को हमेशा आनंदित रहना चाहिए। और कभी भी उसके सामने अपने चेहरे पर दुःख का भाव नहीं लाना चाहिए।'
>
> 'पत्नी को इस बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि वह अपने माता-पिता के विषय में जिक्र करके या उस दूसरी औरत के विषय में बात करके, जिसे उसका पति घर में रखना चाहता है या पति की किसी बात पर नाराज होकर घर में झगड़ा करने से बचे। यदि इन कारणों से पत्नी घर छोड़ती है, तो लोग उसका उपहास करेंगे और बुरा-भला कहेंगे।'
>
> 'अगर पति आवेश में आकर पत्नी को धमकाता है। अश्लील गालियां देता है। यहां तक कि उसे अकारण पीटता भी है, तो भी पत्नी को उसका जवाब विनम्रता से देना चाहिए। उसका हाथ पकड़कर, उसे चूमे और उससे क्षमा मांगे। न कि जोर-जोर से चिल्लाये और घर से भाग जाए।'
>
> 'पत्नी के शब्दों और आचरण से यह साबित होना चाहिए कि वह अपने पति को भगवान मानती है। यदि वह यह सब करती रहेगी, तो हर कोई उसकी इज्जत करेगा और वह पतिभक्त और गुणी बनी रहेगी।'

जब आबे दुब्बा को मालूम हुआ कि आज 19वीं सदी में भी हिंदुओं में इस प्राचीन शास्त्र का नियम चल रहा है, तो उसने इसके पहलू को एक दार्शनिक सतर्कता के साथ तौलकर यह टिप्पणी की– [6]

> 'हिंदू परिवारों में सच्ची एकता, परस्पर प्रेम और शांति मिलना दुर्लभ है। इस देश में स्त्री और पुरुष के बीच नैतिकता की इतनी बड़ी खाई है कि यहां के लोगों की निगाह में स्त्री एक निष्क्रिय वस्तु की तरह है, जो सिर्फ पति की इच्छा और वासना की पूर्ति के लिए बनी है। वह एक ऐसे साथी के रूप में कभी नहीं देखी जाती, जो अपने पति से विचारों को साझा कर सके और पति उसकी सुरक्षा को महत्व दे तथा उससे प्यार करे। हिंदू पत्नी को पति के रूप में केवल एक गर्वीला और रौब गांठने वाला मालिक मिलता है, जो उसे उसका बिस्तर और घर साझा करने वाली एक खुशनसीब स्त्री के रूप में मानता है।'

आधुनिक विचारों के रबीन्द्रनाथ टैगोर इस विषय से निपटने में हमारे लिए एक और उपयोगी संकेत यह देते हैं कि हम हिंदू वक्ताओं और लेखकों के विचारों को अच्छी तरह स्वीकार करने में, उनके प्रत्यक्ष अर्थ को समझने में सतर्कता से काम लें। टैगोर कहते हैं– [7]

> 'विवाह के उद्देश्य के लिए सहज प्रेम होना अविश्वसनीय है। यदि प्रेम पैदा किया जाए, तो उसका अच्छा परिणाम होगा। और यह प्रेम विवाह से पूर्व ही पैदा होना चाहिए। इसलिए पति का विचार हमारी लड़कियों के समक्ष उनकी शुरू की अवस्था में ही अनुष्ठान और पूजा के माध्यम से गीतों और कथा में पहले ही आ जाता है। जब वे बड़ी होती हैं और उन्हें उनका पति मिलता है, तब वह उनके लिए एक व्यक्ति न होकर एक सिद्धांत होता है। जैसे—वफादारी, देशभक्ति या इसी तरह की किसी और चीज का सिद्धांत।'

देखते हैं कि एक सिद्धांत के रूप में यह विषय क्या हो सकता है। इस प्राचीन रिवाज का विवरण इस पुस्तक के आरंभ के पृष्ठों में मिल जाएगा, जिसमें हिंदू पति को वफादार या देशभक्त या किसी भी अमूर्त सत्ता के समान बताया गया है।

मि. गांधी बिना थके प्राचीन धार्मिक शिक्षा के अनुकरण की निंदा करते हैं। वह कहते हैं– 'एक शातिर व्यवस्था को जबरदस्ती बनाए रखने से

जाहिल और निकम्मे पुरुष भी स्त्रियों पर अपनी श्रेष्ठता का आनंद ले रहे हैं, जिसके वे काबिल नहीं हैं और न होने चाहिए।' [8]

किन्तु कमजोर, अज्ञानी और धर्मांध लोगों में दसियों शताब्दियों से जड़ जमाए बैठी इस व्यवस्था को एक या दो शताब्दियों में नहीं उखाड़ा जा सकता। और न ही किसी एक पैगम्बर के कोप से इसे हिलाया जा सकता है। हालांकि, उस पैगम्बर का आदर होगा। स्त्रियों की स्थिति और आचरण से संबंधित प्राचीन कानून के सामान्य नियम अभी भी विशाल हिंदू बहुमत के बीच व्यावहारिक रूप से सर्वोच्च बने हुए हैं।

पुराण संहिता में सास के प्रति भी वधू (बहू) के धर्म को बताया गया है। उसी की बुनियाद पर प्रत्येक स्त्री का जीवन भयानक रूप से निर्भर करता है। हिंदू विवाह एक नए घर में जाने को नहीं कहता है। बल्कि, इसके विपरीत वह छोटी वधू को उसके पति के माता-पिता के घर से जुड़ने को कहता है, जो पहले से मौजूद होता है। वहां वह वधू तुरंत सास की एक नौकरानी के रूप में स्वीकार कर ली जाती है और उसी के इशारे और पुकार पर जिंदा रहती है। वह ससुर और ननद की हर इच्छा पूरी करती है, वह उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती। उसके मस्तिष्क में यह विचार आ ही नहीं सकता कि वह विरोध भी कर सकती है और उसे भी स्वतंत्रता चाहिए। उसका जीवन सिर्फ सेवा के लिए है। उसकी सास अक्सर कठोर होती है, जो उस पर दया और प्रेम किए बिना हुकूमत करती है। और यदि वह लगातार लड़कियां पैदा करती है, तो उस सास की जुबान मूसल बन जाती है, उसके हाथ घूंसे बन जाते हैं। और उसकी प्रतिहिंसक चेतना उस पीड़िता के जीवन को नई बहू लाने की धमकी से बेदम बना देती है। क्योंकि, हिंदू रिवाज के अनुसार—नई बहू लाकर उसे त्यागा भी जा सकता है और गुलाम भी बनाया जा सकता है।

मैंने ग्रामीण इलाकों में अपने सर्वे के दौरान अक्सर सुना है कि 14 और 19 वर्ष की आयु के बीच की अनेक लड़कियां आत्महत्या कर लेती हैं। पुलिस रिकॉर्ड में ऐसी अनगिनत आत्महत्याओं का विवरण दर्ज है, जिनका एक ही कारण पुलिस ने लिखा है– 'पेट में दर्द और सास के साथ झगड़ा।'

आज के उच्च हिंदू परिवारों में पति के साथ पत्नी का कैसा संबंध है, इसका वर्णन एक प्रसिद्ध भारतीय स्त्री मिस कोर्नीलिया सोराबजी ने, जिनकी हर वर्ग की स्त्रियों के बारे में अच्छी और गहरी जानकारी है, इस प्रकार किया है– [9]

> 'स्त्री अपने पति की मुख्य पुजारिन होती है। वही उसका धर्म है और उसी में उसको आनंद आता है। वह सभी धार्मिक, मानसिक और सामाजिक कार्यों में पति से नीचे रहती है। वह पति के प्रति विनम्र और भक्तिभाव से भरी होती है। पर, उसके जीवन के मंगल कार्यों में भाग नहीं ले सकती। उसकी बस दो ही आकांक्षाएं होती हैं– एक, पति की मां यानी सास की सेवा करना; जिसकी वह मुख्य नौकरानी होती है और दो, पति के लिए पुत्र पैदा करना। भारत में विवाह का संपूर्ण आदर्श सामान्यत: जीवन की इसी अवधारणा (संतानोत्पत्ति) में सिमटा हुआ है। उसमें सामुदायिक हित और साहचर्य कभी शामिल नहीं हुए। जब पति भोजन करता है, तो पत्नी नीची आंखें किए उसके सामने खड़ी रहती है। उस वक्त पति के चेहरे को देखना भी उसकी धृष्टता है।'

मिस सोराबजी आगे और भी लिखती हैं– [10]

> 'जब स्त्री पुत्र पैदा कर मां बनती है, तो घर की औरतें उसकी इज्जत करने लगती हैं। तब वह सफल हो जाती है। उसका जीवन सफल हो जाता है। इससे उसके भीतर आत्मसम्मान पैदा होता है, जो उसके लिए बहुत मायने रखता है। वह अपने पति की गुलाम अब भी है। लेकिन, हिंदू स्त्रियों में भी अब उसकी जगह एक व्यक्ति के रूप में बन गई है। उसका सिर उन स्त्रियों के सामने ऊपर उठ गया है, जो उसे ताने मारती थीं। उसके दिल का भय निकल गया है और वह उनके बराबर हो गई है।'

शिक्षित, संपन्न और प्रमुख हिंदू स्त्रियों में एक पत्नी का यही सामान्य चित्र है। इसी तरह की कई घटनाओं में से एक घटना मैंने साधारण घरों में भी देखी थी। चूंकि रूढ़िवादी हिंदू स्त्री को—जो किसी भी वर्ग की हो—अपने पूर्वजों और देवताओं के नियमों का पूरे गर्व के साथ पालन करना होता है। इसलिए, उसकी सामाजिक स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

यह घटना एक ऐसी स्त्री की है, जो दिल्ली के करीब के जिले के एक छोटे जमींदार की पत्नी थी। उसका पति असाधारण रूप से बुद्धिमान था, जिसने अपनी पत्नी को उसके पहले प्रसव के समय ही अस्पताल भेजा था। लेकिन, उसने उसे इतने विलंब से भेजा था कि उस प्रसव में उसके मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ।

अगले वर्ष भी यही कहानी हुई। उसे विलंब से अस्पताल लाया गया और ऑपरेशन करके बच्चा निकाला गया। पर, बच्चा नहीं बच सका। तीसरी बार वह जमींदार पिछले अनुभव से सीखकर अपनी पत्नी को समय पर अस्पताल लेकर आया। जैसे ही वह स्त्री ऑपरेशन के बाद बेहोशी से वापस आई, युवा अंग्रेज नर्स ने उसके पास झुककर उसे खुशखबरी दी–

'छोटी मां! बधाई हो, छोटी मां! अपने बच्चे को नहीं देखोगी? क्या तुम अपने लड़के को नहीं देखोगी?'

उसने तकिए में अपना सिर छिपा लिया और बेहोशी में ही निराश होकर धीमे से कहा–

'मरे हुए बच्चे को कौन देखेगा? मैं बहुत बार, बहुत बार देख चुकी हूं... मरा हुआ, मरा हुआ।'–यह कहकर वह खामोश हो गई। उसकी भारी पलकें बंद हो गईं।

तब सिस्टर (नर्स) ने बच्चे को उठाया। बच्चे ने किलकारी मारी।

और तत्काल स्थिति बदल गई। इतनी जल्दी कि किसी को पता भी नहीं लग सका। बिस्तर पर लेटी हुई उस निर्जीव प्रतिमा में हलचल हुई। उसकी बड़ी काली आंखों में चमक आ गई। बच्चे की चाहत में उसकी पतली बाहें ऊपर उठ गईं। यह शायद उसके पूरे जीवन में पहला अवसर था, जब वह आदेश दे रही थी।

उसने एक सम्राज्ञी की तरह सशक्त आवाज में कहा– 'मेरा बेटा मुझे दे दो। तुरंत मेरे गांव में मेरे बेटे के पिता को खबर भिजवा दो। मैं उन्हें देखना चाहती हूं।' अब सब बदल गया था। वह गरिमा और आत्मसम्मान से भर गई थी और महत्वपूर्ण हो गई थी।

पिता आया। सारे संबंधी आए और मक्खियों के झुंड की तरह उस छोटे से कमरे में—जो भारतीय महिला अस्पतालों में प्रत्येक प्राइवेट कमरे के साथ बना होता है—जमा हो गए। वे दर्जन भर लोग उस 15 फुट चौड़े और 20 फुट लंबे कमरे में 10 दिन तक डटे रहे। और 10वें दिन वे एक विजयी जुलूस के रूप में मां और उसके बेटे को लेकर अपने गांव चले गए।

एक मां अमीर हो या गरीब, उच्च जाति की हो या निम्न जाति की; वह अपने बेटे को ईश्वर की प्रतिमा की तरह मानती है। पर, उसके पास उसे सिखाने के लिए कुछ नहीं है। वह उसे छुआछूत जैसी निषिद्ध बातें भूत-प्रेत का ज्ञान, तथा अदृश्य जगत की शक्तियों को संतुष्ट करने वाले घरेलू

अनुष्ठानों के अलावा कुछ नहीं सिखाती है। वह उसे कभी अनुशासन नहीं सिखाएगी। क्योंकि, वह खुद भी इस शब्द का अर्थ नहीं जानती है। वह उसे वासना या आवेग या इच्छाओं पर नियंत्रण करना कभी नहीं सिखाएगी। वह तो यह भी नहीं जानती कि उसे कैसे पाला और बड़ा किया जाता है? वह उसे भोजन देने का एक ही मतलब समझती है कि उस छोटे सांवले-सलोने को इतना ठूंस-ठूंसकर खिलाया जाए कि उसकी कमीज का बटन टूट जाए। इस प्रकार वह अपने बचपन में उसी प्रकार बड़ा होता है, जिस प्रकार उसका पिता अपने बचपन में बड़ा हुआ था।

फिर भी जब लड़का स्वयं विवाहित जीवन में आता है, तो वह अपनी मां को अपनी पत्नी से ज्यादा सम्मान देता है और अक्सर अपनी मां के प्रति अपने सच्चे प्यार और श्रद्धा को प्रदर्शित करता है। उसी समय वह स्त्री अपना अधिकार पाती है और सख्ती से घर में शासन करती है। वह मजबूती से पुरानी परंपराओं को बनाए रखती है और अपने खुद के पिछले दुःखों को भूलकर, अपनी नन्हीं बहुओं के कमजोर कंधों पर अपना वह सारा बोझ डाल देती है, जो कभी उसकी सास ने उसके कमजोर कंधों पर डाला था। वह अपनी बहुओं पर उसी तरह क्रोध करती है, जैसे जवानी में उसकी सास उस पर करती थी। किन्तु, शायद अभी उसके लिए एक और उच्चतर पद शेष है। प्रत्येक पोते के साथ, जो उसकी गोद में बैठा दिया जाता है, उसकी इज्जत और बढ़ जाती है। परिवार की वंश-बेल चल पड़ती है। उसके पति की आत्मा सुरक्षित हो जाती है। वह स्त्रियों के बीच गौरव का अनुभव करती है और देवताओं को धन्यवाद देती है।

---

[1] इंडिया एज आई नो, सर माइकल ओ'डायर, कांसटेबल एंड कं., लि., लंदन, 1925, पृष्ठ-102
[2] देखिए, सेंसस ऑफ इंडिया, वॉल्यूम-1, पार्ट-1, 1921, परिशिष्ट-6 और दि पंजाब पीजेन्ट इन प्रोसपैरिटी एंड डेप्ट, एम.एल. डारलिंग, ऑक्सफोर्ड, 1925, पृष्ठ-58, 59
[3] सेंसस ऑफ इंडिया, 1911, वॉल्यूम-16, पृष्ठ-190
[4] पुराण—प्रचीन धार्मिक काव्य, जो हिंदुओं के बाइबिल हैं।
[5] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, पृष्ठ-344 से 349
[6] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, पृष्ठ-231
[7] दि बुक ऑफ मैरिज, केसरलिंग, पृष्ठ-112,13
[8] दि इंडियन सोशल रिफॉर्मर, 29 अक्टूबर 1922, पृष्ठ-135
[9] बिटवीन दि ट्विलाइट्स, कोरनीलिया सोराबजी, हार्पर ब्रदर्स, लंदन, 1908, पृष्ठ-125 से 32
[10] वही, पृष्ठ-45, 46

अध्याय 7

पाप की कीमत

अभिशप्त हिंदू विधवा का चित्र एक दूसरा ही दृश्य दिखाता है। स्त्री का वैधव्य उसकी इतनी भयानक नियति है कि उसे उसके पूर्व जन्म के पापों का फल माना जाता है। उसे अपने पति की मृत्यु के समय से अपने खुद के जीवन के अंतिम समय तक उन पापों का प्रायश्चित करना पड़ता है। कभी लांछन सहकर, कभी यंत्रणा झेलकर और कभी आत्मबलिदान देकर। उसके हर विचार में उसके मृत पति की आत्मा की सेवा ही उसका उद्देश्य है। वह चाहे तीन साल की बच्ची हो, जो विवाह के बंधनों के बारे में कुछ भी नहीं जानती है या अपने पति के संग रहने वाली वयस्क पत्नी -दोनों की स्थिति समान है। पति की मृत्यु होते ही वह पापी और मनहूस करार दे दी जाती है। उसे खुद भी यही लगने लगता है और जब वह सोचने की उम्र में पहुंचती है, तो मान लेती है कि उसके भाग्य में यही लिखा है। मिस सोराबजी इस विषय में कहती हैं– [1]

> 'एक सनातनी हिंदू विधवा अपने वैधव्य के दुःख को उसी तरह खुशी-खुशी सहन करती है, जैसे कोई शहीद अपना बलिदान देता है। किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं है, जो उसके दुःखों को कम कर सकती है। उसके स्वीकार करने से भी उसके दुःख कम नहीं होते हैं। क्योंकि, (यह माना जाता है कि) पिछले जन्म में उसने कुछ पाप किए थे; उसी के कारण देवताओं ने उससे उसका पति छीन लिया है। अब उसके लिए यही काम रह गया है कि वह अपने शेष जीवन में पति के मोक्ष के लिए प्रार्थना और प्रायश्चित करे, ताकि अगले जन्म में उसके पति को अच्छा स्थान मिल सके। और सास के लिए भी उसे कोसने का ही काम रह गया है–यह अभागी अगर नहीं आती, तो उसका पुत्र अभी भी जिंदा होता। हालांकि, सास के इस व्यवहार में विधवा के लिए कोई द्वेषभाव नहीं रहता है। क्योंकि, कोसने वाली सास भी उतनी ही अभागी है, जितनी कि बहू; जिसे वह कोसती है। यह कहना आसान है कि विधवा के प्रति कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता है। पर, उसे बुरा-भला कहते रहना भी विशेषाधिकार समझा जाता है और उससे हर अच्छा-बुरा काम भी खूब लिया जाता है।'

एक विधवा स्त्री अपने स्वर्गीय पति के घर में हर व्यक्ति के लिए दासी की तरह काम करती है। सारे ही कठोर और गंदे काम उसी से कराए जाते हैं। उसे न आराम करने दिया जाता है और न उसे सुख मिलता है। उसे दिन में एक बार खाने को दिया जाता है और वह भी घटिया। उसे कठोर व्रत रखने पड़ते हैं। उसके सिर के बाल मुड़वा दिए जाते हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह किसी समारोह, मांगलिक कार्य, वैवाहिक या धार्मिक अनुष्ठान में शामिल न हो। और किसी गर्भवती स्त्री तथा उस व्यक्ति के सामने न आए, जिस पर उसकी झलक पड़ने से उनका नुकसान हो सकता है। अगर किसी को उससे बोलना या बात करना होता है, तो वे उसे उलाहना भरे शब्दों से ही बोलते-पूछते हैं। वह खुद ही अपने दुःखों की पुजारिन होती है और इसी दुःखमय जीवन को जारी रखना उसका एक मात्र पुण्य कार्य रह जाता है।

एक प्राचीन फ्रांसीसी यात्री बर्नियर लिखता है कि विधवाओं को इसलिए कष्ट दिए जाते थे, ताकि आसानी से पत्नियों को नियंत्रण में रखा जा सके। वे पतियों की बीमारी के समय उनकी खूब सेवा करें और अपने पतियों को जहर देने से डरें।' [2]

किन्तु, एक बार मैंने भी यह बात एक हिंदू के मुंह से सुनी थी। उसने खुलकर कहा था– 'हम अपनी पत्नियों को अक्सर इसलिए, दुःखी रखते हैं, क्योंकि हमें यह डर रहता है कि कहीं वे हमें जहर न दे दें। इसलिए हमारे ज्ञानी पुरखों ने विधवाओं को भयानक रूप से दंडनीय बनाया था, ताकि कोई भी स्त्री जहर देने का साहस न कर सके।'

भारत के अनेक भागों की जेलों में मैंने महिला कैदियों के वार्डों में कुछ ऐसी महिलाओं को देखा है, जो अपने पतियों की हत्या के जुर्म में सजा काट रही थीं। ऐसे मामले दुर्लभ मानसिकता के हो सकते हैं और शायद उन्माद (हिस्टीरिया) के भी। क्योंकि, सती की घटनाएं भी यहीं पर होती हैं, जहां नई विधवा अपने कपड़ों पर तेल उड़ेलकर आग लगाकर मर जाती है। और इस काम को वह सबसे छिपकर करती है। ऐसा शायद वह इसलिए करती है, क्योंकि वह विधवाओं की नियति देख चुकी है। वह जानती है कि उसे नौकरानी और दासी बना दिया जाएगा। उसे भूखा रखा जाएगा। उस पर तमाम पाबंदियां लगाई जाएंगी और उसका यौन-शोषण भी होगा। और इससे बचने का उसके पास एक पवित्र उपाय यही है कि वह 'इस दैवी नियम को अपना ले।' विदेशियों के बनाए हुए तमाम कानूनी निषेधों के बावजूद वह सती की धर्मसम्मत प्रथा को अपनाकर वर्तमान नरक से बच जाती है और अपने अच्छे पुनर्जन्म की आशा करती है।

यद्यपि शास्त्रों के अनुसार (जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं), मृतक पति के शव के साथ जीवित पत्नी को जलाना आवश्यक है। परंतु, आजकल यह गैर-कानूनी है। किन्तु, ध्यान देने योग्य है कि यह परिवर्तन केवल एक अपवाद स्वरूप है। इससे यह न समझना चाहिए कि जनता का मत बदल गया है। यह असल में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय धर्मों के क्षेत्र में असाधारण हस्तक्षेप किया है। ब्रिटिश गवर्नर ने लगभग 29 वर्ष पहले ही—जब भारत का शासन प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन के ताज के अधीन नहीं आया था—सती प्रथा पर रोक लगा दी थी। [3] तब प्रगतिशील भारतीय नेता राजा राममोहन राय ने उस कानून का समर्थन किया था। लेकिन, बंगाल के अन्य भद्रजनों ने उसका भारी विरोध किया था। यहां तक कि उन्होंने सती प्रथा के पक्ष में अंतिम उपाय के रूप में लंदन की प्रिवी काउंसिल में भी लड़ने में संकोच नहीं किया था।

क्या यह सोचा जा सकता है कि अगर अवसर दिए जाएं, तो इस प्रथा की सूख चुकी जड़ें फिर से हरी-भरी हो सकती हैं? मि. गांधी के 11 नवंबर 1926 के साप्ताहिक 'यंग इंडिया' में एक हिंदू लेखक लिखता है कि अगर मरते समय पति अनुमति न दे, तो आज भी विधवा का पुनर्विवाह संभव नहीं है। कोई भी धर्मपरायण पति ऐसी अनुमति नहीं देगा। यही लेखक आगे लिखता है– 'विवाह की अनुमति देने के बजाय यदि उसकी पत्नी सती होना चाहे, तो वह इसे ज्यादा पसंद करेगा।'

पति की मृत्यु के समय पत्नी पति के घर में रहती थी। पर, विधवा हो जाने के बाद पति के घर में रहने का उसका कोई कानूनी दावा नहीं रह जाता है। वह वहां ऊपर वर्णित शर्तों के अधीन ही रह सकती है या उसे असहाय अवस्था में बाहर निकाला जा सकता है। तब उसे दूसरों के दान पर जिंदा रहना होगा या वह वेश्यावृत्ति से जीविका चलाएगी; जैसा कि अक्सर होता है। प्राय: ये विधवाएं मंदिर की भीड़ में या तीर्थ स्थलों की गलियों में, सूखे चेहरे और घुटे हुए सिरों में—जिन पर अभागे बुढ़ापे के कारण सफेद खूंटी वाले सख्त बाल दिखाई देते हैं—भीख मांगती हुई मिल जाती हैं। जहां कभी-कभी कुछ कंजूस भक्त उन्हें मुट्ठी भर चावल खैरात कर देते हैं।

जहां तक विधवा के पुनर्विवाह का प्रश्न है, तो वह सनातनी हिंदू धर्म में असंभव है। विवाह वहां व्यक्तिगत चीज नहीं है, बल्कि एक शाश्वत बंधन है। और यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हिंदुओं का विशाल बहुमत मूल रूप से सनातनी है। वह विधवा भले ही छोटी बच्ची हो, जिसके लिए मरने वाला व्यक्ति अजनबी हो। यानी जिसे उसने देखा तक न हो, तो भी उसे यह बताया जाएगा कि उसके पापों के कारण ही उसके पति की मृत्यु हुई है। अथवा वह विधवा 20 साल की हो और वह पति के साथ सहवास कर चुकी हो और साथ खा चुकी हो, तो भी सनातनी हिंदू उसका पुनर्विवाह नहीं होने देंगे। हालांकि, चाहे उसे कोई न माने, किन्तु हाल के वर्षों में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव ने धीरे-धीरे कुछ जागृति

पैदा की है। भारत के विभिन्न भागों में अनेक संस्थाएं प्रकट हुई हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य कुंवारी विधवाओं का पुनर्विवाह कराना है। किन्तु, यह आंदोलन हिंदू समाज के प्रगतिशील तबके तक ही सीमित है। और उनका प्रभाव इतना कम है कि उससे विधवाओं की संख्या में कोई कमी आई है- यह नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में आबे दुब्बा के एक शताब्दी पहले के विचार आज भी सही लगते हैं। उन्होंने कहा था कि 60 वर्ष के पुरुष के साथ एक छोटी बच्ची का विवाह करने और उस पुरुष की मृत्यु के बाद उस बच्ची का पुनर्विवाह न होने देने का मतलब यही होगा कि उसे विधवा के रूप में एक दुराचारी जीवन में धकेल दिया जाएगा। फिर भी विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। एब कहते हैं– 'अगर पुनर्विवाह की अनुमति मिलती भी, तो यह अजीब बात है कि इसमें ब्राह्मण छोटी उम्र की बाल-विधवाओं को ही पुनर्विवाह के लिए पसंद करते, जिससे इस तरह की अनुमति से विधवाओं को ही लाभ नहीं होता।' [4]

जिस सामाजिक ढांचे की युवा विधवा अंग है, उसमें युवा विधवा के प्रभाव का आकलन करने के लिए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह बचपन से काम-उत्तेजना के उसी वातावरण में पली है, जिसमें उसके भाई पले हैं। जो लड़की इस तरह के वातावरण में पाली गई हो और जिसकी कामवासना को इस प्रकार तेज किया गया हो, फिर उसके विधवा होने पर उसके पुनर्विवाह पर रोक लगाकर अगर उसकी कामाग्नि को रोका जाएगा; तो क्या यह आश्चर्यजनक न होगा कि वह अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए सामाजिक मान-मर्यादा और नियमों की परवाह नहीं करेगी? इसलिए, मृतक पति के परिवार के लोग अपनी इज्जत की खातिर उस पर रोक लगाते हैं। और बहुत शायद ही ऐसा होता हो, जब उस पर नियंत्रण करने की जरूरत न पड़ती हो। क्योंकि, उसके भीतर का आत्मबलिदान की भावना ही उसे रोकने के लिए पर्याप्त हो। किन्तु, भारतीय नेता बार-बार इसके विरुद्ध ही उदाहरण देते हैं। स्वराजवादी नेता लाला लाजपत राय कहते हैं– [5]

> 'बाल-विधवाओं की स्थिति वर्णन से परे है। ईश्वर उनका भला करे, जो उनके पुनर्विवाह के विरोधी हैं। किन्तु, उनके अंधविश्वास के कारण बहुत-सी बुराइयां पैदा होती हैं और इतना नैतिक तथा शारीरिक कष्ट बढ़ता है कि संपूर्ण समाज में अपंगता आ गई है, जो उसके जीवन के संघर्ष में बाधा है।'

मि. गांधी बाल-विवाह तथा बाल-विधवा के संबंध में एक अन्य भारतीय लेखक से सहमत होते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं– 'इस प्रथा से प्रतिवर्ष हजारों बाल-विधवाएं पैदा हो रही हैं, जिनके कारण समाज में व्यभिचार और घातक बीमारियां फैल रही हैं।' [6]

लोग इस प्रथा के विरुद्ध बातें करते हैं और इस प्रथा को बंद करने के लिए अपनी जातीय तथा अन्य संस्थाओं के सम्मेलनों में प्रस्ताव भी पास करते हैं। किन्तु, उनमें भी बाल विधवाओं का पुनर्विवाह इतना कम होता है कि एकाध पुनर्विवाह की खबर भी सुधारवादी अखबारों में सुर्खी बन जाती है। जबकि, हिंदू-विधवा पत्नी के पुनर्विवाह का विचार अभी भी अकल्पनीय ही है।

यह दिलचस्प है कि एक ओर जिन विचारों का प्रभाव अत्यंत मजबूती के साथ स्त्री की स्वतंत्रता की दिशा में बढ़ता है, तो दूसरी ओर उसका जोर उसे और ज्यादा गुलाम बनाने पर भी रहता है। यद्यपि, ब्रिटिश रिवाज और पश्चिम की शिक्षा के कारण उच्च स्तर के नेताओं में प्राचीन अंधविश्वासों के खिलाफ असंतोष बढ़ता जाता है। परंतु, अंग्रेजों के सार्वजनिक कार्यों, उनकी सफाई व्यवस्था और कृषि क्षेत्र के विकास के कारण निम्न वर्गों की आर्थिक स्थिति में धीरे-धीरे उन्नति हो रही है; जिससे उनमें अपना सामाजिक स्तर ऊपर उठाने वाले लोगों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ रही है। इसी कारण से, जैसा कि 1921 की जनगणना से मालूम होता है—समाज के निम्न वर्गों में भी—विधवा के पुनर्विवाह पर धीरे-धीरे रोक लगती जा रही है। जबकि यह प्रतिबंध उनमें पहले नहीं था। हिंदू जाति के अमीर लोग पूरी तरह सांसारिक संपत्ति पर आत्मनिर्भर होते हैं। किन्तु, निचले स्तर से जो आदमी अचानक ऊपर उठ जाता है और सुख से रहने लगता है, वह पहला काम यही करता है कि संपन्न लोगों के व्यवहार का अनुकरण करना शुरू कर देता है। वह सामाजिक नकलची हो जाता है। ऐसे नकलची भारत में भी अमेरिका से कम नहीं हैं। पर दुर्भाग्य से ऐसे लोग उच्च वर्ग के लोगों की बेड़ियां भी ग्रहण कर लेते हैं।

एक भारतीय अधिकारी, बड़ौदा के मि. मुकर्जी अनिवार्य वैधव्य की प्रथा को ध्वस्त करने के लिए इस प्रकार सुझाव देते हैं– [7]

> 'ऐसे सभी प्रयास तब तक असफल रहेंगे, जब तक कि हिंदुओं में विधवा-पुनर्विवाह का विरोध सम्मान का प्रतीक बना रहेगा। निम्न हिंदू जातियों में भी जो लोग सामाजिक रूप से समृद्ध हो गए हैं, वे विधवा-पुनर्विवाह का विरोध उसी तरह करते हैं, जिस तरह ब्राह्मण।'

बंगाल में प्रसिद्ध पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भारतीयों में बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह का आंदोलन चलाया था और उसे कानूनन वैध बनाने के लिए सरकार का समर्थन किया था। किन्तु, उन पर और उनके इस कार्य के परिणाम पर एक दूसरे प्रमुख भारतीय ने इस प्रकार अफसोस किया है– [8]

> 'मुझे खूब याद है कि उनके आंदोलन ने कितनी हलचल पैदा कर दी थी और किस तरह सनातनी हिंदू उसके विरोध में उठ खड़े हुए थे। हिंदू विधवाओं के उस नायक की मृत्यु उसी तरह निराशा में हुई, जिस तरह अन्य बहुत-से लोग, जो समय से पहले पैदा होते हैं अपना अधूरा संदेश छोड़कर मर जाते हैं। उनका आंदोलन 1891 में उनकी मृत्यु के बाद से ही धीमा हो गया है। अब नई पीढ़ी उभरी है। पर, उसमें उनके कार्य का उत्तराधिकारी कोई नहीं है। इसलिए, आज भी हिंदू विधवा की दशा बहुत कुछ वैसी ही है, जैसे 50 साल पहले थी। आज शायद ही उनके आंसुओं को पोंछने वाला और उनके जबरन वैधव्य को मिटाने वाला कोई हो। ऐसे लोगों की संख्या जरूर बढ़ गई है, जो विधवाओं के प्रति भावुक सहानुभूति रखते हैं और विद्यासागर की जयंती की सभाओं में चिल्लाकर बोलते हैं। परंतु, हिंदू विधवा के उस महान नायक के संदेश को पूरा करने का कोई प्रयत्न नहीं करते हैं।'

हमेशा सत्य बोलने वाले मि. गांधी कहते हैं– [9]

> 'छोटी लड़की पर जबरन वैधव्य लादना एक बर्बर अपराध है, जिसके लिए हम हिंदुओं को रोज दंड भोगना पड़ रहा है। ऐसे वैधव्य का किसी शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है। [10] यदि कोई स्त्री अपने मृतक पति से स्नेह के कारण स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकार करती है, तो ऐसा वैधव्य जीवन की सुंदरता और गरिमा बढ़ाता है और घर की शुद्धि करता है और धर्म को भी ऊपर उठाता है। पर धर्म या प्रथा के द्वारा वैधव्य को लादना असह्य गुलामी है। ऐसा वैधव्य घर को अशुद्ध करता है और धर्म का पतन करता है। जब 50 से ऊपर के वृद्ध और बीमार पुरुष छोटी लड़कियों के साथ विवाह करते हैं या उन्हें खरीदते हैं–और कभी-कभी एक-दूसरे से बढ़कर ऊंची कीमत लगाकर भी–तो क्या उनमें से किसी को भी हिंदू विधवाओं की हालत पर शर्म महसूस नहीं होती है?'

किन्तु, फिर भी यह एक व्यक्तिगत मत है; जनता का मत नहीं है। एक प्रसिद्ध भारतीय राजनेता ने मुझसे कहा– 'हमें अब गांधी के सिद्धांत नहीं चाहिए। गांधी एक भ्रमित व्यक्ति हैं।'

एक प्रख्यात भारतीय सर गंगा राम (सी.आई.ई., सी.वी.ओ.) ने सरकार की कुछ मदद से हिंदू विधवाओं के लिए लाहौर शहर में एक सुंदर आश्रम और स्कूल का निर्माण कराया है। 1926 में इस संस्था में 50 से अधिक विधवाएं थीं। बंबई प्रेसीडेंसी में विधवाओं और परित्यक्ता पत्नियों के लिए सरकारी सहायता प्राप्त पांच संस्थान हैं, जिनका संचालन लोकहित में भारतीय भद्रजन करते हैं। इस तरह की कुछ अन्य संस्थाएं भी हो सकती हैं। किन्तु अगर हैं, तो सरकार को अभी उनके बारे में जानकारी नहीं है। मैंने स्वयं बंगाल में नवद्वीप नामक तीर्थ नगरी

में एक विधवा आश्रम देखा था, जो स्थानीय लोगों के चंदे और तीर्थ में आने वाले यात्रियों के दान से चलता है। वह 14 साल पुराना था और उसमें आठ विधवाएं थीं। लगता है, उसकी क्षमता इससे ज्यादा की नहीं थी।

नवीनतम सरकारी गणना के अनुसार भारत में विधवाओं की कुल संख्या 2,68,34,838 है। [11]

---

[1] बिटवीन दि ट्विलाइट्स, पृष्ठ-144 से 146
[2] ट्रेवल्स इन दि मुगल इंपायर, 1656-1668 ई.प., फ्रोंस्वा बर्नियर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1916, पृष्ठ-310, 311
[3] देखिए, 1829 का रिजोल्यूशन
[4] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड, पृष्ठ-212
[5] दिसंबर 1925 में बंबई में हिंदू महासभा के सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण
[6] यंग इंडिया, 26 अगस्त 1926, पृष्ठ-302
[7] सेन्सस ऑफ़ इंडिया, 1921, वॉल्यूम-1, अध्याय-7, पैरा-134
[8] ए नेशन इन दि मेकिंग, सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1925, पृष्ठ-8, 9
[9] यंग इंडिया, 5 अगस्त 1926, पृष्ठ-276
[10] पवित्र हिंदू धर्म शास्त्र
[11] स्टेटिस्टिकल एबस्ट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया, 1914-15, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया पब्लिकेशन, 1925, पृष्ठ-20

अध्याय **8**

भारत माता

पंक्ति-दर-पंक्ति छोटी लड़कियां—जो सभी चार, पांच, छह या सात साल की हैं—जमीन पर पीतल की देवी के सामने पालथी मारकर बैठी हुई हैं। हरेक के सामने सुव्यवस्थित तरीके से कुछ चीजें रखी हुई हैं, जैसे—फूल, एक या दो मनके, एक फल; जो वे अपने घर से देवी को चढ़ाने के लिए लाई हैं। यह एक ऐसा स्कूल है, जहां भक्ति सिखाई जाती है। ये लड़कियां उस पूजा में प्रयोग होने वाले मंत्रों का पाठ याद कर रही हैं, जो धार्मिक अनुष्ठान के अनेक अवसरों पर हिंदू स्त्रियों के लिए जरूरी होता है। यही वे सब सीख रही हैं। यही सीखना उनके लिए आवश्यक है। अब वे एक स्वर में प्रार्थना कर रही हैं।

एक गंभीर चेहरे वाली हिंदू अध्यापिका से कोई पूछता है– 'वे किसके लिए प्रार्थना कर रही हैं?'

उसने जवाब दिया– 'कोई लड़की क्या पाने के लिए प्रार्थना कर सकती है? अगर वह विवाहित नहीं है, तो एक पति पाने के लिए। और अगर विवाहित है, तो अगले जन्म में अच्छा पति पाने के लिए।'

स्त्रियां सबसे पहले पतियों के लिए प्रार्थना करती हैं, उसके बाद पुत्र पाने के लिए। क्योंकि, पुरुषों को अपनी आत्माओं की मुक्ति के लिए पुत्रवान होना अनिवार्य है।

हिंदुओं के लिए पुत्र कितना महत्वपूर्ण है, इस संबंध में हम पहले ही हिंदुओं के सामान्य विचारों के कुछ प्रमाण दिखा चुके हैं। यदि भारतीयों की सक्षमता का व्यावहारिक सर्वे किया जाए, तो मुख्य बात—जिसका न खंडन किया सकता है और न छिपाया जा सकता है—यह पता चलती है कि हर श्रेणी का हिंदू अपने पुत्र पैदा होने के लिए जन्म के समय तमाम तरह के प्रबंध करता है।

हम भारत के अनेक भागों में महिला अस्पतालों की बात कर चुके हैं। हालांकि, वे स्त्री-रोगों के उपचार में बहुत बढ़िया काम कर रहे हैं। पर, जरूरत के हिसाब से वे अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। भारत की स्त्रियों की विशाल संख्या को देखते हुए यदि उनके घर के पास भी अस्पताल बना दिए जाएं, तो भी अधिकांश स्त्रियों को इलाज के लिए अस्पताल जाने के लिए राजी नहीं किया जा सकता।

एक आम भारतीय स्त्री को अपनी तकलीफ के दिनों में जिस चीज की जरूरत पड़ती है, वह दाई है; जिसके प्रयोग का यहां पुराना इतिहास है। और दाई कौन है? उसे सचमुच वह नहीं समझ सकता, जिसने उसे देखा ही न हो।

हिंदू रिवाज में एक जच्चा स्त्री को स्वस्थ होने तक अपवित्र माना जाता है। उस स्थिति में वह जिसे छूती है, वह भी अपवित्र हो जाता है। इसलिए, दाई का काम वही स्त्री करती है, जो स्वयं अपवित्र यानी अछूत वर्ग की होती है। सनातनी हिंदू इस अछूत वर्ग को उनके गंदे कामों के कारण ही अपवित्र मानते हैं और उनको छूने से बचते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदू रिवाज में इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि जच्चा स्त्री और उसके नवजात बच्चे को 'बुरी नजर' न लग जाए। इसलिए भारत के बहुत से भागों में वह स्त्री, जिसका बच्चा मर गया है और वह स्त्री, जिसका गर्भ गिर गया है; दाई का काम नहीं कर सकती है। इसका कारण शायद यह है कि वह दुर्भावना या ईर्ष्या से बच्चे की जान ले सकती है। दाई का काम कोई विधवा भी नहीं कर सकती है। क्योंकि, वह स्वयं अपशकुन मानी जाती है। हर जगह ये सारे नियम नहीं माने जाते। पर, अधिकांश बड़े भागों में ये माने जाते हैं।

इसके अलावा दाई के काम के लिए किसी तरह की शिक्षा लेने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। यह पेशा खास परिवारों में ही चलता है। जब किसी दाई की मृत्यु हो जाती है, तो उसकी बेटी या उसकी बहू उस पेशे को अपना लेती है। वह तुरंत काम शुरू कर देती है, भले ही उसने अपने पूरे जीवन में कभी किसी का प्रसव होते न देखा हो। [1] किन्तु, इन खास परिवारों से बाहर की स्त्रियां भी अगर चाहें तो दाई का काम कर सकती हैं। अगर वे अछूत जातियों से हैं, तो उन्हें काम न भी आता हो, तब भी उनके कहने मात्र से ही लोग उन्हें काम देने को तैयार हो जाएंगे।

इस प्रकार कुल मिलाकर तुम्हारे पास भारत की स्त्रियों के उस अत्यंत नाजुक, खतरनाक और महत्वपूर्ण जीवन के समय में उनकी सेवा करने के लिए ये गंदी और गरीबी में रहने वालीं अंधी, कानी, बूढ़ी, अपंग, लकवाग्रस्त और बीमार दाइयां ही हैं।

गर्भवती मां अपने बच्चे के आने की कोई तैयारी नहीं करती है। जैसे—उसके लिए छोटे-छोटे कपड़ों की तैयारी, आदि। यह जोखिम भरा है, क्योंकि वह समझती है कि देवता उस पर कृपा प्रदान करेंगे। किन्तु, वह जो काम कर सकती है और करती भी है, वह यह है कि वह परिवार के इस दौरान फटे-पुराने, गंदे, भद्दे और चिथड़े हो चुके कपड़ों को एक शेड या छोटे-से अंधेरे कमरे में इकट्ठा करती रहती है।

और जब प्रसव का समय आता है, तो वह युवा पत्नी उसी बदबूदार गंदे कमरे में चली जाती है। अब वह अपनी प्रसव पीड़ा में अपवित्र हो जाती है और वह जो कुछ भी छूती है, वह सब अपवित्र हो जाता है, जिसे उसके ठीक होने के बाद नष्ट कर दिया जाता है। इसलिए, कमखर्ची के नाम पर उसके पास केवल गंदी और खराब चीजें ही रखी जाती हैं और गंदे लोग ही उसके पास भेजे भी जाते हैं। उसे लेटने के लिए पुरानी चारपाई दी जाती है, जिसके पाए टूटे हुए होते हैं। वह चारपाई भी उसी अंधेरे कमरे में अगली बार के इसी कार्य के लिए खड़ी रहती है। अन्यथा मिट्टी के फर्श पर गोबर के उपलों या पत्थरों को बिछाकर उसी पर उसे लिटा दिया जाता है। और जब तक प्रसव का सारा काम समाप्त नहीं हो जाता, तब तक कोई भी उस जगह को बुहारने, साफ करने या धोने का प्रयास नहीं करता है। [2]

जब दर्द शुरू होता है, तो दाई को बुलाया जाता है। बुलावा मिलने पर दाई अगर अपने घर में साफ कपड़े पहने हुए है, तो कितनी ही जल्दी क्यों न हो, वह पहले पहने हुए अपने साफ कपड़े उतारेगी और इस अवसर के लिए रखे गए पुराने गंदे कपड़े पहन लेगी; जो पहले से ही उस दाई के लगातार काम करते रहने से बीमारी के कीटाणुओं से भरे होते हैं। और इस तरह वह गंदे और बीमारी के कीटाणुयुक्त कपड़े पहनकर अपने शिकार के साथ उस गंदे कमरे में बंद हो जाती है।

अगर कमरे में कोई रोशनदान होता है, तो वह उसे पुआल या रद्दी से बंद करवा देती है। वह रोशनदान से आने वाली ताजा हवा को बच्चे के जन्म के लिए बुरा बताती है। कहती है– 'उससे बुखार आ जाता है।' दरवाजे से आने वाली हवा को भी रोकने के लिए वह घर में मौजूद फटे-पुराने कपड़ों की थेगली लगाकर परदा बनाकर दरवाजे पर टांग देती है और उसी परदे के भीतर अंधेरे कोने में दीवार के सहारे जच्चा स्त्री को लिटा देती है। इसके बाद अंधेरे को और घना बनाने के लिए वह तेल में भीगी हुई एक बत्ती या बिना चिमनी वाला लैंप जलाती है, जो बुरा

धुआं उगलता रहता है। फिर वह एक बर्तन में लकड़ी का कोयला जलाकर जच्चा के निकट या खटिया के पास रखती है, जिसका दमघोंटू धुआं और भी बदबूदार हो जाता है। जिस पहली दाई को मैंने यह काम करते देखा था, उसने—जैसे ही मैं कमरे में घुसी—मेरी बुरी नजर से जच्चा-बच्चा को बचाने के लिए एक मुट्ठी भर के अजीब-सी दुर्गंध वाली सामग्री आग में डाल दी। उसे डालते ही धुआं ऊपर उठने लगा और आग की लपटें भी। उस रोशनी में मैंने उसका 'एंडोर की चुड़ैल' जैसा चेहरा, उसकी उलझी हुई गंदी लटें, गंदे चीथड़े जैसे कपड़े और गंदी उंगलियां देखीं और उसने भी दृष्टिहीन आंखों से मुझे देखा। जब उस लपट ने बिस्तर में आग पकड़ ली और वह बेहोश पड़ी जच्चा के शरीर की ओर बढ़ने लगी, तो वह उसे बुझाने के लिए नहीं दौड़ी। क्योंकि, वह अंधी होने के कारण देख ही नहीं सकती थी और उसे यह समझने का भी कोई होश नहीं था कि क्या हुआ?

यदि प्रसव में किसी तरह का विलंब हो गया है, तो दाई से अपेक्षा की जाती है कि वह विलंब का पता लगाए। तब वह गंदी अंगूठियों और कड़े पहने हुए ही अनगिनत रोगाणुओं से भरे अपने बिना धुले पपड़ीदार लंबे हाथ मरीज के शरीर में घुसेड़ देती है और टटोलकर वहां जो होता है, उसे खींचती मरोड़ती है। [3] यदि प्रसव में लंबा विलंब और कठिनाई होती है, तो दूसरी या तीसरी दाई को बुलाया जाता है; बशर्ते मरीज का पति उसका खर्चा वहन करे। बच्चे को टुकड़ों में बाहर निकाला जाएगा, जैसे- कभी उसकी एक टांग या एक हाथ। [4]

एक और महिला चिकित्सक लिखती है– [5]

> 'बहुधा देखा गया है कि जब ऑस्टियोमेलेसिया (अस्थिमृदुता) के कारण पेडू सिकुड़ जाता है, तो ऐसे मामलों में बच्चे के सिर के नीचे आने की संभावना नहीं रहती है, तब दाई अंगों को खींचने का प्रयास करती है और अगर संभव हुआ, तो उनको तोड़ भी देती है। वह बच्चे को बल प्रयोग से निकालना बेहतर समझती है और ऐसे मामलों में अक्सर मरीज का मूत्राशय बुरी तरह फट जाता है। परिणामत: योनि और मूत्राशय के बीच में एक बड़ी-सी दरार बन जाती है। भारतीय स्त्रियों में यह रोग आम हो गया है, जिसकी वजह से वे बहुत ज्यादा दु:ख भोगती हैं।'

इस तरह की प्रसव-पीड़ा तीन, चार, पांच और कभी छह दिन तक चलती है। इस पूरे समय में यह नियम है कि जच्चा स्त्री को कोई आहार नहीं दिया जाता है और दाई अपनी हर तरह की सारी परंपराएं चलाती रहती है। वह अपनी मुट्ठियों से जच्चा की मालिश करती है। कई बार उसे दीवार के सहारे खड़ा करके उसके पेट में अपना सिर मारती है। फिर उसे नंगी जमीन पर सीधा लिटाती है और उसके हाथ पकड़कर अपने गंदे पैरों से उसकी जांघों पर वार करती है। [6] जैसा कि डॉक्टर बताती हैं– 'अक्सर दाई के पैरों के लंबे और गंदे नाखूनों से जच्चा के मांस के चिथड़े उड़ जाते हैं। अथवा वह निरीह जच्चा पर चढ़कर उसके शरीर को इस तरह कुचलती है, जैसे कोई अंगूरों को कुचलता है। यही नहीं, वह कुछ अजीब चीजों की पोटली बनाती है, जिसमें गुलखेरू की जड़ें या गंदी सुतली या शरीफे के बीज होते हैं। अथवा मिट्टी या मिट्टी मिश्रित लौंग, घी और गेंदे के फूल या फिर छिलके या तेज गंध वाले मसाले भर देती है। और जल्दी प्रसव कराने के लिए उसे जच्चा के गर्भाशय में घुसेड़ देती है। देश के कुछ भागों में तो बकरियों के बाल, बिच्छुओं के डंक, बंदर की खोपड़ी और सांप की केंचुली भी इस कार्य में उपयोगी समझी जाती हैं।' [7]

इन चीजों के घुसेड़ने से गर्भाशय में जख्म हो जाते हैं, जिसका सामान्य परिणाम यह होता है कि वह मार्ग हमेशा के लिए आधा या पूरा बंद हो जाता है।

यदि नाल के निकलने में पांच मिनट से ज्यादा देर हो जाती है, तो वह पुन: अपना गंदी अंगूठियों और कड़े वाला हाथ उसमें घुसेड़ती है और नाल को तोड़कर बाहर खींच लाती है। [8]

प्रसव में उपयोग के लिए न तो कोई साफ कपड़ा दिया जाता है और न गर्म पानी। किन्तु, जब मरीज का शरीर ठंडा होने लगता है, तो उसे गर्म रखने के लिए गाय का गोबर या बकरियों की मिगनी (लीद) या गर्म राख का बहुधा उपयोग किया जाता है। [9]

धार्मिक नगरी बनारस में–जो सनातनी हिंदुओं का गढ़ है–सात श्रेणियों की महिला सफाईकर्मी होती हैं, जो सभी अछूत होती हैं। इनमें पहली श्रेणी दाइयों की है तथा अंतिम और निम्नतम श्रेणी में नाल काटने वाली आती हैं। नाल काटने का काम इतना नीच समझा जाता है कि अगर इस धार्मिक नगर में यह अंतिम और निम्न श्रेणी की दाई न हो, तो कोई मेहतर भी इस काम को नहीं करेगा। इसलिए प्रसव के समय दाई एक और गंदी दाई को अपने साथ लाती है, जो जच्चा और बच्चा दोनों पर अपनी गुणता दिखाती है।

कभी-कभी वे नाल काटने के लिए फटे हुए बांस की खपच्ची, कभी एक पुराने टीन का टुकड़ा या कभी जंग लगी कील या कभी ठीकरा या कभी टूटे हुए गिलास का टुकड़ा भी इस्तेमाल करती हैं। कभी उनके पास इनमें से कोई भी चीज नहीं होती है, तो वह पड़ोसी के घर से मांगने जाती है। एक बार मैंने यह आवाज सुनी, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकती। उसने कहा– 'कोई अंदर है। मुझे मेरा चाकू वापस करो। मुझे अभी उससे रात के खाने के लिए सब्जियां काटनी हैं।'

नाल काटने के बाद उसका बाहरी सिरा, ज्यादातर बिना मरहम-पट्टी किए खुद ही ठीक होने के लिए छोड़ दिया जाता है। अधिक सावधानी और कम लापरवाही के मामलों में मुट्ठी भर मिट्टी या लकड़ी का कोयला या गाय का गोबर या ऐसी ही अन्य कोई चीज उपचार के लिए मल दी जाती है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे बच्चे, जो जन्म की कठिनाइयों से जीवित बच जाते हैं, उनमें से बड़ी संख्या में जबड़ा बंद होने या बदन सूजने (एरिसिपलस) से मर जाते हैं। [10]

जैसे ही मां से बच्चे को अलग किया जाता है, उसे आमतौर से नंगी जमीन पर बिना ढके और अरक्षित अवस्था में लेटा दिया जाता है; जब तक कि दाई उसे उठाने के लिए तैयार न हो जाए। यदि वह लड़की है, तो सदियों से चले आ रहे अनेक सामान्य नियमों के तहत उस अप्रिय जीवन को वहीं पर समाप्त कर दिया जाता है।

आहार के मामले में अलग-अलग रिवाज हैं। मध्य प्रांतों में पहला आहार बच्चे के मूत्र में कच्ची शक्कर (खांड़) मिलाकर दिया जाता है। [11] दिल्ली में शक्कर और मसाले या शराब या शहद देते हैं। पहले तीन दिनों तक जो तरल पदार्थ दिया जाता है। उसे घुट्टी कहते हैं, जिसे कुछ खास मसालों और जंग लगे शुभ सिक्कों तथा मंत्र लिखे कागज (तावीज) को उबालकर तैयार किया जाता है। ये चीजें अलग-अलग क्षेत्रों, जातियों और समुदायों में उनकी बेहतर समझ के हिसाब से अलग-अलग होती हैं।

मां के संबंध में, जैसा कि शुरू में कहा गया है; उसे प्रसव के समय से चार से सात दिन तक बिना भोजन और पानी के रखा जाता है या यदि उसे कुछ दिया जाता है, तो केवल सूखे मेवे और खजूर दिए जाते हैं। यहां इसका उद्देश्य कदाचित कमखर्ची और घर के बर्तनों को अपवित्र होने से बचाना हो सकता है। किन्तु जो भी हो, इस पुराने चले आ रहे रिवाज को बनाए रखने से परिवार की कमखर्ची भी अनायास पुष्ट हो जाती

है। [12]

कुछ क्षेत्रों या समुदायों में रिवाज है कि बच्चे को तीसरे दिन तक स्तनपान के लिए छाती से नहीं लगाया जाता है। इस रिवाज से उसके घातक परिणाम आते हैं। [13] किन्तु, कुछ दूसरी जगहों पर मां से यह अपेक्षा की जाती है कि वह न केवल नवजात शिशु को स्तन पान कराए, बल्कि अगर उसका कोई बड़ा बच्चा है, तो उसे भी स्तनपान कराए। प्राय: तीन साल के बच्चे को स्तन पान के लिए उस अवधि में मां के पास भेज दिया जाता है, जब वह प्रसव पीड़ा में होती है। बाहर बैठी स्त्रियां बताती हैं– 'वह भूख से रो रहा था, और कुछ खाता नहीं है।'

इन तीन कारणों—प्रथम, उनके कमजोर और बीमार पूर्वजों की परंपरा। द्वितीय, उनका खराब खाना-पीना। तृतीय, उनके बाल-विवाह और अपरिपक्व यौन-संबंध ...और उससे संक्रमित रोग के परिणामस्वरूप भारत में भारी प्रतिशत उन स्त्रियों का है, जिनकी हड्डियां छोटी हैं या भीतर से इतनी विकृत और बीमार हैं कि वे बिना ऑपरेशन के सामान्य रूप से बच्चे को जन्म नहीं दे सकतीं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस तरह की सभी स्त्रियों को यदि ब्रिटिश या अमेरिकन महिला डॉक्टर या ब्रिटिश-प्रशिक्षित भारतीय महिला चिकित्सकों की सहायता न मिले, तो वे धीरे-धीरे यातना सहने से मर जाती हैं। [14] ऐसी चिकित्सा यदि करीब में भी होती है, तो भी पीड़िता के पति या परिवार की प्राचीन परंपरा की अंधभक्त स्त्रियां उसे वहां पहुंचने नहीं देतीं।

उन मामलों में भी, जहां प्रसव सामान्य होता है, उसका परिणाम भी भारतीय दृष्टिकोण से प्राय: मृत्यु से भी ज्यादा पीड़ादायक होता है। श्रीनगर की जनाना अस्पताल की एक योग्य महिला सर्जन, डॉ. के.ओ. वौघन अपना मत इस प्रकार व्यक्त करती हैं– [15]

> 'बहुत-सी स्त्रियां इसलिए नि:संतान हैं, क्योंकि उनके साथ प्रसव के दौरान अत्याचार किए जाते हैं; जिससे वे हमेशा के लिए अक्षम हो जाती हैं। अनेक पुरुष भी इसीलिए पुत्र-विहीन हैं, क्योंकि उनका बच्चा जन्म के समय ही अज्ञानता से मार दिया जाता है। या उनकी पत्नियों को दाइयों ने इतना क्षत-विक्षत कर दिया है कि फिर वे कभी बच्चा पैदा करने के योग्य ही नहीं रहीं।'
>
> 'मैं अपनी बात को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहती हूं, जिनसे इस देश में हर महिला डॉक्टर को सामना करना पड़ता है।'
>
> 'कहीं से बुलावा आता है और हमें बताया जाता है कि स्त्री प्रसव-पीड़ा में है। जब हम उस घर में पहुंचते हैं, तो हमें बिना खिड़की वाले एक छोटे से अंधेरे और गंदे कमरे में ले जाया जाता है। यदि वहां कोई खिड़की होती है, तो उसे बंद कर दिया जाता है। क्योंकि, यह माना जाता है कि ताजा हवा से जच्चा को बुखार हो जाता है। मौजूद हवा को भी कढ़ाई में कोयला जलाकर दूषित कर जाता है। वह स्त्री चारपाई या फर्श पर लेटी होती है। उसके पास एक या दो बूढ़ी औरतें होती हैं, जिनके कपड़े गंदे होते हैं। हाथों पर मैल चढ़ा होता है और जिनके सिर में जूएं भरी होती हैं। वे बताती हैं कि हम दाई हैं और जच्चा तीन दिन से प्रसव पीड़ा में है। और हम बच्चे को बाहर नहीं ला पा रही हैं। वे एक और प्रयास करने के पहले अपने हाथों को जमीन पर रगड़ रही हैं। हमने निरीक्षण करने पर देखा कि योनि में सूजन है और वह फट गई है। वे हमें बताती हैं– हां, यह एक खराब केस है और प्रसव के लिए हमें अपने दोनों पैरों और हाथों का इस्तेमाल करना पड़ा है। क्लोरोफार्म दिया जाता है और औजारों से बच्चे को बाहर निकाला जाता है। जब हम बच्चे को निकालते हैं तो उसके साथ उसके भीतर से कुछ जड़ें, डोरियां, चिथड़े और बेल के बीज भी निकलते हैं; जो दाइयों ने गर्भाशय के अंदर घुसेड़े होते हैं।'
>
> 'यह न समझना कि इस तरह की पीड़ा को भोगने वाली अभागी स्त्रियां केवल गरीब घरों की होती हैं। मैं आपको बहुत-से ऐसे भारतीयों के घर दिखा सकती हूं, जिनके पास विश्वविद्यालयों की डिग्रियां हैं। पर, उनकी पत्नियों का प्रसव गंदे चीथड़ों पर होता है और यह प्रसव वही अप्रशिक्षित दाइयां कराती हैं। क्योंकि, यही उनका रिवाज है। और बी.ए. की डिग्री के कोर्स में उन्हें सामान्य समझदारी नहीं पढ़ाई जाती है।'

इसके बाद डॉ. वौघन अपनी चिकित्सा के कुछ और अनुभवों का भी वर्णन करती हैं, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है– [16]

> 'एक समृद्ध और उच्च शिक्षित हिंदू व्यक्ति ने- जो भारतीय विश्वविद्यालय से स्नातक और स्वयं लेक्चरर भी है -हमें अपने घर पर बुलाया। क्योंकि, उसकी पत्नी ने एक बच्चे को जन्म दिया है और अब उसे बुखार है। हमने देखा कि दाई के पास रोगाणुनाशक वस्तुएं नहीं थीं। क्योंकि, उन वस्तुओं के लिए उसे तीन रुपए (एक अमेरिकन डॉलर) खर्च करने पड़ते, जबकि दाई को पूरे प्रसव की कुल फीस ही एक रुपया और कुछ पुराने कपड़े मिलते हैं। मरीज कुछ पुराने उतारे हुए गंदे कपड़ों के ढेर पर लेटी हुई है, जिसमें एक पुरानी मिरजई (वास्कट), एक रेलवे वाला अंग्रेजी कंबल, पार्सल की पैकिंग में काम आने वाले वाटरप्रूफ कपड़े का एक टुकड़ा और उसके पति की पुरानी गंदी हाफ कमीज है। वहां कोई भी चादर या किसी प्रकार का साफ कपड़ा नहीं था। उसका पति हमें बताता है- हम उसे साफ कपड़े पांचवें दिन देंगे। पर अभी नहीं, यह हमारी परंपरा है।'
>
> 'इस स्थिति में हम क्या कर सकते थे। वह स्त्री रक्त में संक्रमण फैलने से मर गई। रक्त में संक्रमण या तो गंदे कपड़ों के संपर्क से फैला, जो बिना धोए घर में इसी काम के लिए रखे रहते हैं। या उस दाई से फैला, जिसने गर्म पानी, साबुन, साफ करने के ब्रुश और रोगाणुनाशक वस्तुओं के बिना ही अपना काम किया था।'

इस तरह के अनेक साक्ष्य मौजूद हैं कि किस तरह शिक्षित, सब जगह घूमे हुए, यूरोपियन विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त उच्च कुल के भारतीय शिक्षित लोग अंधी परंपरा के नाम पर अपनी पत्नियों पर जुल्म करने देते हैं। एक भारतीय चिकित्सा से जुड़े व्यक्ति का मामला भी देखा जा सकता है, जिसने अंग्रेजी विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. और एम.डी. की डिग्रियां प्राप्त की थीं; जो योग्य तथा कुशल डॉक्टर माना जाता था और जो दाइयों को आधुनिक प्रसूति विज्ञान में प्रशिक्षण देने वाले सरकारी केंद्र का प्रभारी भी था। किन्तु, जब उसकी युवा पत्नी को हाल ही में प्रसव-पीड़ा हुई, तो उसने अपने परिवार की बूढ़ी औरतों के दबाव में आकर वही पुराने तरीके की गंदी और अशिक्षित दाई को बुला लिया। उसकी पत्नी प्रसव-ज्वर से मर गई और बच्चा भी जन्म के साथ ही मर गया। डॉ. वौघन लिखती हैं– 'हमें आश्चर्य है कि जब अंग्रेजी डिग्री-धारी शिक्षित भारतीय भी अपनी पत्नियों और नवजात बच्चों को अशिक्षित दाइयों के हाथों मक्खियों की तरह मरवा रहे हैं, तो हम साधारण बहिनों के दु:ख की सहज ही कल्पना कर सकते हैं।'

किन्तु, इस विषय में व्यक्ति के सामाजिक स्तर या धनी-निर्धन का सवाल महत्व नहीं रखता है। इसकी पुष्टि सभी उत्कृष्ट अंग्रेजी और अमेरिकन महिला डॉक्टर करती हैं।

इस संबंध में डॉ. मेरियन ए. वैली के शब्द हैं– [17]

> 'ये स्थितियां केवल अत्यंत गरीब या अत्यंत अशिक्षित वर्गों तक कदापि सीमित नहीं हैं। मैं राजाओं के घरों में भी गई हूं, जहां मैंने इस तरह की बहुत-सी प्रथाएं अमल में लाई जाती देखी हैं। ऐसे घरों में भी जब मैंने हवा के आने तथा कीटाणु नाशक दवाइयों के इस्तेमाल की बात की, तो उसका सख्त विरोध किया गया।'

लड़की चाहे मेहतर की हो या ब्राह्मण की, वह जाति-बहिष्कृत हो या रानी, आवश्यक रूप से उस घोर समय को भोगने में उन सबकी नियति एक जैसी है। एक भारतीय ईसाई स्त्री—जो समाज में प्रतिष्ठित है और जिसके लिए उसके चरित्र के ऐसे अनेक दरवाजे खुल गए हैं, जो दूसरों के लिए बंद हैं—एक बालिका रानी के दर्द की कहानी इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि बहुत पीड़ा होती है। वह दयावश उस रानी के यहां गई थी।

जब वह ईसाई महिला रानी के कमरे में गई—जो एक राजा की पत्नी थी और जिसकी आयु अभी 10 साल की थी—तो उसे प्रसव होने ही वाला था। दाइयां उसके पास थीं और काम में व्यस्त थीं, पर मामला स्पष्ट रूप से गंभीर लग रहा था। सहायता के लिए पुरोहित को बुलाया गया था। दरवाजे के बाहर राज्य का एक बूढ़ा पुरोहित बैठा हुआ जोर-जोर से मंत्र पढ़ रहा था और समय-समय पर अपनी पोथी से कुछ

पढ़कर दाइयों को निर्देश देता जा रहा था।

वह अचानक चिल्लाया– 'भीतर के सब लोग सुनो। इस स्त्री (रानी) के शरीर पर आग रखने का यही शुभ समय है। जल्दी से आग जलाओ और इसके शरीर पर रखो।'

तुरंत ही दाइयां उसकी आज्ञा का पालन करने लगीं।

ईसाई महिला ने खतरे को भांप लिया और कहा– 'आग की हमारी इस नन्हीं राजकुमारी को क्या जरूरत है?'

'ओह!' औरतों ने उदासीनता से जवाब दिया– 'यदि उसके भाग्य में जीवित रहना होगा, तो वह जीवित रहेगी। और हां, उस पर दाग का निशान जरूर पड़ जाएगा। और यदि उसके भाग्य में मृत्यु होगी, तो वह मर जाएगी'। यह कहकर उन्होंने आग जलाना जारी रखा।

वह ईसाई महिला तुरंत बाहर दरवाजे पर बैठे पुरोहित के पास गई और बोली– 'पुरोहित जी! क्या आपको दैवीय प्रकोप का डर नहीं लगता है? आप जिसे जलाकर मार डालने वाले हैं, वह रानी है; कोई साधारण स्त्री नहीं है। क्या गंगा मां इससे कुपित नहीं होंगी कि आप लोग इसे कोई सम्मान नहीं दे रहे हैं?'

उस बूढ़े पुरोहित ने हतप्रभ होकर कहा– 'यह सत्य है कि भगवान निरंतर नजर रखते हैं और उन्हें क्रोध भी आता है। लेकिन, यहां शास्त्र भी सही कहता है।' ...और उसने अपनी परेशान आंखें अपने घुटनों पर रखे प्राचीन धर्मग्रंथ पर गढ़ा दीं।

उसने दूसरा सवाल पूछा– 'क्या इस घर में गंगाजल है?'

'अवश्य है। भला इसके बिना कोई घर कैसे हो सकता है?' –पुरोहित ने जवाब दिया।

तब उस स्त्री ने कहा– 'यहां मुझे यह कहना है, कि पवित्र गंगा जल को आग के ऊपर तीन बार गर्म किया जाए। फिर उसे जादू के एक थैले में भरा जाए। यह थैला देवता मेरे द्वारा आपको देंगे। फिर उस थैले को रानी के शरीर पर रख दिया जाए। इस प्रकार आग और जल दोनों की संयुक्त भेंट से देवता प्रसन्न हो जाएंगे और उनका कोप शांत हो जाएगा।'

वह बूढ़ा चिल्लाया– 'यह तो बुद्धिमानी की बात है। ऐसा ही कीजिए।' इसके बाद वह ईसाई स्त्री तुरंत दौड़कर अपना गर्म पानी का थैला उठा लाई।

हर स्तर और हर वर्ग के भारतीयों में यह अंधविश्वास पाया जाता है। आमतौर पर स्त्रियां इस अंधविश्वास को ज्यादा मानती हैं कि देवता के प्रकोप से ही रोग होता है और दवाइयों और सर्जरी से देवता भाग जाता है और अप्रसन्न हो जाता है। उनके अनुसार देवता को अप्रसन्न करना बुरा काम है। इसलिए वे तंत्र-मंत्र, जादू और मन्नत से काम लेना ज्यादा बेहतर समझते हैं।

इन देवताओं के अलावा बहुत-सी चुड़ैलें और भूत भी इतने हैं, जितने समुद्र के रेत के कण; जिनकी संख्या में और वृद्धि ठीक नहीं।

सबसे बुरी चुड़ैलों में उन स्त्रियों की आत्माएं मानी जाती हैं, जो प्रसव के दौरान बच्चे के जन्म से पहले ही मर जाती हैं। इन चुड़ैलों के पैर उलटे होते हैं और वे सूनसान सड़कों पर तथा घरों में मंडराती रहती हैं। इनमें डाह ज्यादा होती है। इसलिए, जब कोई स्त्री—जिसके अभी बच्चा नहीं हुआ है—मरने वाली दिखाई देती है, जो कई दिनों तक दर्द में पड़ी रह सकती है और उसकी भूख से कमजोर हड्डियां बच्चा पैदा करने में असमर्थ हो सकती हैं। तो दाई परिवार की सुरक्षा के लिए अपने कुछ उपाय करने लगती है और यह उसका काम होता है।

ऐसे अवसर पर पहले वह मिर्च लाती है और उसे उस मरने वाली स्त्री की आंखों में मल देती है। ताकि प्रेतात्मा अंधी हो जाए और बाहर निकलने में असमर्थ हो जाए। उसके बाद वह दो लोहे की लंबी कीलें लेती है और उसकी हलचल-विहीन बाहों को फैलाकर, उसकी दोनों हथेलियों को फर्श पर रखकर उनमें एक-एक कील घुसेड़ देती है; जिसे वह अभागन सब कुछ समझते हुए भी अपना भाग्य जानकर सहन कर लेती है। यह सब प्रेतात्मा को जमीन से बांधकर रखने के लिए किया जाता है, ताकि वह बाहर निकलकर जीवित लोगों को परेशान न करे। इस तरह वह स्त्री मर जाती है, तब देवताओं से उसके पूर्व जन्म के उन पापों को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की जाती है; जिसके लिए वह अब दुःख भोग रही है।

यह बयान भयानक लग सकता है। पर अनेक डॉक्टर इसकी गवाही दे सकते हैं, जो भारत के विभिन्न भागों में रह चुके हैं। इस अध्याय में दिए गए सभी मुख्य विवरण डॉक्टरों के साक्ष्यों और स्वयं मेरे अपने अनुभवों पर आधारित हैं।

किन्तु, यह मानना अनुचित होगा कि दाई ही अपने इन निरर्थक कामों के लिए दोषी है। वह जो भी काम करती है, वो प्राचीन सर्वमान्य रिवाज का ही हिस्सा होता है। अगर वह किसी रिवाज को छोड़ने या बदलने की कोशिश करती है, तो परिवार की महिलाएं उसे ऐसा करने नहीं देंगी। वे इसके लिए उसे गालियां देकर भगा देंगी और किसी दूसरी विश्वसनीय दाई को बुला लेंगी।

प्रसव के लिए बुलाई गई दाई को लगभग 10 दिन तक जच्चा के पास रहना पड़ता है। इस दौरान परिवार का कोई भी सदस्य मरीज के पास नहीं रहता है। क्योंकि, उस समय जच्चा अपवित्र होती है। इस अवधि में जच्चा और बच्चा के सारे काम दाई ही करती है। अंत में उसी से उस कमरे की दीवारों और फर्श पर गुबरी का लेप करवाकर उसे साफ कराया जाता है।

दाई को अपने काम की मजदूरी नवजात बच्चे के लिंग के अनुसार दी जाती है, जो बहुत कम होती है। एक धनी व्यक्ति लड़का होने पर अधिकतम 15 रुपए उसकी सेवा के लिए देता है। सामान्यत: खुशहाल घरों में उसे आमतौर पर लड़का होने पर एक रुपया और लड़की होने पर आठ आने (50 पैसे) मिलते हैं। गरीब लोग दाई को उसके 15 दिन के काम की एवज में चार आने (25 पैसे) या पांच आने (26 पैसे) लड़के के जन्म पर और दो या तीन आने लड़की के जन्म पर देते हैं। दाई स्वयं भी इतनी गरीब होती है कि एक अदद साबुन की टिक्की या साफ कपड़े तक खरीदने की उसकी क्षमता नहीं होती है। और ये चीजें उसे कहीं भी नहीं दी जाती हैं। इस प्रकार हत्याएं जारी रहती हैं। [18]

भारत के बहुत से भागों में ब्रिटिश धर्मार्थ कोष से चलने वाली ऐसी अनेक संस्थाएं हैं, जो माताओं और बच्चों के कल्याण के लिए काम कर रही हैं। इन संस्थाओं में समर्पण भाव से काम करने वाले डॉक्टर और नर्सें दाइयों को भी प्रशिक्षित करने का काम कर रहे हैं। लेकिन, यह काम बहुत कठिन है। क्योंकि, दाइयां लगातार उसका विरोध कर रही हैं कि उन्हें ऐसा कुछ नहीं सीखना है, जिससे उनके ग्राहक उनसे सहमत न हों। एक महिला डॉक्टर ने मुझे अपनी दाई-कक्षा में झुर्रियों वाली बूढ़ी स्त्रियों को दिखाते हुए कहा–

> ‘हमें इन स्त्रियों को कक्षा में आने के लिए इंग्लैंड से प्राप्त फंड से धन देना पड़ता है। हम इनमें से कुछ को दाई का काम छोड़ने और अन्य कोई काम करने के लिए भी धन देते हैं। यह धन कुछ कम होता है, पर जीने के लायक होता है। ये इतनी बूढ़ी, इतनी बुद्धिहीन और सामान्यत: इतनी दु:खी हैं कि इनमें कुछ सीखने की क्षमता ही नहीं है। फिर भी जब हम इनको कहते हैं कि तुम दाई का काम मत करो। क्योंकि, इससे तुम उनका नुकसान करती हो, तो वे कहती हैं—फिर हम जिंदा कैसे रह सकते हैं? यही तो हमारी जीविका है। ...और यह सच भी है।’

ऐसी ही एक और घटना मेरे संज्ञान में आई, जो उत्तर भारत में इसी फंड से संचालित सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रशिक्षण केंद्र की है। वहां जो प्रशिक्षण देने वाली महिला डॉक्टर थी, वह एक सुंदर और उत्साही युवा स्त्री थी; जो हमेशा सुंदर और फैशनेबल दिखाई देती है। वह लाहौर में दाइयों को प्रशिक्षण दिया करती थी। उसने प्रशिक्षित स्नातक दाइयों को हिदायत दे दी थी कि अगर कोई जटिल मामला हो, तो सलाह के लिए उसे बुला लिया जाए।

1926 की एक सर्द सुबह में 3:00 बजे उसे उसकी एक स्नातक प्रशिक्षिका का बुलावा आया। बुलावा एक अछूत के घर के लिए आया था, जो एक कीचड़ भरी गली में आठ फुट चौड़ा और 12 फुट लंबा एक छोटा-सा झोपड़ा था। उसमें परिवार की तीन पीढ़ियों के 10 लोग रहते थे और मरीज को छोड़कर वे सभी सोए पड़े थे। एक भेंड़, दो बकरियां, कुछ मुर्गियां और एक गाय भी वहां थीं। क्योंकि, गृह-स्वामी को पड़ोसियों पर भरोसा नहीं था। शायद इसलिए मिट्टी का दिया जल रहा था और कोई रौशनी नहीं थी। उन लोगों और जानवरों के शरीरों से होने वाली गर्मी के सिवा कोई गर्मी नहीं थी। कोई खिड़की नहीं थी, सिर्फ दरवाजा था और वह भी बंद था।

कमरे के पीछे एक छोटी-सी कोठरी में चार चारपाइयां एक के ऊपर एक करके रखी हुई थीं, जिन पर परिवार के लोग सो रहे थे। उनमें नीचे से तीसरी चारपाई पर वह स्त्री लेटी हुई थी, जिसे प्रसव पीड़ा हो रही थी।

दादी ने सोते हुए ही बताया– ‘दाई बाहर गई है।’ और यह कहकर उसने दीवार की तरफ करवट ले ली।

एक क्षण भी नष्ट नहीं किया जा सकता था। यह समय दाई को ढूंढने का नहीं था। सौभाग्य से चारपाइयों के पास ही गाय आराम से लेटी हुई थी। इसलिए हमारी वह चुस्त अंग्रेज महिला डॉक्टर तुरंत उस शांत और सीधी गाय की पीठ पर चढ़ गई और वहां से वह एक लड़का और एक लड़की यानी एक नन्हे हिंदू जोड़े को संसार में लाने में सफल हो गई।

जैसे ही काम खत्म हुआ, दाई गुस्से में वापस आ गई। वह आंगन के बाहर जच्चा के पति से एक सिक्के के लिए लड़ रही थी; जो नाल काटने से पहले उसकी हथेली पर रखा जाना था। हथेली पर कुछ भी पहले रखवाए बिना कोई भी चतुर दाई नाल नहीं काटती।

यह सिर्फ एक सामान्य अनुभव था।

भारतीय भद्रजनों के एक समूह ने अपने क्षेत्रों में मौजूद इस पूरी समस्या पर विचार करते हुए कहा– ‘निस्संदेह हम भारतीयों में दाइयों का काम अलग तरह से होना चाहिए। लेकिन, आपको क्या लगता है? क्या यहां इस काम को करने के लिए अंग्रेज डॉक्टरनियों का काफी संख्या में मिलना संभव है?’

आज की युवा पत्नियों में ऐसी बहुत कम हैं, जो आधुनिक मेडिकल सहायता स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। किन्तु, विरोध घर की बूढ़ी महिलाओं की तरफ से होता है और उस विरोध का असर भी होता है।

पंजाब की उन अनेक ब्रिटिश महिला डॉक्टरों में भारत के लिए अपना जीवन अर्पित करने वाली अत्यंत प्रतिष्ठित डॉ. एग्नेश सी. स्कॉट (एम.बी.बी.एस.) कहती हैं– [19]

> ‘एक शिक्षित व्यक्ति अपनी पत्नी के प्रसव कार्य के लिए एक अच्छी प्रशिक्षित दाई को चाहता है। परंतु, वह घर की पुरानी औरतों के अज्ञान और पूर्वाग्रह के कारण उनके विरोध के सामने बेबश हो जाता है। क्योंकि, घर में असली हुक्म उन्हीं का चलता है।’

इसी विषय में डॉ. के.ओ. वौघन कहती हैं– [20]

> ‘स्त्रियां ही अपनी सबसे बड़ी दुश्मन होती हैं। और यदि कोई इन दादियों और परदादियों को प्रशिक्षित और जागरूक करने का कोई उपाय निकाल सके और उन्हें इस बात के लिए राजी कर सके कि वे अप्रशिक्षित, गंदी ‘बाजारी दाई’ को न बुलाएं; तो यह भारतीय राष्ट्र के लिए बहुत अच्छा होगा। पर, मेरे विचार में यह एक असंभव काम है।’

एक अन्य महिला सर्जन लिखती हैं– [21]

> ‘आमतौर पर सास या कोई बूढ़ी महिला ही जच्चा की देखभाल करती हैं। चूंकि स्वयं उसका प्रसव भी पुरानी परंपराओं से हुआ है, इसलिए वह उन्हीं को अपनाने पर जोर देती है। यह प्रथा प्राचीन समय से चली आ रही है कि प्रसव की व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी घर की बूढ़ी महिला का ही काम है और पुरुष को उसमें हस्ताक्षेप करने का अधिकार नहीं है।’

इस प्रकार एक विचित्र चित्र उभरता है। उस पुरुष का चित्र, जिसने अपनी पत्नी को प्राचीनकाल से गुलाम बनाकर रखा है और जिसकी उसे लोक और परलोक दोनों जीवन के लिए पुत्र प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है। पर, उसी पुरुष को अपनी उसी गुलाम की इच्छा के अधीन अपनी हार्दिक इच्छा को पूरा करने में निराशा मिलती है। उसके विचार में यही अच्छा था कि स्त्री अज्ञानता में रहे और हमेशा के लिए अपनी स्वाभाविक भावनाओं और रुचियों को दबा दे और उसे संसार में अपना देवता मानकर उसी की सेवा में लगी रहे। इसलिए, वह बचपन से मृत्यु तक अनगिनत सदियों से कठोर अनुशासन के अंतर्गत उसकी आज्ञाकारी सेविका बनी घूमती रहती है। जबकि, पुरुष को बचपन से मृत्यु तक अनगिनत सदियों से किसी अनुशासन में नहीं रखा गया है। अत: जैसा उन्होंने बोया था, वैसी ही उनकी फसल तैयार हुई। स्त्री सनातन मर्यादाओं की चट्टान पर मर गई। वह करुणा की प्रतिमूर्ति मरकर भी परिवर्तन नहीं ला सकी। पुरुष का संकल्प और उद्देश्य, उसकी शक्ति और हिम्मत इतनी कमजोर पड़ गई कि वह अपने ही घर में पराजित होकर अपने ही गुलाम के हाथों में आ गई।

भारत में जितने बच्चे पैदा होते हैं, उनमें 20 लाख बच्चे प्रतिवर्ष मर जाते हैं। भारत की ताजा जनगणना में उपलब्ध आंकड़े बताते हैं कि लगभग 40 प्रतिशत बच्चे जन्म के एक सप्ताह बाद मर जाते हैं, जबकि 60 प्रतिशत बच्चों की मृत्यु जन्म के पहले महीने में हो जाती है। [22]

भारत में अभी भी सबसे ज्यादा मरे हुए बच्चे पैदा होते हैं। इसका मुख्य कारण सिफलिस और सूजाक की बीमारी है। इसमें एक कारण यह भी जोड़ा जा सकता है कि बच्चा संसार में आने के लिए जन्म के समय के धक्के को सहन करने में पूरी तरह असमर्थ होता है।

भारत में जन्म और मृत्यु के आंकड़े साफ नहीं हैं। क्योंकि, उन्हें अधिकांशत: अशिक्षित ग्रामीणों द्वारा इकट्ठा किया जाता है। अगर बच्चा मर जाता है, तो मां एक-दो रात अंधेरे में रोती रहती है। किन्तु, यदि गांव के पास नदी होती है, तो बच्चों के मृत शरीर को बिना कफन ओढ़ाये ऐसे ही नदी की धारा में बहा दिया जाता है। जहां चीलें और कछुए उसके संक्षिप्त इतिहास को खत्म कर देते हैं। और यह ज्यादा संभव है कि गांव में कोई भी उस बच्चे के जन्म और मृत्यु की सूचना देने का काम करना पसंद नहीं करेगा। इसलिए बच्चों से संबंधित आंकड़ों को अधिक से अधिक अनुमानित आंकड़े ही कहा जाना चाहिए।

वर्तमान स्थिति को देखते हुए अगर यह जानना संभव होता, तो इस बात की संभावना है कि पश्चिमी देशों के लोगों को इनकी कम संख्या देखकर आश्चर्य होता न कि बड़ी।

एक अमेरिकन महिला डॉक्टर ने कहा–

> 'मैं सोचती थी कि बच्चा एक कोमल प्राणी होता है। लेकिन, यहां के अनुभव मुझे यह मानने के लिए बाध्य कर रहे हैं कि जिस तरह से वे बच जाते हैं, वह यह बताता है कि ये बच्चे सार्वकालिक रूप से मजबूत होते हैं।'

---

[1] एडरिश ग्रीफिन, राष्ट्रीय स्वास्थ्य, दिल्ली में स्वास्थ्य निरीक्षक, अक्टूबर 1925, पृष्ठ-125
[2] नेशनल हेल्थ, 1925, पृष्ठ-70, और मेगी घोष, 'प्यूअपरेल फीवर' विक्टोरिया मेमोरियल स्कॉलरशिप फंड रिपोर्ट, पृ.-153
[3] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, 'इम्प्रूवमेंट ऑफ दि कंडीशंस ऑफ चाइल्ड-बर्थ इन इंडिया,' पृष्ठ-70 और आगे।
[4] वही, डॉ. मरियन ए. वाइली., एम.ए., एम.बी., पृष्ठ-85, और परिशिष्ट वी. पृष्ठ-69
[5] वही, पृष्ठ-71
[6] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-99, डॉ. के.ओ. वोंग्हन।
[7] वही, पृष्ठ-151, 152, मिसेज चौधरी, सहायक सर्जन।
[8] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-86, डॉ. एम.ए. वाइली।
[9] वही, पृष्ठ-152, मिस विद्याबाई एम. राम।
[10] 'बंगाल में औसतन आधे बच्चे आठ साल की उम्र तक पहुंचने से पहले ही मर जाते हैं और आबादी का केवल एक-चौथाई भाग ही 40 साल की उम्र तक पहुंचता है। इन अवयस्क मौतों में 50 प्रतिशत मौतें जन्म की दुर्बलता से और 11.4 प्रतिशत मौतें टिटनेस होने से हुई हैं।' -लोक स्वास्थ्य, बंगाल के निदेशक की 54वीं वार्षिक रिपोर्ट।
[11] बी.एम.एस.एफ रिपोर्ट, पृष्ठ-86, डॉ. एम.ए. वाइली।
[12] एडरिस ग्रीफिन, नेशनल हेल्थ, अक्टूबर 1925, पृष्ठ-124
[13] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-86
[14] भारत में मेडिकल छात्रों के लिए स्त्री-रोग और प्रसूति शिक्षा प्राप्त करना बहुत कठिन है, इसका कारण यह है कि स्त्रियां पुरुषों के अस्पताल में जाने के लिए राजी नहीं होती हैं। अपवाद रूप में भी इसकी बहुत कम संभावनाएं होती हैं। इसलिए भारतीय छात्र स्त्री रोग विषयक ज्ञान पुस्तकों से हासिल करते हैं। यदि वे उसे विदेश में जाकर सीख कर आएं, तो उन्हें उसका व्यावहारिक ज्ञान जरा भी नहीं मिलता। कभी-कभी यह जरूर होता है कि पश्चिमी डिप्लोमा प्राप्त भारतीय डॉक्टर दूर बैठकर मरीज का प्रसव करा रही दाई को सलाह देकर अपना काम करता है। पर इस तरह के काम को सामान्य अर्थ में व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।
[15] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-98, 99
[16] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-99, 100
[17] वही, पृष्ठ-86
[18] बी.एम.एस.एफ. रिपोर्ट, पृष्ठ-89
[19] बी.एम.एस.एफ रिपोर्ट, पृष्ठ-91, और सर पैट्रिक हेहिर : दि मेडिकल प्रोफेशन इन इंडिया, हेनरी फ्राउड एंड स्ट्राटन, लंदन, 1923, पृष्ठ-125 से 31
[20] वही, पृष्ठ-101
[21] वही, पृष्ठ-71
[22] सेंसस ऑफ इंडिया, 1921, वॉल्यूम-1, पार्ट-1, पृष्ठ-132

अध्याय **9**

परदे के पीछे

हमने पिछले अध्यायों में मुख्य रूप से हिंदुओं के बारे में लिखा है, जिनकी भारत में अनुमानित आबादी तीन-चौथाई है। शेष एक-चौथाई मुसलमान हैं। इनमें उत्तर और दक्षिण के मुसलमानों में काफी अंतर है। उत्तर के मुसलमानों के रक्त में प्राचीन ईरानी और अफगान हमलावरों का रक्त मिला हुआ है; जबकि दक्षिण के मुसलमान अधिकतर हिंदुओं से धर्मांतरित मुसलमानों की संतानें हैं। ...और जिनमें काफी कुछ हिंदुओं के स्वभाव और गुण पाए जाते हैं।

कुछ मामलों में मुस्लिम स्त्रियां अपनी हिंदू बहिनों के मुकाबले ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं। उनमें बाल-विवाह और जबरन वैधव्य जैसी प्रथाएं नहीं हैं; जिससे वे उन दुःखों से मुक्त हैं, जो हिंदू स्त्रियों को उनकी वजह से भोगने पड़ते हैं। इसी के कारण उन्हें तन और मन से बेहतर विरासत मिलती है। उनका भोजन भी हिंदुओं से बेहतर होता है। इसलिए जवानी में उनका शरीर भी हिंदू स्त्रियों के मुकाबले ज्यादा मजबूत होता है। लेकिन, उच्च वर्ग की मुस्लिम औरतें भी जवान होने पर आजीवन घर की चहारदीवारी में कैद कर दी जाती हैं।

स्त्रियों के अलग रहने की इस प्रथा को 'परदा' कहते हैं, जिसे मुस्लिम विजेताओं ने शुरू किया था और वे ही इसे अमल में लाते थे। पर, शीघ्र ही उच्च-जातीय हिंदुओं ने भी इसे एक सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में मान लिया। इसलिए, हिंदुओं ने इसे एक फैशन के रूप में अपनाया और आज देश में बढ़ती समृद्धि के साथ-साथ यह मध्ययुगीन प्रथा भी हिंदुओं में बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के निषेध की तरह ही बढ़ती हुई दिखाई दे रही है। हालांकि, पाश्चात्य विचारों से प्रभावित समाज में उच्च स्तर की हर स्त्री स्वतंत्र घूमती हुई नजर आती है। परंतु, कई छोटे स्तर की खुशहाल और सामाजिक आकांक्षा रखने वाली बहिनें जान-बूझकर इस बंधन को स्वीकार किए हुए हैं।

संभवत: परदा प्रथा का आरंभ उस विचार से हुआ है, जो युद्ध में लूटी गईं स्त्रियों को उचित ठहराता है। एक पुरुष अपनी औरतों को घर की चहारदीवारी में बंद करके अपने दरवाजे की पहरेदारी कर सकता है। इस सवाल पर भारतीय साक्ष्यों को लेते हुए पता चलता है कि किसी-न-किसी हद तक यही आवश्यकता आज भी बनी हुई है। भारत के एक ऐसे भाग में, जहां पर्दे का रिवाज कम है। मैंने देखा कि वहां एक क्लब में —जहां अनेक उच्चस्तरीय हिंदू भारतीय महिलाएं और अंग्रेज महिलाएं साथ-साथ मनोरंजन करती हैं—भारतीय महिलाओं ने मिलकर यह प्रार्थना की कि क्लब की सदस्यता के लिए निर्धारित आयु को घटाकर 12 वर्ष या उससे भी कम 11 वर्ष कर दिया जाए। उन्होंने निस्संकोच बताया कि इसका कारण यह है कि वे अपनी इस आयु की बेटियों को मां की अनुपस्थिति में एक संध्या के लिए भी पुरुषों के बीच घर पर छोड़ने में डरती हैं। समाज के निचले स्तर की महिलाओं में भी यही चिंता मिलती है। एक हिंदू ग्रामीण किसान की पत्नी अपनी बेटी को एक घंटे के लिए भी घर पर अकेला नहीं छोड़ेगी। क्योंकि, उसे विश्वास है कि यदि उसने ऐसा किया, तो लड़की बर्बाद हो जाएगी। मैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकती कि हर जगह यही स्थिति होगी। पर, मैं यह जरूर कह सकती हूं कि देश के अत्यंत दूरदराज के भागों में इसकी ओर मेरा ध्यान भारतीयों और पश्चिम के लोगों दोनों ने खींचा है। यहां के दैनिक जीवन की यही स्थिति है।

कोई साधारण मुसलमान भी अपने जनाना में किसी दूसरे पुरुष पर भरोसा नहीं करेगा। क्योंकि, वह जानता है कि ऐसी आजादी को एक अवसर माना जाएगा। यदि कुछ मुट्ठी-भर हिंदू दूसरे विचारों के मिलते भी हैं, तो ऐसा प्राय: या हमेशा इसलिए होता है, क्योंकि उनमें स्त्रियों के प्रति पश्चिमी विचारों का कुछ प्रभाव होता है और यह प्रभाव भी उन्हें अपने देश-भाइयों के बारे में अपने अविश्वास को कम नहीं होने देता है। पुरुष और स्त्री के बीच इस प्रकार का व्यवहार, जिसमें स्वतंत्रता और निश्छलता हो; भारतीय दिमागों के लिए करीब-करीब एक अविश्वसनीय चीज है।

इसीलिए, भारत के बहुत से भागों में उच्च वर्ग के हिंदुओं में जनाना एक अलग जगह होती है और औरतें उसी में कैद रहती हैं। मुस्लिम औरतें जब भी अपने जनाने से बाहर निकलती हैं, तो परदे में ही निकलती हैं। या तो बुर्का पहनकर या परदे वाली गाड़ियों में बैठकर। एक हिंदू राजा की पत्नी की रॉल्स-रायस कार की खिड़कियों पर काले शीशे चढ़े रहते हैं, जिसमें से रानी आसानी से बाहर देख सकती है। पर बाहर का उसे कोई नहीं देख सकता है। परंतु, जब एक खुशहाल मुस्लिम बावर्ची की बेगम अपने घर से बाहर निकलती है, तो ऊपर से नीचे तक गाढ़े का मोटा बुर्का पहनकर निकलती है; जिसमें देखने के लिए आंखों की जगह पर तीन इंच की जाली लगी होती है। उसी में से वह आधे अंधों की तरह कुछ देख सकती है।

एक बार मैं एक 'परदा पार्टी' में उपस्थित थी, जिसमें सिर्फ औरतें ही जा सकती थीं। यह पार्टी दिल्ली में एक अंग्रेज अधिकारी के मकान में हुई थी। वहां एक त्रासदी होते-होते रह गई थी। सभी भारतीय महिलाएं अपनी परदा लगी मोटर कारों से उतरकर भारी कदमों से चलकर वहां पहुंच गई थीं। उनकी मेजबान एक उच्च अंग्रेज अधिकारी की पत्नी थी, जिसने स्वयं बाहर आकर उनका स्वागत किया। परदे की प्रथा का पालन करते हुए मेजबान ने अपने सभी पुरुष-नौकरों को मकान से बाहर निकाल दिया था और वह अकेली ही अपनी मेहमानों को अपने कमरे तक ले जाने के लिए रह गई थी। वहां उन्होंने अपने परदों को उतारकर एक ओर रख दिया था। और अब वे सभी अपनी-अपनी देशी पोशाकों में कमरे में बैठ गई थीं और उन अंग्रेज महिलाओं से, जिन्हें उनसे मिलवाने के लिए बुलाया गया था, सौम्यता से बातें कर रही थीं। उनमें एक उच्च भारतीय महिला आसानी से सब पर छा गई। वह अपनी आयु अधिक बताती थी। वह हल्के नीले रंग का मखमल का लंबा पाजामा—जो घुटनों से नीचे टाइट था -पहने हुए थी। पैरों में सुनहरे स्लीपर थे। एक सिल्क की जरीदार छोटी जैकेट पहने हुए थी और एक खूबसूरत कश्मीरी शॉल से अपना सिर ढके हुए थी। हम सब चाय के लिए गए। वहां भी वह महिला अकेली रसोई घर से चाय की मेज तक भारतीय मेहमानों की सेवा में आगे-पीछे घूमने लगी। केवल अंग्रेज महिलाएं उसकी सहायता कर रही थीं।

तभी अचानक बरामदे के बाहर से पुरुषों और महिलाओं की जोर-जोर से चीखने-चिल्लाने की आवाजें आने लगीं। आवाजें तेज होती गईं और हमारे करीब आने लगीं। मेजबान घबराकर दरवाजे की तरफ दौड़ी। कमरे में भगदड़ मच गई। भारतीय महिलाओं की चादरें और सफेद बुरके उनकी पहुंच से दूर रखे हुए थे। इसलिए वे अपनी पीठ घुमाकर कोनों में भागकर छिप गईं। जबकि अंग्रेज महिलाएं उनकी हालत को समझते हुए—जितना संभव था—परदा बनकर उनके सामने जाकर खड़ी हो गईं। इसी समय बाहर बरामदे में और ज्यादा झगड़ा बढ़ गया। उसके बाद अचानक सब शांत भी हो गया और पहियों के घूमकर वापस जाने की आवाजें आने लगीं। वह अंग्रेज महिला हांफती हुई वापस लौटी। उसने सबसे माफी मांगी और फिर वहां कुछ शांति हुई।

उसने डरी हुई भारतीय महिलाओं से कहा– 'मुझे दुःख है। लेकिन, अब सब खत्म हो गया है। इसे भूल जाइए। अब ऐसा कुछ नहीं होगा।' और

https://ebooks.hindiyug.com

उसके बाद उसने हम लोगों से कहा– 'युवा रूजवेल्ट दंपति मिलने आए थे और उन्हें (परदे के बारे में) मालूम नहीं था।'

इसके तुरंत बाद बातचीत आरंभ हो गई। एक युवा भारतीय स्त्री ने अपनी बात रखते हुए कहा– 'आपके लिए हमारे परदे को पसंद करना मुश्किल है। किन्तु हमें कुछ ज्यादा नहीं पता है। हम अपने घरों में पूरी शांति और सुरक्षा के साथ जीवन बिताती हैं। और जिस तरह के पुरुष होते हैं, उनके साथ हम बाहर दुःखी और भयभीत ही रहेंगी।'

किन्तु, एक अधेड़ आयु की महिला ने कुछ अलग ही विचार व्यक्त किए- 'मैं अपने पति के साथ इंग्लैंड रहकर आई हूं।' फिर उसने दूसरी स्त्रियों से बचाकर धीरे से कहा– 'जब हम वहां थे, तो मेरे पति ने मेरा परदा हटवा दिया था। क्योंकि, इंग्लैंड में स्त्रियों को सम्मान से देखा जाता है। सो, मैं वहां गलियों, दुकानों, गैलरियों और बगीचों में; यहां तक कि दोस्तों के घरों में भी स्वतंत्रता से आती-जाती थी। वहां मैं पूरी तरह से आराम से थी। वहां मुझे न किसी ने डराया और न परेशान किया। मैं वहां स्त्रियों और पुरुषों दोनों से खूब बातें करती थी। ओह! वह शानदार था, एकदम स्वर्ग। किन्तु, यहां ऐसा कुछ नहीं है। यहां मुझे अपने दर्जे के हिसाब से कठोर परदे के साथ जनाने में रहना पड़ता है। औरतों और अपने पति के सिवा कोई देखने को नहीं मिलता। हम कुछ देख नहीं सकते। हमें कुछ मालूम नहीं। हमारे पास एक-दूसरे को कहने के लिए कोई बात नहीं होती। हम लड़ते हैं और ऊब जाते हैं।' उसने सबसे वृद्ध महिला की ओर सिर हिलाकर कहा– 'पर ये लोग यही चाहती हैं। यह केवल हमारी मेजबान की वजह से हुआ है कि आज ये स्त्रियां यहां आई हैं। वे इससे अधिक के लिए कभी राजी नहीं होंगी। अगर हमने परदे के नियम में जरा भी ढिलाई की, तो वे सभी महिलाएं जानती हैं, हर घर में हमारे जीवन को किस तरह खौफनाक बना दिया जाएगा।'

इसके बाद उनके चेहरों को देखने से उसकी कही बातों का चित्र नजर आता था। नई स्त्रियों के चेहरे भावशून्य दिखते थे। उनकी हमउम्र स्त्रियों के चेहरों पर अकथनीय उदासीनता और थकान नजर आती थी और वृद्ध महिलाओं की आंखें तेज और उनके लोहे जैसे होठों पर प्राचीन सत्ता का भाव दिखता था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट कहती है– [1]

> 'उच्च वर्गों की समस्त रूढिवादी बंगाली महिलाएं—चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान—शुरुआती उम्र से ही परदे में रहती हैं और अपना सारा जीवन अपने घरों में एकांत में बिताती हैं; जहां उन पर परिवार की बूढ़ी औरतों का नियंत्रण रहता है। यह एकांतवास हिंदुओं की अपेक्षा मुस्लिमों में ज्यादा कठोर है। कुछ पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित महिलाओं ने जरूर अपने आपको इस बंधन से मुक्त कर लिया है। किन्तु, ऐसी महिलाओं को देश की अधिकांश महिलाएं बाहरी मानती हैं।'

किन्तु, बंबई में परदा प्रथा बहुत कम है। निस्संदेह, इसका कारण पारसी महिलाओं की प्रगतिशील और उदार स्थिति का प्रभाव है। मद्रास प्रांत में विशेष रूप से मुसलमानों और धनी हिंदुओं में ही परदे का नियम है। मुझे दो भद्र हिंदुओं ने—जो इंग्लैंड से विज्ञान की पढ़ाई करके आए थे—बताया कि उन्होंने स्वयं अपनी पत्नियों का परदा छुड़वाने पर बहुत जोर दिया और उन्होंने अपनी बेटियों को यूरोप के स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया है। पर, उन्होंने आगे कहा कि उन्हें यह देखकर दुःख हुआ कि उनकी पत्नियां परदे के बाहर रहना नहीं चाहतीं और उन्हें पूर्व की तरह परदे में रहना ही पसंद है। और जिस तरह के आज हालात हैं, उन्हें देखते हुए हमें यह मानना होगा कि उनके पक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है। भारत में या उसके बाहर भी, स्त्रियों की उन्नत स्थिति पर हिंदू-स्वामियों के सुंदर वचन सुनने में आते हैं। इस विषय में अक्सर मनु के इस वचन को उद्धृत किया जाता है–

> 'जहां स्त्री का सम्मान नहीं होता है, वहां यज्ञीय अनुष्ठान निष्फल हो जाते हैं।'

किन्तु, मि. गांधी इसका सारांश यह बताते हैं– 'उस उपदेश का क्या मूल्य है, जब हमारा आचरण ही उसके विपरीत है।' [2]

परदे का एक परिणाम यह है कि उसमें तपेदिक पैदा हो जाता है। डॉ. आर्थर लैंकेस्टर [3] ने दिखाया है कि परदे में रहने वाली औरतों में तपेदिक से मरने वाली औरतों की संख्या भयानक रूप से सबसे ज्यादा होती है। उन्होंने यह भी बताया कि एक जैसी जगह और एक जैसी आदतों और अवस्थाओं में रहने वाले लोगों में—जो औरतें परदा करती हैं उनमें, उन लोगों के मुकाबले, जिनकी औरतें कम परदा करती हैं—तपेदिक से ज्यादा मौतें होती हैं।

कलकत्ता का स्वास्थ्य अधिकारी 1917 की अपनी रिपोर्ट में घोषणा करता है–

> 'नगर की सामान्य मृत्यु-दर में सुधार होने के बावजूद अभी भी महिलाओं में मृत्यु-दर पुरुषों की अपेक्षा 40 प्रतिशत अधिक हैं। बड़े शहरों में—सिवाय कुछ अत्यंत धनी लोगों (जो अपनी जमीनों पर विशाल मकान खड़े कर सकते हैं) के—परदे के रिवाज का कठोर पालन आवश्यक रूप से बड़ी संख्या में स्त्रियों की अकाल मृत्यु का कारण बनता है। और जब तक इस बात को नहीं समझा जाएगा, तब तक शहरों से मौजूदा यह कलंक कभी दूर नहीं होगा।'

लंदन स्कूल ऑफ हाईजीन एंड ट्रोपिकल मेडिसिन के निदेशक डॉ. एंड्रयू बालफोर यह दिखाते हुए कि भारतीय लोगों की आदतें इस बीमारी के प्रसार में किस कदर सहायक होती हैं। वे लिखते हैं– 'संयुक्त परिवार की व्यवस्था, जिसमें बड़े परिवार के सभी सदस्य एक साथ रहते हैं; उनमें परदे के रिवाज के कारण औरतों को मकान के अंधेरे और गंदे हिस्सों में रहना पड़ता है। बाल विवाह, जिसके कारण हजारों युवाओं की जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है। और फिर लोगों में कहीं भी थूक देने की आदत है। [4] इनके साथ-साथ गंदगी, अस्वच्छता, घर में कैद होकर रहना, हवा और व्यायाम की कमी तपेदिक के कीटाणुओं के पैदा होने और पनपने के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं। इस प्रकार भारत में अनुमानत: नौ से 10 लाख लोग प्रतिवर्ष तपेदिक से मरते हैं।' [5]

यह भी अनुमान किया गया है कि आज हिंदू-मुस्लिम दोनों को मिलाकर 40 मिलियन (4 करोड़) भारतीय औरतें परदे में रहती हैं। [6] किन्तु, जिन अनुभवी अधिकारियों से मैं मिली, उनका मत यह है कि इस अनुमानित संख्या में अगर उन स्त्रियों को शामिल किया गया है, जिन्हें इतने कठोर परदे में रखा जाता है कि उन्हें कभी घर से बाहर नहीं निकलने दिया जाता और सिवाय अपने पति तथा पुत्र के वे किसी अन्य पुरुष को नहीं देखती हैं; तो उनकी संख्या लगभग एक-तिहाई से अधिक नहीं है। जो स्त्रियां अपने विवाह के दिन से अपनी मृत्यु के दिन तक कभी बाहर की दुनिया नहीं देखतीं, उनकी सुविचारित अनुमानित संख्या 1,12,50,000 और 1,72,90,000 के बीच हो सकती है।

परदे में रहने वालीं स्त्रियों पर इसका जो मानसिक प्रभाव पड़ता है, उस संबंध में भारतीय विशेषज्ञों के विचार जानना आवश्यक है।

भारतीय फिजीशियन डॉ. एन.एन. पारेख कहते हैं– [7] 'जहालत और परदे की प्रथा ने भारतीय स्त्रियों को पशुओं के समान बना दिया है। वे अपनी रक्षा करने तक में असमर्थ हैं और न ही उनमें कोई इच्छाशक्ति रह गई है। वे केवल अपने पुरुष स्वामियों की गुलाम बनी हुई हैं।' [8]

दिसंबर 1925 में बंबई में स्वराजवादी नेता लाला लाजपत राय ने हिंदू महासभा में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था–

> 'वर्तमान हिंदू जीवन की महान विशेषता अकर्मण्यता है। उनके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की संपूर्ण मानसिक स्थिति सिर्फ इस वाक्य में सिमटी हुई है– 'जो हो रहा है, होने दो।' हर बात के आगे झुकना उनका स्वभाव बन गया है। उन्होंने इस स्वभाव और मानसिकता को अपनी मांओं से प्राप्त किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब उनके रक्त में ही है। हमारी स्त्रियां बहुत-सी बाधाओं के बीच काम करती हैं। वे सिर्फ अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण बुद्धिहीन ही नहीं हैं, बल्कि शारीरिक रूप से भी कमजोर नस्ल की हैं। औरतों को खुली हवा बहुत कम मिलती है और वे व्यायाम प्राय: बिलकुल नहीं करती हैं। पृथ्वी पर यह कैसी जाति है और कैसे इसे सुधारा और समर्थ बनाया जा सकता है? हमारी बहुत-सी औरतों को क्षय रोग हो जाता है और वे समय से पहले ही मर जाती हैं। उनमें जो मां के रूप में मरती हैं, वे अपने बच्चों को भी बीमारी दे जाती हैं। तपेदिक के मरीजों को घर के दूसरे लोगों से अलग रखना लगभग असंभव है। एक झगड़ालू, हठी, निर्लज्ज और बदतमीज स्त्री से घृणित कोई चीज नहीं होती है। किन्तु यदि हिंदू स्त्री के लिए बलवान, साहसी, स्वतंत्र और योग्य मां बनने के सिवाय और कोई उपाय नहीं हो, तो इस पतित अवस्था से मैं उनमें ये सब अवगुण पैदा हो जाना पसंद करूंगा।'

इसे कलकत्ता महिला कॉलेज की अंग्रेज प्राचार्य के व्यावहारिक अनुभव से समझा जा सकता है। यह कलकत्ता के स्वास्थ्य अधिकारी की रिपोर्ट से—जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है—आठ साल बाद का अनुभव है; जिसका संबंध बंगाल की प्रगतिशील और स्वतंत्र परिवारों की लड़कियों से है– [9]

> 'वे व्यायाम पसंद नहीं करती हैं और उसे दबाव में करती हैं। यदि वे चाहें, तो खुली हवा में भी नहीं जाएं। एक औसत छात्रा बहुत कमजोर होती है। उसे अच्छे भोजन, व्यायाम और इलाज के लिए जिमनास्टिक्स की जरूरत है। उसका सीना सिकुड़ा हुआ और पीठ प्राय: झुकी हुई है। उसकी खेल में भी कोई रुचि नहीं होती है। हम ऐसे अधिकार चाहते हैं, जिससे छात्राओं को ऐसे प्रशिक्षण के लिए—जो उनमें एक स्त्री का विकास कर सकें—बाध्य कर सकें।'

किन्तु, भारतीय लड़कियों के विकृत शरीर को सुधारने के लिए शारीरिक शिक्षा की आशा करना विदेशी पाश्चात्य व्यक्ति के लिए एक दूर का सपना है। प्राचीन रूढ़ियों वाले भारत को इसकी जरूरत नहीं है। हिंदू पिता यह शिकायत करता है कि वह अपनी बेटी को नर्तकी बनाना नहीं चाहता है। उसकी शादी भी संकुचित परिवारों में ही होती है। और वहां किसी-न-किसी बूढ़ी औरत को यह कहने का हमेशा मौका रहता है कि लड़की को खुलेआम हाथ-पैर मटकाना सिखाया गया है। अवश्य ही ऐसी बेशर्म लड़की को हमारे घर में नहीं लाना चाहिए। [10] इस साक्ष्य को उद्धृत करते हुए एक अधिकारी कहता है– 'वस्तुत: इस तरह का विरोध सनातनी लोगों में किया जाता है। पर सनातनी लोग ही असल में बहुमत में हैं।' [11]

ऑक्सफोर्ड मिशन कलकत्ता के साप्ताहिक पत्र के 20 फरवरी 1926 के अंक में 'तू हत्या मत कर' नामक शीर्षक से एक संपादकीय प्रकाशित हुआ था, जिसका आरंभ इन शब्दों से हुआ था–

> 'कुछ वर्ष पहले हमने उपर्युक्त शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें एक महिला लेखिका ने बंगाल में परदे और जनाना में रहने वाली औरतों के जीवन और स्वास्थ्य के भयानक ह्रास के बारे में विस्तार से लिखा था। हमने सोचा था कि स्वास्थ्य अधिकारी की रिपोर्ट पर आधारित उस लेख को पढ़ने के बाद—हमारे पास उसके विरोध में—तुरंत सुधार की मांग करने वाले पत्रों का अंबार लग जाएगा। किन्तु, पुरुष-जगत में उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। स्पष्ट है, उनमें लेश मात्र भी रुचि पैदा नहीं हुई। यदि कोई लेख गंडा-तावीज या जादू-टोने के खंडन में होगा, तो वह तुरंत ही आलोचना का विषय बन जाएगा और स्नातक शिक्षित लोग भी अंधविश्वास जैसी बकवास चीज का समर्थन करने लगेंगे। किन्तु, इस सत्य पर भय की कोई आवाज नहीं उठी कि कलकत्ता में प्रति पुरुष पांच औरतें तपेदिक से मरती हैं।'

फिर भी इस विषय में कुछ पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवकों में चिंता देखने को मिलती है। उनमें बहुत-से कहते हैं कि वे भारत को पश्चिम के विचारों से मुक्त कराने के बाद अवश्य ही स्त्रियों के विषय को उठाएंगे। किन्तु, फिर भी इस विषय में ऐसी व्यग्रता अक्सर लोगों में नहीं मिलती; जैसी कलकत्ता के उपरोक्त पत्र में प्रकाशित अवनी मोहन दास के इन विचारों में मिलती है–

> 'मैं हरम (जनाना) में अपनी माताओं और बहिनों की स्थिति के बारे में सोचकर कांप जाता हूं। वे तड़के सुबह से देर रात तक बिना बड़बड़ाए रोजमर्रा के सारे काम जीवन भर करती हैं। मानो वे सहनशीलता की मूर्ति हैं। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं, जहां स्त्री ने विवाह के समय अपने पति के घर में प्रवेश किया और फिर वह मरकर ही उस घर से बाहर निकली। वे हमेशा काम में लगी रहती हैं। मानो उनकी अपनी कोई इच्छा या तकलीफ ही नहीं है। उन्हें सिर्फ सहना है। बिना विरोध किए सहना है। मैं भारतीय युवकों से अपील करता हूं कि वे स्त्रियों की आजादी का झंडा फहरा दें। उन्हें उनके अधिकार दे दें। क्या मैं रेगिस्तान में चिल्ला रहा हूं?'

बंगाल कटु राजनीतिक अशांति का क्षेत्र है। भारत के अराजकतावादियों, बम फेंकने वालों और हत्याएं करने वालों का यह निर्माता बन चुका है। बंगाल भारत के उन क्षेत्रों में से भी एक है, जहां अत्यधिक यौनाचार फैला हुआ है। हर देश के चिकित्सा और पुलिस अधिकारी यह मानते हैं कि अत्यधिक यौनाचार और विचित्र अपराधी दिमागों के बीच एक संबंध है। जब यौनाचार के सामान्य उपाय समाप्त हो जाते हैं, तो लोग अपनी काम-पिपासा को शांत करने के लिए अनुचित और अस्वाभाविक साधन खोजने लगते हैं।

किन्तु, बंगाल कठोर परदा प्रथा का भी गढ़ है। और इस बारे में कोई भी कल्पना किए बिना नहीं रह सकता कि पागलपन के राजनीतिक अपराध के जिन विस्फोटों में बंगाल के युवाओं ने भाग लिया था, उनको वह उत्तेजना परदे के अंदर के घरेलू जीवन की नीरसता और निराशा से ही मिली होगी, जिसे पाश्चात्य सिद्धांतों ने और भी बढ़ा दिया होगा। क्योंकि, उन सिद्धांतों को उन्होंने पूरी तरह नहीं, बल्कि आधा ही अपनाया था।

---

[1] वॉल्यूम-2, पार्ट-1, पृष्ठ- 4, 5
[2] लेखक का वक्तव्य, साबरमती, अहमदाबाद, मार्च 17, 1926
[3] ट्यूबरकुलेसिस इन इंडिया, ऑर्थर लैंकेस्टर, एम.डी., बटरवर्थ एंड को., लंदन, 1920, पृष्ठ-140
[4] हेल्थ प्रॉब्लम्स ऑफ एम्पायर, डॉ. एंड्रयू बालफोर एवं डॉ. एच.एच. स्कॉट, कोलिंस, लंदन, 1924, पृष्ठ- 286
[5] वही, पृष्ठ-285
[6] इंडिया एंड मिशन्स, दि बिशप ऑफ डोर्नाकल।
[7] लेजिसलेटिव असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम-3, पार्ट-1, पृष्ठ-881
[8] पूर्वोक्त, पृष्ठ-77, 80, 109, 116
[9] डाइओसिसन गर्ल्स कॉलेज की प्राचार्या सिस्टर मेरी विकटोरिया, बंगाल में शैक्षणिक प्रगति की पंचवर्षीय समीक्षा, पैराग्राफ 521-4
[10] निरीक्षिका, पश्चिम बंगाल, कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-2, पार्ट-1, पृष्ठ-23
[11] वही, पृष्ठ-24

अध्याय **10**

कुंवारी स्त्री

ब्रिटिश भारत में ऐसी साक्षर महिलाओं की संख्या दो प्रतिशत से भी कम है, जो किसी भी एक भाषा में सरल वाक्यों में एक पत्र लिख सकें और पढ़ सकें। ऐसे साक्षरों की सही संख्या 1921 में एक हजार में 18 थी। [1] किन्तु, 1911 में यह संख्या केवल एक हजार में 10 थी। और इस वृद्धि के कारण पर विचार करने के लिए दो बिंदु विचारणीय हैं– पहला यह कि एक सदी पहले—एक-दो विशिष्ट स्त्रियों को छोड़कर—भारत में कोई शिक्षित महिला नहीं थी और दूसरा यह कि भारत के अधिकांश लोग हमेशा धार्मिक-सामाजिक आधार पर महिलाओं की शिक्षा के घोर विरोधी रहे हैं और अभी भी विरोध करते हैं।

19वीं सदी के आरंभ में आबे दुब्बा ने लिखा था– [2]

> 'ब्राह्मणों की पत्नियों की सामाजिक स्थिति अन्य जातियों की स्त्रियों से बहुत कम अलग है। वे इस योग्य ही नहीं समझी जाती हैं कि उनमें ऐसे उच्च मानसिक गुण विकसित हों, जिनसे वे अधिक सम्मान के योग्य बन सकें और जीवन में उपयोगी भूमिका निभा सकें। इन विचारों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि स्त्री-शिक्षा पूरी तरह उपेक्षित हो गई। इसलिए एक युवा लड़की का दिमाग पूरी तरह अविकसित ही रह जाता है, जबकि उनमें से अनेक में बहुत अच्छी क्षमताएं पाई जाती हैं। प्रतिष्ठित स्त्री को पढ़ना-लिखना सिखाना अपमानजनक समझा जाता है और यदि उसने पढ़ना-लिखना सीख भी लिया, तो वह उसे बताते हुए शर्म करेगी।'

यह वर्णन हिंदुओं के विषय में है। पर, इस्लाम ने भी भारत में स्त्री-शिक्षा को पसंद नहीं किया है। इसलिए, दोनों धर्मों के अधिकांश लोग स्त्री-शिक्षा को गैर-जरूरी, धर्म-विरुद्ध और खतरनाक मानते हैं।

वर्ष 1917 में भारत के गवर्नर-जनरल इन काउंसिल ने कलकत्ता विश्वविद्यालय और बंगाल राज्य की शैक्षिक स्थितियों के बारे में जांच करके अपनी सिफारिशें देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की थी। इस आयोग में लीड्स, ग्लासगो, मैनचेस्टर और लंदन के विश्वविद्यालयों के जाने-माने शिक्षाशास्त्री और भारत के प्रमुख प्रोफेसर शामिल किए गए थे। जिस बंगाल प्रांत की आयोग को जांच करनी थी, वह लंबे समय से ब्रिटिश भारत के सभी प्रांतों में शिक्षा का प्रख्यात केंद्र रहा है। आयोग ने अपने तीन साल के कार्यकाल में जो साक्ष्य एकत्र किए, उससे भारत के संपूर्ण प्रांतों के बारे में राय कायम करना गलत होगा।

इन साक्ष्यों में- स्त्री-शिक्षा के संबंध में -हिंदू अकादमी, दौलतपुर के सचिव मि. बृजलाल चक्रवर्ती ने जो बयान दिया है; वह इस तरह है– [3]

> 'हिंदुओं के धर्म-ग्रंथों में कठोरता से आदेश दिया गया है कि स्त्रियों को अपने परिवार के सिवा बाहर के किसी प्रभाव को ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। इसलिए, स्कूल और कॉलेज की कोई भी शिक्षा व्यवस्था उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल व ठीक नहीं हो सकती। स्त्रियों को परिवार में ही काफी नैतिक और व्यावहारिक शिक्षा मिल जाती है, जो उस शिक्षा से ज्यादा महत्वपूर्ण होती है, जिस तरह की शिक्षा स्कूलों में दी जाती है।'

आयोग के दूसरे साक्षी आसनसोल हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक हरिदास गोस्वामी ने इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहा– [4]

> 'किसी भी तरह से लड़कियों में ऐसी शिक्षा के लिए रुचि पैदा करना बुद्धिमानी नहीं है, जिसे पूरा करने के लिए उन्हें जीवन में कोई अवसर नहीं मिलेगा और इस प्रकार जो उनमें असंतोष तथा कलह के बीज बो देगी।'

एक अन्य साक्षी रबीन्द्र मोहन दत्त [5] ने—जो विश्वविद्यालय के ही सदस्य थे—इस बात पर खेद प्रकट किया कि अज्ञान और अंधविश्वास का अंधकार इतना है कि उसके कारण भारत की स्त्रियां अपने शिक्षित पतियों, भाइयों और पुत्रों के साथ निरंतर झगड़ा करती हैं और उनसे असहमत होती रहती हैं। फिर भी उनका जोर इसी बात पर था कि सनातनी हिंदुओं के विचारों का ही अनुसरण होना चाहिए। उनको वस्तुत: इस बात का भय था कि कहीं बाहर से भारतीय घरों के भीतर ऐसे क्रांतिकारी और बुद्धिवादी विचार न फैल जाएं, जो हमारी उन समस्त प्राचीन संस्थाओं का—जो लंबे अतीत का परिणाम हैं और हमारे रक्त-मांस का हिस्सा बन चुकी हैं—खंडन करें।

किन्तु, जब भी भारतीय राजनीतिक संस्थाओं में स्त्री-शिक्षा का विषय चर्चा के लिए प्रस्तुत किया जाता है, तो अनेक वक्ता परिवर्तन के पक्ष में भाषण देने के लिए खड़े हो जाते हैं। दिल्ली विधानसभा में डॉ. हरिसिंह गौड़ स्त्रियों को परदे में रखने और उनके दमन की भर्त्सना करते हैं। [6] और संयुक्त प्रांत के नगर प्रतिनिधि मुंशी ईश्वर सरन [7] खिल्ली उड़ाने के अंदाज में कहते हैं–

> 'यह कलियुग का पाप है कि आज के युवा शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और फिर शिक्षित होकर वे अपने बड़ों की बात मानने से इनकार कर देते हैं। इसी तरह की मूर्खता हमारी यह है कि हमने अपनी लड़कियों को पढ़ाना शुरू कर दिया है। अगर यह जारी रहा, तो मैं पूछता हूं कि क्या आप समझते हैं कि आप अपनी लड़कियों पर हुकूमत कर सकेंगे?'

मुझे याद है, एक बार मेरे परिचित एक धनी हिंदू नवयुवक ने—जो हाल ही में एक अंग्रेज विश्वविद्यालय से पढ़कर आया था—जोश में आकर कहा था कि वह हरगिज किसी भारतीय पत्नी को नहीं लाएगा। क्योंकि, वह कभी भी 10वीं सदी की पत्नी से बंधना नहीं चाहेगा।

पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीयों में जीवन की उच्च सामाजिक स्थितियों में अपने जैसी शिक्षित पत्नियों को पाने की इच्छा कभी-कभी इतनी बलवती हो जाती है कि वे ऐसी पत्नियों के लिए अधिक दहेज छोड़कर बहुत कम दहेज लेना स्वीकार कर लेते हैं।

यह कारण हालांकि महत्वपूर्ण है। फिर भी ऐसे लोगों की संख्या अभी कम है। संभवत: जितनी आजादी स्त्रियों को बंबई में मिलती है, उतनी दूसरे प्रांतों में नहीं मिलती है। इसके बावजूद बंबई की शैक्षिक रिपोर्ट में कहा गया है– [8]

> 'शिक्षित लोग अपने पुत्रों के लिए शिक्षित पत्नियां चाहते हैं और अनुमानत: इसी मकसद को ध्यान में रखकर वे अपनी पुत्रियों को पढ़ाते हैं। पर, अगर कोई लड़की अपने विवाह को टालकर या रोककर अपनी पढ़ाई को लंबे समय तक जारी रखना चाहती है, तो इस कारण से वे उसका स्कूल जाना भी बंद करा देते हैं।'

मध्य प्रांत की रिपोर्ट बताती है–

> 'वे लोग भी, जो अपनी बेटियों को पढ़ाने के खिलाफ नहीं हैं, यह मानते हैं कि उन्हें प्राइमरी तक पढ़ाना ही काफी है और उसके बाद लड़कियों की उम्र इतनी ज्यादा हो जाती है कि उन्हें घर से बाहर नहीं भेजा जा सकता।' (स्रोत वही)

और असम की रिपोर्ट कहती है–

> 'माता-पिता अपनी लड़कियों को इसलिए स्कूल भेजते हैं, ताकि उनके विवाह के लिए अच्छे और कभी-कभी कम दहेज में वर मिल सकें। और जैसे ही योग्य वर मिल जाता है, लड़की को तुरंत परदे में डाल दिया जाता है।' (स्रोत वही)

निश्चित रूप से अधिकांश लोगों की भावनाएं अतीत की परंपराओं में आस्था बनाए रखने में हैं। उनका उल्लंघन करने का अर्थ मानवजाति के लिए जोखिम पैदा करना है। इस जोखिम को समझने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानसिक और नैतिक विज्ञान के प्रोफेसर डॉ. बृजेन्द्रनाथ शील (एम.ए., पी.एचडी.) का एक रूपक बहुत अर्थपूर्ण है। यह हिंदू दार्शनिक लिखता है– 'स्त्री शराब खींचने वाली है और पुरुष उसके कुंड में शराब घर की खींची हुई शराब है। अथवा भारतीय इसे इस तरह कहेंगे कि स्त्री कातने वाली है और पुरुष घर पर कते हुए सूत का कपड़ा है।' [9]

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग [10] की रिपोर्ट कहती है कि आमतौर पर लोग इसी तरह के तर्कों के आधार पर स्त्रियों की शिक्षा का विरोध करते हैं; जिसका समर्थन सामान्यत: वे लोग भी करते हैं, जिन्होंने पूरी तरह पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की हुई होती है। अगर लड़की को स्कूल भेजा भी जाता है, तो उसका उद्देश्य शिक्षा दिलाना नहीं होता है। क्योंकि, उससे तो वे इस कदर नफरत करते हैं कि उसकी आवश्यकता भी नहीं समझते; बल्कि उसका उद्देश्य उसे कुछ समय के लिए घर के बाहर सुरक्षित स्थान पर रखना होता है।

मि. बी. मुखर्जी (एम.ए., एफ.आर.ई.एस.) लिखते हैं– [11]

> 'कठोर समाज-व्यवस्था के कारण—जिसमें 12 वर्ष की आयु में लड़कियों का विवाह करना धार्मिक रूप से अनिवार्य है, उस आयु के बाद—सामान्य हिंदू लड़की की आगे की पढ़ाई की सारी आशाएं खत्म हो जाती हैं।'

एक अनुमान है कि स्कूल में पढ़ने वाली कुल संख्या में से 73 प्रतिशत लड़कियों को साक्षर होने से पहले ही स्कूल से उठा लिया जाता है। 1922 में बंगाल प्रांत में पढ़ने वाली लड़कियों में प्रति 100 में एक लड़की ही साक्षर होने के बाद प्राथमिक स्तर से ऊपर की कक्षा में पढ़ाई जारी रख सकी थी। [12]

भारत की महिलाओं में शिक्षा के प्रसार का काम नितांत कठिन और निराशाजनक है। इस दिशा में जो भी थोड़ी-बहुत उन्नति हुई है, वह प्रथम और मुख्यतया ब्रिटिश सरकार की ओर से किए जा रहे धैर्य और परिश्रम से लोगों को राजी करने के प्रयासों का; दूसरे, ब्रिटिश और अमेरिकन मिशनरियों के कठिन परिश्रम का और तीसरे, प्रगतिशील भारतीयों की सोच का प्रतिफल है। जिसने अपने परिवर्तन के विचारों को कार्यरूप में बदलने का प्रयास किया। किन्तु, यह अनुमान लगाया जाता है कि स्वयं भारतीयों की ओर से अगर अपने अंदर क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किए जाएंगे, तो विरोध और अकर्मण्यता से इस तरह के संयुक्त प्रयासों से लड़ने में भी अभी 95 वर्ष और लगेंगे; तब कहीं 12 प्रतिशत स्त्री आबादी को प्राथमिक शिक्षा की सुविधा दी जा सकेगी। [13]

1908 में बंबई के निकट पूना में गरीब स्त्रियों और लड़कियों को प्राथमिक शिक्षा और उपयोगी दस्तकारी सिखाने के लिए भारतीय महिलाओं ने 'सेवा सदन समिति' नामक संस्था आरंभ की थी। अभी हाल में सामने आई रिपोर्ट के अनुसार, उसके पास लगभग एक हजार छात्राएं शिक्षा पाती हैं। इस समिति की सफलता बताती है कि भारत की खुशहाल महिलाएं अगर ठान लें, तो शेष महिलाओं के लिए क्या कुछ कर सकती हैं। किन्तु, उस संस्था का कार्य पूरी तरह बंबई प्रेसीडेंसी तक ही सीमित है और दुर्भाग्य से जैसा कि उसकी रिपोर्ट बताती है, उस जैसी कोई दूसरी संस्था भारत के दूसरे भाग में नहीं है।

यह मैं दूसरे अध्याय में दिखाऊंगी कि सरकार की ओर से शिक्षा का प्रबंध हाल के वर्षों में भारतीयों के हाथों में सौंप दिया गया है।

1921-22 में ब्रिटिश भारत में लड़कियों के लिए प्राइमरी स्कूलों से लेकर कला और व्यावसायिक कॉलेजों तक, सभी श्रेणियों के कुल 23,778 स्कूल थे। इनमें प्राइमरी स्कूलों में पढ़ने वाली छात्राएं 12,97,643 थीं, माध्यमिक में पढ़ने वाली 24,500 थीं और सबसे कम संख्या हाईस्कूल में पढ़ने वाली लड़कियों की थी, जो 5,818 थीं। [14]

यद्यपि, रिपोर्ट कहती है कि प्राइमरी से ऊपर पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या अभी शोचनीय स्तर पर है, जो संपूर्ण भारत में स्कूल जाने वाली 15 मिलियन संख्या में केवल 30,000 है। फिर भी यह 1917 की संख्या से 30 प्रतिशत ज्यादा है। [15]

1924-25 में बंबई प्रांत में स्त्रियों की कुल जनसंख्या में से केवल 2.14 प्रतिशत स्त्रियां ही किसी तरह की शिक्षा पा रही थीं। [16] जबकि 1919 में संपूर्ण भारत में हिंदू स्त्रियों की जनसंख्या में 0.9 प्रतिशत और मुस्लिम स्त्रियों में 1.1 प्रतिशत लड़कियां ही स्कूल जाती थीं। [17]

रिपोर्ट कहती है कि ऐसे स्कूलों को बढ़ाना ज्यादा सही होगा, जिनमें छोटी लड़कियां प्राथमिक कक्षाओं से ही पढ़ाई के साथ-साथ अपना मनोरंजन भी करें और जहां से वे धीरे-धीरे प्राइमरी श्रेणी से आगे बढ़ें। इस तरह की संख्या के परिणाम प्रभावशाली होंगे। परंतु, उसका शैक्षिक प्रभाव शून्य होगा और जनता का पैसा भी बर्बाद जाएगा। [18]

किन्तु, स्त्रियों में अशिक्षा को कायम रखने के प्रयासों में वही शक्ति काम करती है, जो प्राचीन दाई प्रथा और परदा प्रथा को बनाए रखने में करती है। और यह महान शक्ति, जो बूढ़ी स्त्रियों में मिलेगी; वह है– चीजें यथास्थिति में रहें। ये बूढ़ी स्त्रियां अपने स्वर्ग के देवताओं और अपनी धरती के देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी बेटियों को अपने जैसा ही निरक्षर बनाकर रखने में अपनी जान दे देंगी। जैसा कि एक स्पष्टवादी वृद्ध सिख किसान सैनिक कैप्टन हीरा सिंह बरार ने एक बार विधानसभा में सुधार के तरीके पर कहा था– [19]

> 'बहुत से लाला और पंडित मंचों पर आकर बोलते हैं—अब समय आ गया है कि हम यह सुधार करें, वह सुधार करें। लेकिन क्या हुआ? जब घर जाकर अगली सुबह वे हमसे मिलते हैं, तो कहते हैं- हम क्या कर सकते हैं? हम असहाय हैं। जब हम घर वापस गए, तो जो हम करना चाहते हैं, हमारी स्त्रियां हमें वैसा नहीं करने देती हैं। वे कहती हैं कि हमें तुम्हारे सुधारों की परवाह नहीं है। वे हमें सुधार नहीं करने देंगी।'

स्त्रियों की अशिक्षा की हिमायती प्राचीन प्रथा की इन पुरोहितानियों के अतिरिक्त एक और प्रभावशाली शक्ति है, जो आर्थिक स्वार्थ की शक्ति है। व्यक्ति को अपनी बेटी का विवाह अवश्य ही करना है। वरना उसे लोक और परलोक में भारी दंड भोगना पड़ेगा। जिससे सभी बचना चाहते हैं। कोई विरला व्यक्ति भी इस तरह भारी दहेज दिए बिना अपनी बेटी का विवाह नहीं कर सकता है। और दहेज देने के कारण आर्थिक रूप से उसकी कमर टूट जाती है। अगर इसमें विवाह का खर्च भी जोड़ दिया जाए—जो दहेज के अतिरिक्त होता है—तो वह भारी कर्ज में फंस जाता है। आमतौर पर उसे इस भार को अपनी बेटी के 13 वर्ष की होने से पहले ही उठाना पड़ता है। तब वह अपनी बेटी की पढ़ाई पर क्यों ज्यादा धन खर्च करे? और यदि वह गरीब है और अपनी बेटी से मजदूरी कराकर कुछ कमा सकता है, तो वह उसे स्कूल भेजकर अपना आर्थिक

नुकसान क्यों करे? जबकि उस लड़की को कुछ दिनों बाद हमेशा के लिए दूसरे आदमी की सेवा में जाना ही है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के फेलो राय हरीनाथ घोष ने इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है– [20]

> 'लोग स्वभावत: अपने लड़कों को इसलिए पढ़ाते-लिखाते हैं। क्योंकि, वे अच्छी तरह जानते हैं कि लड़के भविष्य में उनके बुढ़ापे में उन्हें सुख और आराम पहुंचाएंगे और परिवार का नाम रोशन करेंगे। जबकि लड़कियां विवाह के बाद दूसरों के वश में हो जाएंगी।'

किसी भी औसत भारतीय पिता को—भले ही वह किसी भी जाति का हो—ये दलीलें सही लगती हैं। इसीलिए, भारत की माता बनने का महत्वपूर्ण कार्य अशिक्षित बच्चियों की बुद्धि और समझदारी पर छोड़ दिया जाता है।

जब लोग लड़कियों की प्राइमरी शिक्षा के भी पक्ष में नहीं हैं, तो उनकी उच्च शिक्षा की कठिनाइयों को आसानी से समझा जा सकता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के मि. मोहिनी मोहन भट्टाचार्जी इसे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं– [21]

> 'भारतीय स्त्रियों की उच्च शिक्षा को प्राय: व्यावहारिक सुधार के क्षेत्र के परे समझा जाता है। रूढ़िवादी किस्म की किसी भी हिंदू या मुस्लिम स्त्री ने न कभी कॉलेज में दाखिला लिया और न ही कभी स्कूल में उच्च कक्षा तक पढ़ाई की है। जो लड़कियां विश्वविद्यालय में पढ़ती हैं, वे या तो ब्रह्मो [22] हैं या ईसाई हैं। बंगाल में वह समय अभी दूर है, जब विश्वविद्यालय को बड़े पैमाने पर लड़कियों के लिए उच्च शिक्षा का प्रबंध करना पड़ेगा।'

नवीनतम उपलब्ध रिपोर्ट से पता चलता है कि पूरे ब्रिटिश भारत में कला और व्यावसायिक कॉलेजों में पढ़ने वाली लड़कियों की कुल संख्या 961 है। मि. भट्टाचार्जी के निंदात्मक शब्दों के विपरीत राय सतीश चन्द्र सेन बहादुर के शब्द भारतीयों का ज्यादा प्रतिनिधित्व करते हैं– [23]

> 'पश्चिम के प्रगतिशील समुदायों में—जहां स्त्रियां प्राय: पुरुषों के बराबर कदमताल करती हैं और जहां किसी भी स्त्री से वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने की आशा नहीं की जा सकती—उच्च शिक्षा अनिवार्य हो सकती है। किन्तु, पाश्चात्य प्रणाली केवल अनुपयुक्त ही नहीं है, बल्कि भारत की स्त्रियों का नैतिक पतन करने वाली भी है। यह प्रणाली भारतीय स्त्रियों के आदर्शों तथा स्वभाव को भी नष्ट कर देती है।'

अब सवाल विवाह के बाद की शिक्षा का रह जाता है। भारतीयों के वर्तमान विचारों को देखते हुए, यह सवाल एक ही शब्द से खारिज हो जाता है और वह है– दु:साध्य या अव्यावहारिक। [24] अपने पति के घर में प्रवेश करते ही वह बाल पत्नी—जिसका जो भी दर्जा हो—तुरंत उस पर अपने पति, अपनी सास और अपने कुल-देवताओं की सेवा करने का भार डाल दिया जाता है। अगर, उसके बच्चा हो गया, तो फिर वह शीघ्र ही थक जाती है और अन्य कार्यों के लिए उसके पास न ताकत रहती है और न समय। इसके बाद भी अगर वह पढ़ना चाहे, तो स्त्रियां ही उसे पढ़ा सकती हैं। क्योंकि, अब स्त्रियां ही उस तक पहुंच सकती हैं। इस तरह आप उस सांप की तरह हैं, जिसने अपनी ही दुम को अपने मुंह में रख लिया है।

क्योंकि, जैसा कि अभी हम देख चुके हैं कि जिस प्रथा से भारतीय महिलाओं को शिक्षा देना मना किया जाता है, उस कारण से महिलाओं को भी शिक्षिका नहीं बनाया जा सकता; ताकि इस प्रथा को तोड़ा जा सके। जिन स्त्रियों को शिक्षिका बनने का कुछ प्रशिक्षण दिया भी गया है, वे आज के मौजूदा स्कूलों के लिए काफी नहीं हैं। इसी वजह से जनाने में शिक्षा का पहुंचना विफल हो गया है। क्योंकि, यह उसके लिए एक अवांछनीय जमीन है।

जहां तक लड़की की शिक्षा पर व्यर्थ धन खर्च करने की बात है, तो यह विषय किसी एक वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं है। कुलीन और धनी लोगों में भी यह विचार वैसा ही मिलता है, जैसे गरीबों में मिलता है।

लाहौर के क्वीन मेरी कॉलेज में इस दृष्टांत को देखा जा सकता है। वर्षों पहले दो अंग्रेज महिलाओं ने इस संस्था की स्थापना की थी। उन्होंने यह देखा कि जो थोड़ी-बहुत भारतीय लड़कियां वहां पढ़ रही थीं, उनमें सब नहीं तो अधिकांश लड़कियां मुख्य रूप से निम्न जातियों की थीं। जबकि भारतीय राजाओं की लड़कियां—भावी राजाओं की पत्नियां और माताएं, जिन्हें भविष्य में अपने पुत्रों के नाबालिग रहने तक राज्य का शासन संभालना होगा—अज्ञानता के अंधकार में छोड़ दी गई थीं। इन दोनों अंग्रेज महिलाओं ने जो काम शुरू किया, उसका अनुमोदन सरकार ने भी किया है। महारानी मेरी के भारत आगमन से प्रोत्साहित देशी राजाओं ने स्कूल के विकास के लिए कुछ राशि दानस्वरूप दी, जिसे सरकार ने तीन गुना कर दिया था। उस धन से उचित सुविधा वाले भवन बनाए गए और उनमें साज-सज्जा की गई। किन्तु, सरकार के इस कार्य से देशी राजाओं का दान देने वाला उदार व्यवहार समाप्त हो गया।

अक्सर यह देखने को मिलता है कि यदि किसी धनी भारतीय के नाम से किसी भवन का निर्माण कराया जाता है, तो—चाहे वह स्कूल का भवन हो या अस्पताल का—वह बहुत खुश होता है। पर, जब उसी भवन के रख-रखाव की बात आती है, तो शायद ही वह धनी व्यक्ति उसके लिए कोई पैसा देता हो। इस मामले में लोगों की उदासीनता को देखते हुए यह आवश्यक था कि आरंभ में विद्यार्थियों से शिक्षा शुल्क नहीं लिया जाए। आज शुल्क बढ़ते-बढ़ते लगभग इस प्रकार हो गया है– गैर आवासीय जूनियर छात्रों से $1.50, (पांच रुपए) प्रति माह, सीनियर छात्रों से $3.00 (10 रुपए) प्रति माह और आवासीय छात्रों से $10 से $20 (20 से 60 रुपए) प्रति माह लिया जाता है; जिसमें—शिक्षण, छात्रावास, कपड़ों की धुलाई और सामान्य चिकित्सा सहित सभी शुल्क शामिल हैं।

यह शुल्क कॉलेज में पढ़ने की अवधि तक के लिए था। फिर भी कुछ (लड़कियों के) पिता शुल्क देने में देर करते हैं और झगड़ा करते हैं। एक पिता ने विरोध किया– 'आपने स्टेशनरी के लिए दो रुपए का बिल भेजा है। वह सब मेरी दो बेटियों ने आपके स्कूल में केवल दो महीने में ही खर्च कर दिया। मुझे लगता है कि यह बिल ज्यादा है। उन्हें इतनी महंगी स्टेशनरी उपयोग करने की इजाजत देना ठीक नहीं है। इस बिल का भुगतान नहीं होना चाहिए।' एक दूसरे अभिभावक ने इस बात पर तीन सप्ताह तक पत्राचार करके पूछताछ और आपत्ति की कि उसकी छोटी लड़की के लंबे काले बालों को बांधने के लिए दो गज फीता क्यों खरीदा गया था?

कुछ इस कारण से कि सरकार ने लड़कियों को आकर्षित करने के लिए बहुत कम फीस रखी है। और कुछ इस वजह से कि स्त्रियों और शिक्षा के बीच कोई संबंध न होने की उनकी प्राचीन परंपरा रही है। भारत के धनी लोगों को आज भी यह विश्वास है कि अगर उनकी बेटियों का स्कूल जाना आवश्यक है, तो सरकार को उन्हें नि:शुल्क शिक्षा देनी चाहिए।

क्वीन मेरीज कॉलेज एक आकर्षक जगह है, जिसमें पढ़ने और सोने के कमरों के साथ-साथ सुंदर बगीचा भी है और जहां सभी अध्यापिकाएं विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त अंग्रेज स्त्रियां हैं। पाठ्यक्रम भी विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप बनाया गया है। यहां अनेक देशी भाषाओं, जैसे—अरबी, उर्दू, हिंदी में भी शिक्षा दी जाती है। लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें देशी पोशाक पहनने पर ही जोर दिया जाता है, ताकि

उनके घर के बड़े लोग इस बात से न डरें कि उन्हें पाश्चात्य आदर्श सिखाए जा रहे हैं। स्कूल की विभिन्न गतिविधियों के द्वारा बराबर उनमें सफाई से रहने की आदत डालने का प्रयास किया जाता है। और न केवल पढ़ाई पर; बल्कि भलाई, स्वच्छता, सच्चाई और खेलकूद पर नंबर भी दिए जाते हैं।

जहां तक संभव होता है, बगीचों में खेलकूद के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। और जब वे मृगनयनियां झुंडों में वहां खेलती हैं, तो उनकी हवा में उड़ती हुईं नीली-गुलाबी और इंद्रधनुषी साड़ियां बहुत ही प्यारा और मनोहारी दृश्य बनाती हैं।

एक शिक्षिका कहती है– 'इनमें अच्छा टेनिस खेलने के लिए जान नहीं है। क्योंकि, ये अभी ही उन दादियों के पंजों से निकली हैं, जो यह मानती हैं कि लड़कियों के लिए तेज चलना भी ठीक नहीं है। क्या आप उस गुलाबी और सुनहरे कपड़े वाली छोटी लड़की को देखती हैं? जब वह दो साल पहले यहां आई थी, तो उसने सच ही कहा था कि दौड़ने में उसकी टांगें नहीं चलतीं। पर अब वह सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी है।'

शिक्षिका ने आगे कहा– 'लेकिन यह सोचकर दुःख होता है कि साल-दो साल के भीतर ये लड़कियां फिर से अकर्मण्यता का मुर्दा जीवन व्यतीत करने लगेंगी।'

मैंने पूछा– 'जो इन्होंने यहां सीखा है, उनमें से बहुत कुछ क्या इनके बाद के जीवन में काम आएगा?'

उसने कहा– 'जरा उस विशाल और व्यापक प्रभाव के बारे में सोचिए, जो इनको चारों ओर से अपने घेरे में ले लेगा। महल के प्राचीन जनाने में औरतों की भीड़ होगी; जहां उन पर उन परंपराओं का बोझ होगा, जो उनके लिए मौत की तरह अटल हैं। जब इन पर सालोंसाल प्राचीन परंपराओं का दमघोंटू प्रभाव रहेगा, तो ये कोमल बच्चियां अकेले उसका सामना करने के लिए ताकत कहां से लाएंगी? हमारी सबसे बड़ी आशा अब यही है कि जीवन देने वाले जो विचार इन लड़कियों को हमसे मिले हैं, उन्हें वे मां बनने पर अपने बच्चों को दे सकें, ताकि वे भी अपनी बेटियों को हमारे पास पढ़ने भेज सकें। और इसी प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में विचार देने का सिलसिला चलता रहा, तो अंत में हमारा कार्य सार्थक हो सकता है।'

संपूर्ण भारत में क्वीन मेरीज स्कूल ही लड़कियों की उच्च श्रेणी की शिक्षा का एकमात्र संस्थान है। इसलिए, अस्वाभाविक रूप से कुछ नए भारतीय अधिकारी भी—जिनकी अधिकारी होने के सिवाय कोई अन्य सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है—अपनी बेटियों का दाखिला क्वीन मेरीज स्कूल में कराने की इच्छा रखते हैं। स्कूल में प्रवेश देने का अधिकार एक अंग्रेज कमिश्नर के अधीन है और कमिश्नर उन्हें यह अनुमति दे देता है। किन्तु, इस तरह की अनुमति देने से राजा लोग असंतुष्ट हैं; जिससे वे पहले की अपेक्षा अपनी लड़कियों को कम स्कूल भेज रहे हैं। वे अपने रोष को निस्संदेह उचित मानते हैं और कहते हैं– 'क्या हमारी बेटियां बाबुओं की बेटियों या नए बंगाली राजनीतिज्ञों की बेटियों के साथ रहेंगी?'

संस्था के कुछ लोग स्कूल के मूल उद्देश्य को ध्यान में रखकर, उससे चिंतित होकर पूछते हैं– 'क्या राजकुमारियों को निकाल देना बुद्धिमानी है? राजकुमारियों का भावी प्रभाव दूसरी स्त्रियों से–भले ही वे मेधावी हों–अधिक शक्तिशाली और दूर तक फैलने वाला है। क्या हमें राजकुमारियों को लाने और कायम रखने के लिए सभी तरह का प्रयास नहीं करना चाहिए?'

किन्तु, जब यह प्रश्न सीधे कमिश्नर से पूछा गया; तो उसने यह जवाब दिया–

> 'हम ब्रिटिश भारत में लोकतंत्र का निर्माण करने का प्रयास कर रहे हैं। इसलिए देशी राज्यों के लिए भावी महारानियों को शिक्षा देना अच्छा होगा। मैं उनके पिताओं अर्थात् महाराजाओं से कहता हूं कि अगर आप ऐसा स्कूल चाहते हैं, जो सिर्फ आपकी और आपकी श्रेणी की ही लड़कियों के लिए हो, तो यह आसानी से किया जा सकता है। पर, सरकार के धन से नहीं; आपको ही ऐसे स्कूल का खर्चा उठाना होगा। यद्यपि, यह काम इन संपन्न लोगों के लिए बहुत छोटा है; पर ये इसके लिए राजी नहीं होते।'

लाहौर में दूसरा शैक्षिक केंद्र विक्टोरिया स्कूल है, जो बाजार से थोड़ी दूर पर पुराने शहर के मध्य में प्रसिद्ध रणजीत सिंह के पौत्र के महल में स्थापित किया गया है। इस संस्था की प्रधान अध्यापिका भारतीय ईसाई परिवार की तीसरी पीढ़ी की अत्यधिक योग्य महिला मिस के.एम. बोस हैं। मिस बोस का चरित्र दृढ़ और शक्तिशाली है। उनका स्वभाव उदार और हंसमुख है तथा उनका प्रभाव मजबूत और मन पवित्र है; जो बताता है कि भारतीय स्त्रियों को यदि अवसर दिए जाएं, तो वे बहुत आगे बढ़ सकती हैं।

विक्टोरिया स्कूल में 500 लड़कियां शिक्षा प्राप्त करती हैं। मिस बोस बताती हैं कि उनमें कुछ धनी हैं; कुछ गरीब हैं। परंतु, सभी अच्छी जातियों की हैं और शहर के प्रमुख लोगों की बेटियां हैं। अगर हम यहां निम्न जातियों के बच्चों को लेने लगें, तो हमारा खर्चा बढ़ जाएगा; जो हमारे लिए असंभव है। क्योंकि, दूसरे बच्चे उनके साथ न बैठेंगे और न उनके साथ खाएंगे। तब हमें उनके लिए अलग कक्षाएं लगानी होंगी और शिक्षिकाओं की संख्या भी दोगुनी करनी पड़ेगी। इसी तरह की कुछ और समस्याएं भी सामने आएंगी।

आप पूछिए, फीस कितनी है? तो फीस सिर्फ नाम मात्र की है। हम भारतीय अपनी बेटियों की शिक्षा पर खर्च नहीं करेंगे। अभी थोड़े दिन पहले तक धनी लोग पाठ्य पुस्तकों के लिए भी पैसा देने से मना करते थे। हमें पुस्तकें और शिक्षा सब कुछ निःशुल्क देना होता है, वरना हमारे यहां कोई भी लड़की पढ़ने नहीं आती। यह स्कूल सरकार के अनुदान और इंग्लैंड से प्राप्त गैर-सरकारी चंदे से चलता है।

इस पुराने खरगोश-बाड़े जैसे महल में कई मंजिलों पर बहुत से कमरे छत्ते की तरह फैले हुए हैं। प्रत्येक कक्षा में लड़कियां भरी हुई हैं, मॉन्टेसरी कक्षाओं में चार से पांच साल तक की लड़कियां हैं; तो बड़ी कक्षाओं में 15 से 16 साल की आयु की मुस्लिम लड़कियां भी हैं, जिनकी अभी शादियां नहीं हुई हैं। क्वीन मेरीज की तरह यह भी कठोर परदे वाला स्कूल है। यहां की लड़कियों पर पुरुषों की नजर नहीं पड़ सकती। जब हमें किसी विद्वान पंडित द्वारा छात्राओं को शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता होती है, तो उस पंडित और लड़कियों की कक्षा के बीच एक मोटा, लंबा, गहरे रंग का, हर तरह से दुरुस्त परदा टांग दिया जाता है; जिससे वह लड़कियों को न देख सके। और पढ़ाने के लिए भी ऐसे पंडित का चयन किया जाता है, जो ढलती हुई उम्र का बुजुर्ग हो।

कमिश्नर ने दुःखद मुस्कान के साथ कहा– 'हालांकि मैं इन स्कूलों का नियंत्रक हूं। पर, एक पुरुष होने के नाते मैं भी उनको देखने नहीं जा सकता।'

विक्टोरिया स्कूल में वैकल्पिक अंग्रेजी के साथ उर्दू, फारसी, हिंदी, पंजाबी और संस्कृत भाषाओं में शिक्षा दी जाती है। मिस बोस कहती हैं– 'जब तक बच्चे पढ़ने योग्य नहीं होते हैं, तब तक हम उनको कोई किताब नहीं देते हैं। अन्यथा, वे उसे रट लेंगे और सीखेंगे कुछ नहीं। [25] हमारी योजना का उद्देश्य लड़कियों के दिमागों में कुछ ऐसा ज्ञान पैदा करना है, जो उनके जनाना में उनके भविष्य में उपयोग में आए; जिसके अंधकार भरे और संकीर्ण वातावरण में वे शीघ्र ही जाने वाली हैं। ताकि उसमें इस शिक्षा का कुछ प्रभाव अवश्य रहे।

पढ़ना-लिखना और घर का हिसाब रखने योग्य अंकगणित, थोड़ा-बहुत इतिहास, चित्र बनाना और संगीत, सिलाई-कढ़ाई—जो भारत की

अधिकांश महिलाएं नहीं जानती हैं—सिखाना। साथ ही स्वच्छ रहने की आदत और सफाई की समझ—इन दोनों विषयों को सीखना अविश्वसनीय रूप से कठिन है। प्राथमिक उपचार—खुद को और अपने भावी बच्चों को बचाने के लिए सिखाना, यहां तक कि घरेलू बर्बरता से निपटने के लिए भी इस संस्था में व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है।

साथ ही उनको देशी साधनों, जैसे—स्टोव और बर्तनों के साथ सरल तरीके से खाना बनाना, विशेष रूप से छोटे बच्चों और रोगियों के लिए खाना बनाना और सफाई के साथ भोजन को परोसने आदि का तरीका भी सिखाया जाता है।

शिक्षिका कहती है—'वे अपने बाद के जीवन में अपने हाथों से कभी खाना नहीं भी बनाएंगी। बल्कि, वे इस काम को पूरी तरह गंदे नौकरों पर छोड़ देंगी; जहां से ज्यादा रोग फैलते हैं और मौतें होती हैं। इसलिए, यहां हमारा प्रयास उनको यह विश्वास दिलाना है कि हर तरह से स्वच्छ और व्यवस्थित तरीके से रहने में कितना लाभ है और इसमें कितनी सुंदरता है।'

ईडेन बालिका स्कूल, ढाका की प्रधानाचार्य कुमारी एल. सोराबजी शिक्षिका की परेशानी के बारे में इस प्रकार सुझाव देती हैं– [26]

> 'अवांछित घरेलू दखल प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। समय पर नहीं पहुंचना, आलस्य, बेढंगापन, स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों के प्रति लापरवाही, झूठ बोलना, गैर-जिम्मेदारी, सम्मान और सदाचार के नियम का अभाव, घर में अनुशासन का अभाव– ये कुछ ऐसी कठिनाइयां हैं; जिनका सामना हमें अपने स्कूलों में करना पड़ता है। सबसे अधिक आवश्यकता चरित्र के निर्माण की ही है।'

और धैर्य के साथ सार्वजनिक राय के निर्माण की भी आवश्यकता है, जो भारतीयों में अपनी सहायता स्वयं करने का एक सच्चा और व्यावहारिक आंदोलन पैदा करे और उसे कायम भी रखे।

वर्तमान में एक विचित्र दृश्य देखा जाता है–धनी जमींदारों, घमंडी ब्राह्मणों, रईसों और उग्रवादी राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों की बेटियां—जो गोरे लोगों और उनके समस्त कार्यों की घोर निंदा करती हैं—इलीनोइस और डेरबाइशिरे (अमेरिका और ब्रिटेन) की प्रिय वृद्ध महिलाओं के 10 सेन्ट और छह पेन्स के चंदों से भोजन और रहने का स्थान पाती हैं। और वे जिन म्लेच्छ और विधर्मी ईसाइयों से घृणा करती हैं, वही उनको उत्तरदायी जीवन का क-ख-ग सिखाते हैं।

---

[1] इंडिया इन 1924-25, एल.एस. रशब्रुक विलियम्स, सी.बी. ई., पृष्ठ-276
[2] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, पृष्ठ-336, 337
[3] कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-xii, पृष्ठ-414
[4] वही, पृष्ठ-426
[5] वही, पृष्ठ-422
[6] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1921, वॉल्यूम-1, पृष्ठ-365
[7] वही, वॉल्यूम-II, पार्ट-I, पृष्ठ-1631
[8] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, आठवीं पंचवर्षीय रिपोर्ट, पृष्ठ-129, 130 में उद्धृत।
[9] कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-xii, पृष्ठ-62
[10] वही, वॉल्यूम-ii, पार्ट-i, पृष्ठ-5
[11] वही, वॉल्यूम-xii, पृष्ठ-440
[12] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, जे. डब्ल्यू. होल्म, एम.ए., छठी पंचवर्षीय समीक्षा।
[13] विलेज स्कूल इन इंडिया, मेसन अल्कॉट, एसोसिएटेड प्रेस, कलकत्ता, 1926, पृष्ठ-90
[14] ये आंकड़े 'प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, वॉल्यूम-ii से लिए गए हैं।
[15] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, वॉल्यूम-i, पृष्ठ-135
[16] बंबई, 1924-25, गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस, बंबई, 1926, पृष्ठ- xv, xvi.
[17] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, वॉल्यूम-i, पृष्ठ-126
[18] वही, पृष्ठ-138, 139
[19] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1925, वॉल्यूम-v, पार्ट-iii, पृष्ठ-2830
[20] कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-xii, पृष्ठ-425
[21] वही, पृष्ठ-411
[22] ब्रह्मो समाज 6,388 लोगों का एक संप्रदाय है। जैसा कि भारत की जनगणना, 1921 की रिपोर्ट, पृष्ठ-19 से पता चलता है।
[23] कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-xii, पृष्ठ-449
[24] बंबई में सेवा सदन सोसाइटी के पास श्रमिक वर्ग की विवाह के बाद पढ़ने वाली स्त्रियों की एक निश्चित संख्या है, जो दो-तीन घंटे रोज पढ़ने आती हैं।
[25] जैसे मुस्लिम भारतीय लड़का अरबी कुरान को—बिना उसका अर्थ समझे—शब्दश: कंठस्थ कर लेता है। उसी तरह हिंदू युवक—अंग्रेजी और जो कुछ भारतीय अध्यापक सिखाते हैं—उसे बिना अर्थ समझे मशीन की तरह रट लेते हैं।
[26] कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग रिपोर्ट, वॉल्यूम-XII, पृष्ठ-453

भाग – 3

https://ebooks.hindiyug.com

ब्राह्मण

बंगाल से रेल द्वारा दक्षिण की ओर मद्रास में जाना हुआ। रास्ते में हाथी के रंग वाली क्रमबद्ध चट्टानों से निर्मित मीलों दूर तक फैली हुई आयताकार पहाड़ियां मिलीं, जहां समूह में एक-पर-एक बैठी हुई शिलाएं ऐसा आभास दे रही थीं, जैसे गणेश देवता की प्रतिमाएं रखी हों।

बराबर चलते-चलते कुछ देर बाद एक नरम प्रदेश मिला, जहां की धरती नारंगी रंग की है और यहां केवल छोटी टहनियों के ताड़ के वृक्ष हैं; जो आकाश में इतने ऊंचे हैं कि लगता है जैसे किसी ने कलम से लकीरें खींचते हुए अचानक स्याही गिरा दी हो।

खेती बहुत है। पानी को रोकने के लिए एक हाथ ऊंची मेड़ें बनाई गई थीं और उन्हीं से धान के खेत बनाए गए थे। साधारण काले लोग चेरी वर्ण की पोशाक पहने थे। प्राय: ये काले लोग लंबे, कड़े और घुंघराले काले बालों वाले थे। उनमें से कुछ कुओं से उसी तरह पानी निकाल रहे थे और कुछ बैलों को गोल-गोल घुमाकर उनके पैरों से अनाज निकाल रहे थे, जैसे वे हजारों वर्षों से करते आ रहे हैं। खेतों में ऊंचे और लंबे-चौड़े गन्ने खड़े थे। चिकनी मिट्टी के छोटे-छोटे घर थे। प्रत्येक घर एक गोलाई में कंदील की तरह ताड़ के पत्तों से छाए हुए थे। नारंगी रंग की बकरियों का झुंड चर रहा था। जमीन पर नारंगी धब्बे थे। सुपारी (के दाने), जिसको पान के साथ चबाया जाता है, सूखने के लिए रखे हुए थे। नारंगी रंग के बड़े-बड़े बाज भी थे, जिनके सिर सफेद थे। संध्या का सूर्य भी नारंगी रंग का हो गया था और धान के खेतों पर नारंगी रंग बरसा रहा था। उस नारंगी दुनिया में काले लोगों के शरीरों पर लाल कपड़े धब्बे जैसे लग रहे थे।

मद्रास ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म का गढ़ है। साथ ही वह प्राचीन मूलनिवासियों के वंशज काली त्वचा वाले द्रविड़ लोगों का भी गढ़ है। ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म ने उनका पतन किया। उनको अपने समाज से अलग रखा और उनकी संपत्ति को नष्ट करके उन करोड़ों मनुष्यों पर शासन करने के लिए उनको जाति-बहिष्कृत, अछूत, अशिक्षित और निर्धन बनाकर रखा। फिर यहां अंग्रेज आए, जिन्होंने किसी भी तरह यहां शांति और व्यवस्था कायम की। और ऐसा लोकतंत्र दिया, जिसमें वे अपनी जमीन पर जीवित रह सकें।

धीरे-धीरे उन अत्यंत भयभीत द्रविड़ लोगों की आखें खुलीं। और उसके बाद उन्होंने अपना सिर भी उठाया। ब्राह्मणों के अधीन बहुत-सी निम्न जातियों ने भी उनका साथ दिया। और अब उन सबने एक ब्राह्मण-विरोधी पार्टी बनाकर इतनी अधिक शक्ति बढ़ा ली कि उन्होंने मद्रास प्रांत की विधान परिषद में ब्राह्मणों से राजनीतिक बहुमत भी छीन लिया; [1] जो अपने आप में भारतीय इतिहास की एक युगांतकारी घटना है।

अब निम्न जातियों के ये लोग धनी, प्रतिष्ठित और राजनीतिक रूप से शक्तिशाली हो गए हैं। मैंने उन्हीं में से एक के साथ मद्रास शहर में बातचीत की। वह एक छोटा-सा जिंदादिल व्यक्ति था; ऊर्जा से भरा हुआ और स्पष्टभाषी। मैंने उससे पूछा– 'क्या आप मुझे ब्राह्मणों के बारे में सही-सही वर्णन कर सकते हैं?' उसने जो उत्तर दिया, वह मैं नीचे यथावत रख रही हूं; जिसे मैंने उसी समय लिख लिया था–

> 'एक समय था, जब सभी मनुष्य अपनी इच्छा से काम करते थे। तब सिर्फ ब्राह्मणों ने ही स्वयं को पढ़ने-लिखने के काम में लगाया हुआ था। पढ़-लिखकर वे चालाक बन गए और उन्होंने धार्मिक ग्रंथों पर कब्जा कर लिया और साथ ही गुप्त रूप से उन ग्रंथों में अनेक मिथ्या बातें भी लिख दीं, जिनमें उन्होंने ब्राह्मण को समस्त मनुष्यों का देवता घोषित कर दिया। धीरे-धीरे युग बीत गए। और चूंकि ब्राह्मण ही पढ़ सकते थे और दूसरे लोगों को पढ़ने का अधिकार न होने के कारण उन्हें उन मिथ्या बातों का पता न था। इसलिए, ब्राह्मणों ने ही लोगों को पढ़कर सुनाया और लोगों ने उनको सुनकर ब्राह्मण को पृथ्वी पर अपना देवता मान लिया और तदनुसार उसकी आज्ञा का पालन करने लगे। इसलिए, ब्राह्मणों ने संपूर्ण हिंदू भारत में लोगों की धार्मिकता पर शासन किया और किसी ने भी उनसे तर्क करने का साहस नहीं किया। उस समय तक भी नहीं, जब अंग्रेजों ने यहां आकर सबके लिए स्कूल खुलवाए।'
>
> आज इस मद्रास प्रांत में हम ब्राह्मणों से लड़ रहे हैं। किन्तु, वे अभी भी मजबूत हैं। क्योंकि, हजारों वर्षों से मजबूत इन लोगों की शक्ति धीरे-धीरे टूटेगी। वे इतने धूर्त हैं, जैसे दुष्ट आत्माओं के—भी बाप हों। प्रेस पर उनका कब्जा है। वे ही न्यायालयों में जज हैं। सरकारी विभागों में उनका 80 प्रतिशत वर्चस्व है। और वे आज भी लोगों को—विशेषकर महिलाओं को—आतंकित करते हैं। क्योंकि, हम सब अंधविश्वासी और सर्वाधिक अशिक्षित हैं। पृथ्वी के ये देवता यह जानते हैं। चूंकि अंग्रेजों ने हमें इनके दमन से बचा लिया, इसलिए वे अंग्रेजों से भी नफरत करते हैं। यहां 'अंग्रेज वापस जाओ' का नारा लगाकर देशभक्ति का प्रदर्शन ज्यादा किया जाता है। और हम लोग जानते हैं कि अगर अंग्रेज चले गए, तो जो समय हमारा उनसे पहले था, वह फिर से लौट आएगा। जिससे ब्राह्मण फिर से हमारा दमन करने लगेंगे। और भारत की दशा पहले जैसी ही हो जाएगी और मोटे-मुस्टंडे पुरोहितों की क्रूर तानाशाही में हम फिर से दास बना लिए जाएंगे। क्योंकि, हमारे खयाल में हम अभी भी उनसे मुक्त नहीं हुए हैं।' और सुनिए–
>
> 'प्रत्येक हिंदू भारत में जितना कर के रूप में धन सरकार को देता है, उससे कई गुना ज्यादा धन वह ब्राह्मण को देता है। वे (हिंदू) अपने जन्म से लेकर अपनी मृत्यु तक, इस भू-देवता को देते ही रहते हैं। जब बच्चा जन्म लेता है, तब ब्राह्मण को दान दिया जाता है। अन्यथा, बच्चा फलेगा-फूलेगा नहीं। उसके 16 दिन बाद जन्म की गंदगी को साफ करने के समय ब्राह्मण को दान देना जरूरी है। इसके बाद बच्चे के नामकरण पर ब्राह्मण को दान दिया जाएगा। तीसरे माह में बच्चे का मुंडन होगा, तब ब्राह्मण को दान दिया जाएगा। छठे माह में बच्चे को ठोस आहार देना शुरू किया जाता है, तब ब्राह्मण को दान दिया जाता है। जब बच्चा चलना आरंभ करता है, तब ब्राह्मण को दान दिया जाता है। बच्चे के पांच वर्ष पूर्ण होने पर होने वाले जन्मदिन समारोह पर ब्राह्मण को दान देना होता है। सातवें वर्ष में जब लड़का स्कूल जाना आरंभ करता है, तब ब्राह्मण को खूब दान दिया जाता है। धनी परिवारों में लड़के के हाथ पर स्वर्ण लेखनी रखे जाने का अनुष्ठान किया जाता है। अनुष्ठान के बाद वह लेखनी भी ब्राह्मण ले जाता है।'
>
> 'जब लड़की की आयु एक साल, सात साल और नौ साल होती है और लड़के की डेढ़ या दो वर्ष से 16 वर्ष होती है, तब उसकी सगाई होती है। उस अवसर पर ब्राह्मण को खूब सारा दान दिया जाता है। उसके बाद लड़की के जवान होने या जवान होने के पहले ही उसके विवाह होने पर ब्राह्मण को भारी दान दिया जाता है। ग्रहण पड़ने पर भी ब्राह्मण को दान देना जरूरी है। इस प्रकार लोग ब्राह्मण को देते ही रहते हैं। जब आदमी की मृत्यु होती है, तो उसके शव को ब्राह्मण के आशीर्वाद के बाद ही उठाया जाता है; जिसके लिए उसे दान दिया जाता है। दाह-संस्कार के समय पुन: अनेक ब्राह्मणों को यथेष्ठ धन दिया जाता है। दाह-संस्कार हो जाने के बाद भी एक वर्ष तक, प्रत्येक माह—मृतक का पुत्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार—ब्रह्मभोज कराता है; जिसमें वह ब्राह्मणों को वे सारी चीजें (जो मृतक को प्रिय थीं, जैसे- कपड़े, आभूषण, खाद्य-सामग्री आदि) दान में देता है। इसके पीछे धारणा है कि ब्रह्मभोज में जो भी ब्राह्मणों को खिलाया-पिलाया और दिया जाता है, वह सब मृतक को प्राप्त होता है। उसके बाद साल में एक बार—पुत्र के जीते जी—यह अनुष्ठान पुन: किया जाता है।'
>
> 'इस प्रकार के अनुष्ठानों और दान को ब्राह्मण अपना अधिकार बताते हैं। यही उनके धर्म के कानून में भी लिखा है। इस कानून का जो भी उल्लंघन करता है, वह अनंतकाल के लिए नरक में जाता है। प्रत्येक अनुष्ठान के दौरान हमें ब्राह्मण के चरण धोकर उस पानी को हाथ की हथेली में लेकर पीना पड़ता है। ब्राह्मण लोग निठल्ले होते हैं। वे कोई उत्पादन नहीं करते हैं और वकील बनने या सरकारी नौकरी करने के सिवा कोई काम नहीं करते हैं। इस प्रांत में उनकी जनसंख्या डेढ़ मिलियन यानी 15 लाख है। और हमारी 41 मिलियन यानी चार करोड़ 10 लाख है। और हम लोग ही उन्हें भोजन देते हैं।'
>
> 'अब आप समझ सकते हैं कि जब तक हम लोग भारत में अपनी रक्षा स्वयं करने में सक्षम नहीं हो जाते हैं, तब तक हमारे लिए समुद्र पार का वह राजा ही बेहतर है; जो हमें शांति, न्याय देता है और हमारे धन के बदले में भी वह हमें कुछ देता है। साथ ही वह हमें उन लाखों ब्राह्मण मालिकों से भी स्वतंत्र बनने का अवसर दे रहा है, जो हमें खा जाना चाहते हैं और छूने पर कहते हैं कि हमने उन्हें अपवित्र कर दिया।

---

[1] 1926 के चुनावों में, मद्रास प्रांत की विधान परिषद में ब्राह्मणों ने पुन: बहुमत प्राप्त कर लिया है।

अध्याय **11**

मनुष्य से भी नीचे

अगर कोई ध्यान से देखे, तो भारत की पहेलियों में ही एक प्रकार का उत्तर है। हमने लंबे समय से भारत को रहस्यमय देश माना हुआ है और यही हमें आसान भी लगता है। लेकिन, कोई भी रहस्य—विशेष रूप से भौतिक विषयों में—तभी तक बना रहता है, जब तक हम साधारण भौतिक घटनाओं के लिए भी रहस्य खोजने के काम में लगे रहते हैं। जैसे ही आप उनका व्यावहारिक कारण खोजेंगे—जिस तरह किसी भौतिक देश में जिस पर रहस्यवादी होने का लेबल नहीं लगा है; खोजा जाता है—तो आपका रहस्य धुआं बनकर उड़ जाता है। भारतीय राजनेता ब्रिटिश शासकों पर आरोप लगाते हुए बार-बार कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार के इतने वर्षों बाद भी 92 प्रतिशत लोग अशिक्षित क्यों हैं?

किन्तु, वे आंकड़ों और तथ्यों की ओर आपका ध्यान नहीं दिलाते और आप भी जब तक कि कोई बताए नहीं, इसका अनुमान नहीं लगा सकते। वे आपको यह नहीं बताते कि ब्रिटिश भारत की 24,70,00,000 जनसंख्या में से लगभग 25 प्रतिशत अर्थात् छह करोड़ लोग अनंतकाल से अशिक्षित बनाकर रखे गए हैं। और साथ ही उन्हें उनके ही भारतीय भाइयों ने मनुष्य से भी गिरा हुआ बनाकर रखा है। अवश्य ही यदि भारत में कोई रहस्य है, तो वह इस बात में है कि कोई मनुष्य या कोई समाज या कोई राष्ट्र किसी भी परिस्थिति में, कहीं भी भारतीयों को यह याद दिलाए कि भारत में छह करोड़ देशवासी ऐसे हैं; जिन्हें तुमने मनुष्य होने के सामान्य अधिकार देने से भी मना कर दिया है। तो वे पलटकर उस मनुष्य, समाज और राष्ट्र पर जातीय पक्षपात का दोष लगा देते हैं। [1]

कहा जाता है कि आरंभ में जब वर्तमान हिंदुओं के गोरे रंग के पूर्वज भारत में आए थे, तो यहां उन्हें पहले से ही काले रंग के मोटी सूरत वाले मूलनिवासी मिले थे; जो द्रविड़ कहलाते थे। इन्हीं द्रविड़ों ने दक्षिण के विशाल मंदिरों का निर्माण कराया था। उन नव आगन्तुक हिंदू पुरोहितों ने यह इच्छा प्रकट की कि उनके लोगों के रक्त में मूलनिवासियों के रक्त का मिश्रण न हो पाए और उन्होंने पवित्रता को कायम रखा। इसीलिए, उन्होंने द्रविड़ों को अपवित्र और अछूत घोषित कर दिया। उसके बाद धीरे-धीरे उनके नियमों ने जाति-व्यवस्था का निर्माण किया, जिसमें उन्होंने स्वयं को सबके ऊपर रखते हुए ब्राह्मण यानी भू-देवता की उपाधि दी। दूसरी श्रेणी में उन्होंने योद्धाओं को रखा और उन्हें क्षत्रिय कहा। तीसरी श्रेणी में खेती करने वालों को वैश्य नाम दिया, जो आरंभ की दोनों श्रेणियों से तुच्छ समझे जाते हैं। और अंतिम चौथी श्रेणी में तीनों वर्गों की सेवा के लिए शूद्र जातियों का निर्माण हुआ। इन्हीं चार वर्गों से हिंदू समाज का ढांचा तैयार हुआ है। आज ये स्वयं भी अनेक उपजातियों में विभाजित हो गए हैं। इन सभी जातियों से बाहर और भी निम्न 'अछूत' जातियां हैं, जिनमें आने वाले लोग अपने पूर्व जन्मों के पापों के कारण सदैव दूसरों की घृणा के लिए अछूत बनाए गए हैं।

जिस कानून के तहत इन अभागों को उनके भाग्य का दंड मिलता था, उसे दिखाने के लिए उसका एक उद्धरण यहां देना काफी होगा। 'भागवत' [2] ग्रंथ में ब्राह्मण की हत्या के संबंध में यह आज्ञा दी गई है–

> 'जो भी ब्राह्मण की हत्या का दोषी होता है, वह अपनी मृत्यु के बाद टट्टी खाने वाले कीड़े के रूप में जन्म लेता। बहुत काल तक उसमें रहने के बाद उसका पुनर्जन्म 'परिया' जाति में होगा और इसी अछूत जाति के रूप में वह जाना जाएगा। और गाय के शरीर पर जितने बाल हैं, उसके चार गुना वर्षों तक वह अंधा रहेगा। और जब तक वह 40 हजार ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराएगा, उसे उसके पाप से मुक्ति नहीं मिल सकती।'

इस प्रकार, इस एक उद्धरण से ही अछूतों की वर्तमान स्थिति स्पष्ट हो जाती है। और उन पर लादी गई सारी अमानवीयता और उनका अकथनीय पतन न्यायपूर्ण प्रमाणित हो जाता है। इससे यह भी पता चल जाता है कि अछूतों के क्रोध की आग से उन पर अत्याचार करने वालों को कैसे बचाया जाता है। यह ठीक उसी तरह है, जिस तरह वैधव्य का डर दिखाकर पत्नी के क्रोध से जुल्म करने वाले हिंदू पति को बचाया जाता है। यही धर्मग्रंथ आगे बताता है– 'यदि ब्राह्मण शूद्र की हत्या करता है, तो उसके लिए उसकी हत्या के पाप से मुक्त होने के लिए केवल गायत्री मंत्र का सौ बार जाप करना ही पर्याप्त होगा।' [3] इस प्रकार शास्त्र शूद्र और ब्राह्मण दोनों की स्थिति के अंतर को दर्शाता है।

इन प्राचीन कारणों को छोड़कर अब हम 1926 पर आते हैं। यहां हमें अछूतों के संबंध में सनातनी हिंदू कानून का स्वरूप मोटे तौर पर इस तरह मिलता है–

'उन्हें मनुष्य से भी हीन मानते हुए, उनसे गंदे काम ही निर्धारित किए हैं। उनके नाम के साथ भी निरादर जुड़ा हुआ है। इनमें से कुछ से सिर्फ सफाई करने और मैला उठाने का काम लिया जाता है। कुछ की अज्ञानतावश घृणित आदतें हो गई हैं, जिसके लिए उनको दोषी ठहराया जाता है; जबकि उनको शिक्षा प्राप्त करने की सख्त मनाही है। वे हिंदू धर्मग्रंथों को न अपने पास रख सकते हैं और न पढ़ सकते हैं। कोई ब्राह्मण पुरोहित उनके यहां पुरोहिताई नहीं करता है। और शायद एकाध मंदिर के सिवा वे किसी हिंदू मंदिर में पूजा करने के लिए नहीं जा सकते हैं। उनके बच्चे पब्लिक स्कूलों में नहीं पढ़ सकते। वे सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं ले सकते और यदि वे ऐसी जगह रहते हैं, जहां पानी उपलब्ध नहीं है और दूर से लाना पड़ता है, तो इसके लिए उनकी कोई सहायता नहीं करता है। इसके लिए उन्हीं को अधिक कष्ट उठाना पड़ता है और कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वे किसी अदालत में प्रवेश नहीं कर सकते। बीमार पड़ने पर इलाज के लिए अस्पताल नहीं जा सकते। और किसी भी सराय में नहीं ठहर सकते। कुछ प्रांतों में वे सार्वजनिक सड़कों पर भी नहीं चल सकते। और मजदूर तथा किसान के रूप में भी उन्हीं को हमेशा नुकसान उठाना पड़ता है। क्योंकि, वे न दुकानों में जा सकते हैं और न उन सड़कों से गुजर सकते हैं, जहां दुकानें होती हैं। इसलिए उन्हें अपना सौदा बेचने या खरीदने के लिए दलालों पर निर्भर होना पड़ता है। इनमें कुछ इतने पतित हैं कि उनसे कोई काम नहीं लिया जाता है। वे कुछ बेच भी नहीं सकते हैं। यहां तक कि मजदूरी भी नहीं कर सकते। वे केवल भीख मांग सकते हैं। और भीख मांगने के लिए भी वे सड़क पर चलने का साहस नहीं कर सकते। उन्हें सड़क से दूर ऐसी जगह—जहां से कोई उन्हें देख न सके—पर खड़े होकर गुजरने वाले लोगों से चिल्लाकर भीख मांगनी पड़ती है। यह भीख भी उन्हें सड़क से थोड़ा हटकर जमीन पर फेंक कर दी जाती है। यह भीख भी वे तब तक नहीं उठा सकते, जब तक कि भीख फेंकने वाला दृष्टि से ओझल नहीं हो जाता और जब तक कि सड़क खाली नहीं हो जाती। उसके बाद वे उस भीख को उठाकर भाग जाते हैं।

इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी अगर परछाईं भी सवर्ण हिंदुओं के भोजन पर पड़ गई, तो वह भोजन उनके लिए दूषित हो जाता है और उस दूषित भोजन को उन्हें नष्ट कर देना पड़ता है।

> 'कुछ ऐसे भी हैं, जिनके अमंगल शरीर दूर से ही दुर्गंध छोड़ते हैं। यदि उनमें से कोई सड़क के करीब आ जाए और वहां पर रुक जाए, तो उसे देखना पड़ता है कि वह सड़क से कितनी दूरी पर है। यदि वह दूरी 200 गज के भीतर होती है, तब वह सावधानी से सड़क पर एक हरा पत्ता रखकर उस पर मुट्ठी भर मिट्टी डालकर दबा देता है। यह इस बात का

> संकेत होता है कि उतनी दूरी पर एक अपवित्र दलित मौजूद है। वहां से गुजरने वाला ब्राह्मण उस संकेत को देखकर रुक जाता है और चिल्लाता है। वह गरीब आदमी तुरंत अपनी एड़ियों के बल झुक कर भाग जाता है और काफी दूर पीछे जाकर बोलता है—मैं अब 200 गज दूर हूं। अब आप कृपया चले जाएं।'

इसी तरह की एक और जाति 'पुलैया' है, जो जाति मालाबार तट पर रहती हैं। इन्हें अपने घर बनाने का अधिकार नहीं है। उन्हें केवल बड़े पेड़ों के बीच में बांस के खंभों पर पत्तों की छत डालकर या घोंसलानुमा घर बनाकर रहने की इजाजत है। ये लोग किसी भी दूसरे मनुष्य के करीब नहीं जा सकते। दुब्बा ने लिखा है कि उनके समय में, यदि एक नायर (उच्च जातीय हिंदू) को सड़क पर पुलैया मिल जाता था, तो इस अपराध के लिए उसे सड़क पर ही मार डालने का अधिकार था। [4] आज नायर ऐसा करते हुए संकोच करेंगे। पर, आज भी पुलैया किसी भी उच्च जाति के 60 और 90 फुट से ज्यादा करीब नहीं आ सकता। स्वाभाविक है कि इन यातनाओं के कारण कुछ अछूत समुदायों ने अपराध का रास्ता अपना लिया है। इन समुदायों में कुछ जेब काटने का, कुछ चोरी करने का, कुछ जालसाजी का, तो कुछ सड़कों पर लूटमार और हत्या करने का काम करते हैं। और प्राय: इन विशेष कामों के साथ-साथ वे एक दूसरा धंधा अपनी स्त्रियों से वेश्यावृत्ति कराने का भी करते हैं। संपूर्ण भारत में फैले हुए ये लोग जरायम पेशा जातियों के रूप में जाने जाते हैं, जिनकी संख्या आज लगभग साढ़े चार मिलियन अर्थात् 45 लाख है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्य सभी हिंदू प्रथाओं की तरह अस्पृश्यता का विषय भी हिंदू धर्म का ही तानाबाना है और हिंदू सर्वाधिक धर्मपरायण लोग हैं। प्रख्यात भारतीय, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में– [5]

> 'आप हिंदू समुदाय से संबंधित ऐसे किसी भी सामाजिक प्रश्न के बारे में सोच भी नहीं सकते, जो उनके धर्म से न जुड़ा हो। जब किसी सामाजिक प्रथा के साथ ईश्वर की स्वीकृति जुड़ जाती है, तो वह प्रथा लोगों के मनों में बैठ जाती है। और तब उसकी जड़ें बुद्धि की बजाय भावनाओं में दृढ़ता से जम जाती हैं।'

और ऐसे बहुत से भयानक अनुभवों से यह सामने आ चुका है कि उन्मादी लोगों को अगर यह भनक भी लग जाए कि उनकी जाति पर खतरा आ गया है या किसी ने उनके देवताओं का अपमान कर दिया है, तो वे किस कदर पागल होकर लोगों का खून बहाना शुरू कर देते हैं। सरकार यह बात आरंभ से ही जानती थी। इसीलिए, महारानी ने अपने 02 दिसंबर 1858 के घोषणा पत्र में साफ-साफ निर्देश दिया था– 'हम अपने अधीनस्थ सभी अधिकारियों को सख्त हिदायत देते हैं कि वे लोगों के धार्मिक विश्वासों और पूजा के मामलों में बिलकुल दखल न दें। अगर वे इस आज्ञा का उल्लंघन करेंगे, तो इससे उन्हें हमारी भारी नाराजगी का पात्र बनना पड़ेगा।'

फिर भी भारत में अंग्रेजों की पहली प्रवृत्ति सामाजिक अन्याय के कारणों को दूर करना था। 1854 के शुरू में ही ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों ने यह सिफारिश की थी कि जाति के आधार पर किसी भी लड़के को स्कूल या कॉलेज में प्रवेश देने से रोका नहीं जाए। और जब तक उनकी सत्ता रही, तब तक वे अपनी नीति पर कायम रहे। पर, जब उनकी सत्ता ब्रिटेन के राजा की सत्ता में विलीन हो गई, तब उस पर अमल करना मुश्किल हो गया। उसके बाद बार-बार इस नीति पर जोर दिया जाता रहा। पर, उसमें इतनी सावधानी बरती जाती थी कि जो लोग इसके नाजुक आधार से अनजान थे, उन्हें असहाय प्रतीत होते थे। उन करोड़ों लोगों पर—जो न समझते हैं और न समझने के लिए तैयार हैं—कोई भी पाश्चात्य विचार जबरदस्ती थोपने का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

लोगों के खिलाफ जातिगत दुर्व्यवहार को उनका दंभी या निष्ठुर स्वभाव नहीं समझा जाना चाहिए। व्यक्ति की जाति उसकी आत्मा के इतिहास का एक बाहरी चिह्न है। जो व्यक्ति जाति के असंख्य नियमों में से एक नियम को भी तोड़कर जाति की मर्यादा का उल्लंघन करता है, उसे सदा के लिए दंड भोगना पड़ता है। यदि एक हिंदू के रूप में इन नियमों का पालन करने में आप किसी दूसरे को पीड़ा पहुंचाते हैं, तो उसका कारण केवल यह है कि उसकी आत्मा के इतिहास ने उसके लिए पीड़ा का ही रास्ता तय किया है। आपको इस विषय में कुछ नहीं करना है। और अगर वह एक अच्छा हिंदू है, तो वह भी आपको दोषी नहीं मानेगा। क्योंकि, आप और वह दोनों ही ईश्वर द्वारा निर्धारित भाग्य का ही फल भोग रहे हैं।

आज अछूतों के लिए कानून जो कुछ कर सकता था, वह सब किया जा चुका है। जहां तक सरकार कर सकती थी, उसने उनके लिए शिक्षा उपलब्ध कराने और उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करने के लिए सुविधाएं खुलकर दी हैं। सरकार की ओर से भूमि विकास और सहकारी योजनाओं में भी तेजी से वृद्धि हो रही है, जिन्होंने उनकी उन्नति के साधनों का भारी मार्ग खोल दिया है।

किन्तु, प्रांतीय सरकारों के लिए ऐसा कानून पास करना—जिसमें प्रत्येक नागरिक के लिए सरकारी स्कूलों में पढ़ने जैसी सार्वजनिक सुविधाओं के उपभोग का अधिकार दिया गया हो—एक बात है। पर, उस कानून को—जिसमें न लोगों की इच्छा हो और न सहयोग करने की भावना हो—असंख्य छोटे-छोटे गांवों और बड़े शहरों में लागू करवाना एकदम दूसरी बात है। उदाहरण के लिए मद्रास सरकार के 17 मार्च 1919 के आदेश का यह पैराग्राफ देखिए–

> 'कानून यह कहता है कि जाति के आधार पर किसी भी लड़के को प्रवेश से वंचित नहीं किया जाएगा। पर, पंचम वर्ण के अर्थात् अछूत बच्चों को मद्रास प्रांत के 8,157 स्कूलों में से केवल 609 स्कूलों में ही प्रवेश दिया जाता है।'

फिर भी यह घोषणा यदि ठीक से पढ़ें, तो विजय का प्रतीक है। क्योंकि, अछूतों के लिए खोले गए ये 609 स्कूल कट्टरवादी हिंदुओं के क्षेत्र में हैं, जो एक बड़ी बात है। जबकि, इससे 12 गुना स्कूलों ने अछूतों को प्रवेश देने से इनकार कर दिया था।

बंबई विधान परिषद में अगस्त 1926 में एक दिन इस विषय पर बहस हो रही थी कि नगर पालिकाओं और अन्य परिषदों को बाध्य किया जाए कि वे अछूतों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने, सार्वजनिक कुओं से पानी लेने और सभी नागरिक सुविधाओं का उपयोग करने की स्वतंत्रता का अधिकार दें। अधिकांश हिंदू सदस्यों ने इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया था। परंतु, एक सदस्य ने—जिससे अन्य सदस्य भी सहमत थे—यह कहकर विरोध किया कि यदि यह प्रस्ताव अमल में आ गया, तो हमें विरोध के तूफान का सामना करना पड़ेगा। रूढ़िवादियों का मत इतना मजबूत है कि इस प्रस्ताव से सहानुभूति रखते हुए भी मुझे लगता है कि अगर हम इसे व्यवहार में लाए, तो इसका परिणाम भयानक हो सकता है। [6] फिर उस सदस्य ने सुझाव दिया कि अछूतों के शुभचिंतकों के लिए बुद्धिमानी इस बात में है कि वे इस प्रस्ताव पर अमल कराने को न कहें, बल्कि इसकी बजाय वे इस पर सिर्फ शाब्दिक सहानुभूति से ही संतुष्ट रहें। जैसे वे स्वयं हैं।'

एक दूसरे हिंदू सदस्य ने अपनी विशेष चतुराई से अपने दायित्व का सारा बोझ ऐसे कंधों पर डाल दिया, जो हर तरह का दायित्व निभाने के लिए तैयार रहते हैं। उसने कहा– [7]

> 'मुझे लगता है ब्रिटिश सरकार ने इस प्रांत में बहुत ही कायरता की नीति अपनाई है। उन्होंने किसी भी समाज सुधार के कानून में भाग लेने से इनकार कर दिया है। संभवत: विदेशी होने के नाते सरकार को डर यह था कि लोग उस पर धार्मिक समुदायों के मामलों में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाएंगे। महारानी विक्टोरिया के उस घोषणा-पत्र के

बावजूद, जो विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच समानता के बारे में था, सरकार ने उसे व्यावहारिक रूप से कार्यान्वित नहीं किया।'

किन्तु, सिन्ध के मुस्लिम सदस्य नूर मोहम्मद ने उपयोगी बात कही थी– [8]

'मैं समझता हूं वह दिन दूर नहीं, जब उच्च वर्गों के अत्याचारों से पीड़ित समाज के निचले तबके के लोग दूसरे धर्मों में जाने के लिए मजबूर हो जाएंगे। तब हिंदू समाज के पास यह शिकायत करने के लिए कोई कारण नहीं होगा कि मुस्लिम या ईसाई मिशनरी दलित वर्गों का धर्म परिवर्तन करा रही हैं। यदि हिंदू समाज इन मानव प्राणियों को, जो उन्हीं के सहोदर प्राणी हैं, सार्वजनिक स्कूलों में प्रवेश देने से इनकार करता है और इस सदन में लाखों लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाला स्थानीय परिषद का अध्यक्ष अपने ही भाइयों को पानी लेने का मूल अधिकार तक देने को तैयार नहीं है; तो उन्हें अंग्रेज शासकों से अपने लिए और अधिक अधिकार मांगने का क्या हक है? इससे पहले कि हम दूसरे देश के लोगों पर आरोप लगाएं, हमें यह देखना चाहिए कि हम स्वयं अपने लोगों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? हम और अधिक राजनीतिक अधिकार कैसे मांग सकते हैं, जब हम स्वयं अपने मानव प्राणियों को उनके मूल अधिकार देने से मना करते हैं?'

अछूत जातियों को स्कूल के दरवाजे तक लाने के लिए कानून बनाए जा सकते हैं। पर, चूंकि उनके आत्म-सम्मान को सदियों पहले कुचल दिया गया था; इसलिए वे स्वयं घर की दहलीज लांघकर स्कूल आने का साहस नहीं कर सकते। इसलिए, स्कूलों में उनके प्रवेश का अर्थ यह होगा कि वे अधिक से अधिक बरामदे में बैठकर दूर से सुनकर ही कुछ ज्ञान हासिल कर लें। ग्रामीण शिक्षा आयुक्त कहते हैं– [9]

'सामान्य रूप से अभी तक यह स्थिति है कि सवर्ण लोग न केवल अछूतों को शिक्षित करने के लिए कोई प्रयास नहीं करते हैं, बल्कि उनके मार्ग में बाधाएं भी खड़ी करते हैं। क्योंकि, वे जानते हैं कि अगर अछूत पढ़-लिखकर जागरूक हो जाएंगे, तो ये लोग उनका शोषण नहीं कर सकेंगे। अछूत जातियों के जो लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजने का साहस करते भी हैं और अगर वह स्कूल उनकी बस्ती में भी हो, जिससे कोई सवर्ण बच्चा उनके संपर्क में आकर अपवित्र होने की शिकायत नहीं कर सकता है, तो भी सवर्ण लोग उनके साथ इतनी हिंसा करते हैं और उन्हें इतना डराते-धमकाते हैं कि वे मजबूर होकर स्कूल से अपने बच्चों को निकाल लेते हैं। यदि अछूत लोग पढ़ने के अलावा ईसाई धर्म की शिक्षा भी प्राप्त करना चाहते हैं, तो कुछ समय तक उनको और भी उत्पीड़ित किया जाता है। क्योंकि, सवर्ण हिंदू इस आशंका से भयभीत हो जाते हैं कि अगर वे ईसाई बन गए, तो उनकी सेवा करने के लिए सेवक नहीं मिलेंगे।'

अभी अछूतों के बहुत कम बच्चे स्कूलों में पढ़ते हैं। किन्तु, यदि उनमें से कोई सारी बाधाओं को पार करके शिक्षा प्राप्त कर लेता है, तो आमतौर से वह व्यक्ति अपनी जाति के लिए बहुत ही उपयोगी मनुष्य साबित होता है। यद्यपि, उनके पतन का अनंतकाल का इतिहास है। पर, इसके बावजूद उनमें उन्नति करने की शक्ति अभी लुप्त नहीं हुई है। बंगाल की एक अछूत जाति नामशूद्र है, जिनकी संख्या लगभग 19,97,500 है। इन्हें जब नए ज्ञान के प्रकाश का प्रोत्साहन दिया गया, तो उन्होंने अपने उत्थान के लिए सफलता के साथ संघर्ष किया और उन्होंने अब अपने स्कूल स्थापित कर लिए हैं। पिछली रिपोर्ट के अनुसार, बंगाल में उनके 49,000 से ज्यादा बच्चे पढ़ रहे हैं। जिनमें 1,025 हाईस्कूल तक पहुंच गए थे और 144 आर्ट कॉलेजों तक। [10] जातीय भेदभाव के कारण सरकार ने उनके रहने के लिए अलग से छात्रावासों का निर्माण किया है। यह समुदाय अब तेजी से अपना सामाजिक स्तर ऊपर उठा रहा है।

पंजाब में, जहां सरकार के सिंचाई कार्यों ने जनता के बहुत से पुराने दुःखों का अंत कर दिया है; वहां जातीय भेदभाव के कारण सरकारी स्कूलों में अछूतों को लाने के विरुद्ध लोगों की भावनाएं भी कमजोर पड़ती जा रही हैं। हालांकि, कुछ पंजाबी नगर पालिकाओं ने इन गरीब नागरिकों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखने के लिए खेल खेला है। [11] बंबई की शैक्षिक रिपोर्ट से भी पता चलता है कि स्कूलों में पढ़ने वाले अछूत बच्चों की संख्या में महत्वपूर्ण वृद्धि हो रही है; खासकर ईसाई मिशनरी स्कूलों में। इससे परिणामत: कुछ रोचक अनुमान निकलते हैं।

दलित वर्गों के लोगों ने अपने दुःखों को सुनाने और अपने अधिकारों की मांग के लिए अपने प्रतिनिधियों का सम्मेलन करना आरंभ कर दिया है। विधायिका और स्थानीय निकायों में उनके जो विशेष प्रतिनिधि हैं, वे और भी अधिक अधिकारों का दावा करते हैं। सरकार के गंभीर प्रयासों से कुछ समुदायों में उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधर रही है। इसके साथ ही उनमें मनुष्यता का बोध भी पैदा हो रहा है, जिससे वे अपने पतन के खिलाफ क्रोध का भी अनुभव करने लगे हैं, जिसके नीचे अभी तक वे चुपचाप दबे पड़े थे। उनमें से कुछ लोग शक्तिशाली और प्रमुख मनुष्य भी हो गए हैं।

अंतत: उनकी जो स्त्रियां ईसाई हो जाती हैं, उन्हीं में से भारत की सभी जातियों की लड़कियों के लिए भारतीय शिक्षिकाओं के रूप में लिया जाता है और उन्हीं में से शिक्षित नर्सें अस्पतालों में सेवाएं देती हैं। इन दोनों ही कार्यों को सवर्ण जातियों के लोग घृणित समझकर अस्वीकार कर देते हैं। जबकि इन दोनों के लिए शिक्षा की आवश्यकता है और इन दोनों का ही प्रभाव बढ़ने की संभावना है।

मुझे एक बार उत्तर-पूर्वी भारतीय शहर में एक बाल-कल्याण केंद्र को देखने का अवसर मिला था। वहां मैंने पहली बार यह जाना कि अस्पृश्यता के सिद्धांत का मतलब क्या होता है और एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य के साथ कितनी अमानवीयता कर सकता है। वह एक सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्र था, जहां भारतीय स्त्रियों की भीड़ थी। वे सभी वहां अपने शिशुओं को लेकर अंग्रेज महिला नर्स के पास स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए आई थीं। उन सबके प्रति महिला नर्स का व्यवहार ऐसा था, जैसे एक समझदार और प्यारी मां का अपने बच्चों के प्रति होता है– आत्मविश्वास से भरा, स्नेहमयी और आशापूर्ण और उसमें उनकी अपेक्षाएं भी शामिल थीं। मैं दोपहर तक यह देखती रही कि उस अंग्रेज महिला ने बच्चों को नहलाया। उनका वजन किया और परीक्षण किया। साधारण दवाइयां दीं। उनके सवालों का जवाब दिया। उन्हें सलाह देते हुए और दोस्ताना ढंग से उनका समाधान किया। उनकी हिम्मत बढ़ाई और प्रशंसा की। इसी समय मुझे एक साफ चेहरे वाली बुद्धिमान उच्च जाति की स्त्री आती दिखाई दी। वह सोने-चांदी के भारी जेवरों से लदी हुई थी और एक रेशमी दुपट्टा ओढ़े हुए थी। वह अपने बच्चे को दिखाने के लिए फर्श पर बैठ गई, उसने एक पुराने कंबल के फटे हुए टुकड़े में से बच्चे को बाहर निकाला, जो एकमात्र वही उसकी पोशाक थी। उस नन्हे बच्चे के शरीर पर आधा सूखा और आधा गीला पाखाना लगा हुआ दिखाई दे रहा था।

मैंने अंग्रेज नर्स से कहा– 'मालूम होता है कि यह स्त्री अपने बच्चे के प्रति लापरवाह है।' नर्स ने जवाब दिया–

'हम कोशिश करते हैं कि इस तरह की स्त्रियां अपने बच्चों के लिए पोतड़ों का प्रयोग किया करें। परंतु, वे उनको खरीदना नहीं चाहतीं। वे उनको अपने आप धोती भी नहीं हैं और न वे उन्हें पैसे देकर धोबी से धुलवाती हैं; जबकि इसके लिए वे सक्षम हैं। यह स्त्री कुलीन घर से है। इसका पति सुशिक्षित तकनीशियन है और अच्छा वेतन पाता है। कभी-कभी यह इस कंबल को सुखाने के लिए अपने बरामदे में धूप में लटका देती है और सूखने के बाद जो कुछ झड़ता है, झाड़ देती है। बस उसका काम खत्म! इसी से पता चल जाता है कि इस जिले में घरों में बच्चों में डायरिया क्यों फैलता है। ये लोग चीजों को साफ रखने का कोई प्रयास करते ही नहीं हैं।'

जिस समय वह अंग्रेज नर्स यह बता रही थी, उसी समय दरवाजे से एक आकृति आती दिखाई दी। एक आकर्षक युवती, जिसका चेहरा इतना प्यारा कि देखते ही नजरों में समा जाए। वह एक बीमार बच्चा अपने हाथों में लिए हुए थी। पर, वह और आगे नहीं बढ़ी। उत्कण्ठा से मुस्कराती हुई दरवाजे के पास ही खड़ी रही। नर्स भी उसे देखकर मुस्कुराई।

मैंने पूछा– 'वह अंदर क्यों नहीं आ रही है?'

नर्स ने जवाब दिया– 'उसकी हिम्मत नहीं है। यदि उसने हिम्मत की, तो ये दूसरी सारी स्त्रियां यहां से चली जाएंगी। वह एक अछूत है ...बहिष्कृत। वह स्वयं भी भीतर आकर बैठना पाप समझती है।'

मैंने कहा– 'कम से कम यह देखने में उतनी ही साफ लगती है, जितनी यह दूसरी स्त्रियां हैं।'

सिस्टर ने कहा– 'अछूत उतने ही शालीन और बुद्धिमान हो सकते हैं, जितने दूसरे हैं। और यह तो आप भी देखती हैं कि वे गंदे नहीं हो सकते हैं। किन्तु, भारत की प्रथा ही ऐसी है। हम इसे बदल नहीं सकते। इसलिए, हम भी सिर्फ काम निकालते हैं। और जितना हो सकता है, हम इनकी मदद करने की कोशिश करते हैं।'

उस अत्यंत शालीन विनम्र स्त्री ने बाहर खड़े रहकर ही प्रतीक्षा की, जहां उसी की तरह की और भी बहुत-सी स्त्रियां खड़ी थीं। उस अंग्रेज नर्स ने उन सबके पास जाकर सबके बच्चों को देखा। किसी को आंखों में लगाने के लिए ट्यूब दिया। किसी को खांसी का सीरप दिया और किसी की दुःख भरी कहानी भी सुनी।

किन्तु, अछूत स्त्रियां अपने छोटे बच्चों को गर्म स्नान कराने के लिए उन्हें अंदर नहीं ला सकती थीं; जिस तरह दूसरी स्त्रियां निस्संकोच यह कर रही थीं। वे सिलाई सिखाने की कक्षा में भी नहीं आ सकती थीं। यह देखने के लिए कि जो दूध वे अपने बच्चों को पिला रही थीं, उससे उनके बच्चे की सेहत सुधर रही है कि नहीं; वे अपने बच्चों को वजन मापने वाली तराजू में भी नहीं लिटा सकतीं थीं। क्योंकि, ऐसा करने से वह टोकरी अपवित्र हो जाएगी। कारण, वे सब अपने पिछले जन्म के पापों का दंड भोग रही हैं। इसलिए, वे किसी की सहायता और सहानुभूति की भी पात्र नहीं हैं।

---

[1] भारतीय राजनेता प्राय: ब्रिटिश सरकार पर यह आरोप लगाते रहते हैं कि उसने दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर अप्रवासी भारतीयों की सहायता करने के बारे में दबाव नहीं बनाया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि मूलत: 1,30,000 ब्रिटिश भारतीय दक्षिण अफ्रीका में अप्रवासी हैं, जिनमें एक-तिहाई अछूत हैं और वे इसी मद्रास प्रांत से हैं, जिनकी भारत में क्या दुर्दशा है? उसका वर्णन इसी अध्याय में किया गया है। वे यदि भारत लौटते हैं, तो वे पुन: अपनी पुरानी स्थिति में आ जाएंगे। दक्षिण अफ्रीका में 1922 की 'ईयर बुक' (वार्षिक रिपोर्ट) के अनुसार 1,61,000 से कुछ ही ज्यादा थी। इनमें वे 10,000 व्यापारी भी शामिल हैं, जो बाद में गए थे।

[2] भारतीय धर्मग्रंथों- 18 पुराणों में प्रमुख। अनुवाद आबे दुब्बा की पुस्तक 'हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनीज', पृष्ठ-558 से लिया गया है।

[3] वर्ण व्यवस्था में अंतिम वर्ण, पर अछूत से ऊपर।

[4] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरीमनीज, पृष्ठ-60, 61 एवं श्री वोइयाज ऑफ वास्को डि गामा, गास्पर कोर्रिया, हाकलुयत सोसाइटी, लंदन, 1869, पृष्ठ-155

[5] ए नेशन इन मेकिंग, लंदन, हम्फ्री मिल्फोड, 1925, पृष्ठ-396

[6] बाम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल डिबेट्स, 1926, वॉल्यूम-XVIII, पार्ट-IX, पृष्ठ-717

[7] वही, पृष्ठ-728

[8] वही, अगस्त 5, पृष्ठ-721

[9] विलेज एजुकेशन इन इंडिया, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922, पृ-21

[10] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन बंगाल, छठी पंचवर्षीय समीक्षा रिपोर्ट, पृष्ठ-83

[11] देखिए, रिपोर्ट ऑन दि प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन दि पंजाब, 1924-25, लाहौर, 1926, पृष्ठ-71

अध्याय **12**

वह देखो, प्रकाश पुंज!

बहुत से लोग कहते हैं कि लंबे समय से पतित अवस्था में रहने के कारण अछूतों का चरित्र गिर गया है। किन्तु, सदियों के दमन के बावजूद उनमें अभी सदाचार के गुण मौजूद हैं। उदाहरण के लिए महारों को लीजिए, जिन्हें गांवों में सवर्ण जातियों के लोग अछूत मानते हैं और उनसे मद्रास के 'पालरों' की तरह गुलामों जैसा काम लेते हैं। [1] अब सरकार ने इन्हें हरकारा या कुली की नौकरी दी हुई है। इस कार्य को वे पूरी ईमानदारी से करते हैं और एक छोटे सिक्के की भी चोरी किए बगैर वे सैकड़ों रुपए भरोसे के साथ इधर से उधर ले जाते हैं। इसी तरह बंबई क्षेत्र में ढेढ भी एक अछूत जाति है। अंग्रेज लोग इन्हीं में से नौकर रखते हैं; जो सच्चे, ईमानदार और भरोसेमंद होते हैं। पर कुछ उच्च जातियों के भारतीयों को अपने निकट इनकी मौजूदगी सहन नहीं होती है।

इनमें से ईसाई धर्म अपनाने वालों की संख्या अब लगभग पांच मिलियन अर्थात 50 लाख है। हालांकि, इसमें मतभेद है। पर जो भी हो, सच यह है कि ये लोग धर्मांतरण के बाद स्वतंत्र हो गए हैं। और जितना हो सकता है, अब जाति व्यवस्था के बंधनों से मुक्ति का सुख उठा सकते हैं। हिंदू उनसे घृणा ही करते हैं। किन्तु, उनकी तीसरी पीढ़ी के ईसाइयों के बारे में बहुत से अनुभवी लोग यह कहते हैं कि वे ही भारत की आशा हैं।

अभी तक ईसाई मिशनरियों की सहायता से अंग्रेजों ने अछूतों को धैर्य और कठोर परिश्रम से सामाजिक खाई से निकलने के लिए शिक्षित करने, समझाने और साहस बढ़ाने का काम किया है। इसलिए, पिछले कुछ वर्षों में आकाश में नए शुभ चिह्न उदित होते दिखाई दिए हैं।

इन शुभ चिह्नों में एक चिह्न यह है कि राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन और हिंदुओं के राजनीतिक अधिवेशनों में अछूतों के दमन के विरुद्ध खुलकर घोषणा की जाने लगी है। पर, ये घोषणाएं यद्यपि शाब्दिक होती हैं; इसलिए उन शब्दों का बहुत कम प्रभाव होता है। दूसरा चिह्न यह है कि अस्पृश्यता को समाप्त करने की प्रतिज्ञा करने वाले भारतीय स्वयं सेवक दल भी बन गए हैं। इनमें 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया' दल भी शामिल है, जो प्रकट रूप से राजनीतिक संस्था है। [2] बंगाल और असम में अछूतों की सहायता के लिए लॉर्ड सिन्हा की समिति है, तो ब्रह्मो समाज और ऐसे ही अन्य दल भी हैं। उनका कार्य—जहां चलता है—उपयोगी है। पर, छिटपुट और आवश्यकता के अनुरूप बहुत कम है। किन्तु जहां कुछ नहीं था, उसकी तुलना में बेहतर है।

ब्रह्मो समाज के एक प्रतिष्ठित नेता ने मुझसे कहा– 'यह भारत की अपनी अवधारणा नहीं है। आज भारत में हम जो भी सामाजिक कार्य कर रहे हैं, वह सब निस्संकोच अंग्रेजों का अनुकरण और उनके प्रभाव का परिणाम है।' मैंने इस बात को सहृदय भारतीयों के होठों से बारम्बार सुना है कि अंग्रेज ही यहां परिवर्तन के स्रोत हैं।

सर नारायण चन्द्रावरकर का कहना है– [3] 'अस्पृश्यता का अभिशाप आज भारत के सभी भागों में मौजूद है। पर, ब्रिटिश सरकार की उदार शक्तियों के साथ यह समस्या अब पूरी तरह प्रकाश में चमक रही है। सरकार को धन्यवाद कि उसने इस समस्या को संपूर्ण भारत की समस्या बना दिया है।'

मि. गांधी ब्रिटिश सरकार के इस उपकार के प्रभाव को स्वीकार करने को अभी तैयार नहीं हैं। उन्होंने भारत की इस संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था की निंदा करते हुए उसे 'वर्णन से परे, घटिया' व्यवस्था कहा है। किन्तु, वह पिछले पांच वर्षों से अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं; जिसमें उनकी एकमात्र सहायता ब्रिटिश सरकार ने ही की है। और इन दोनों की मदद 'मुक्ति सेना' ने की है। इस संदर्भ में उन्होंने एक भारतीय देशी अखबार से एक विद्वान ब्राह्मण का हाल का वक्तव्य लेकर अपने पत्र में प्रकाशित किया है, जिसका यह पैरा द्रष्टव्य है– [4]

> 'अस्पृश्यता का विचार मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक है। मनुष्य के पास आकर्षक शक्तियां होती हैं। यह शक्ति दूध की तरह है। [5] यह अशुद्ध लोगों के संपर्क से नष्ट हो जाती है। जो कोई कस्तूरी और प्याज को एक साथ रख सकता है, वही ब्राह्मणों और अछूतों को एक साथ मिला सकता है। अछूतों के लिए यह काफी है कि वे परलोक के सुखों से वंचित नहीं किए जाते हैं।'

पंडित के इस मत पर टिप्पणी करते हुए मि. गांधी कहते हैं– [6] 'अगर उनको (अछूतों को) परलोक के सुखों से वंचित करना संभव होगा, तो यह भी हो सकता है कि इस क्रूरता के रक्षक उनको परलोक में भी अपने से अलग अछूत बनाकर ही रखेंगे।'

प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स कहते हैं– [7] 'वर्तमान भारतीयों में मि. गांधी ने ही अपने देशवासियों पर यह सर्वाधिक प्रभाव डाला है कि दलित वर्गों का उत्थान करना आवश्यक है। जब वह अपनी प्रतिष्ठा के शिखर पर थे, तो बहुत से रूढ़िवादी लोगों को उनके विचारों को चुनौती देने का साहस नहीं होता था।'

किन्तु, आज अस्पृश्यता का बचाव करने वाले असंख्य हैं। और हालांकि मि. गांधी अपने विश्वास के अनुसार काम भी करते हैं, तथापि उनके समर्थक शायद ही उनका अनुसरण करते हैं।

5 जनवरी 1925 को बंबई में अस्पृश्यता पर हिंदुओं की एक जनसभा मि. गांधी के विचारों का विरोध करने के लिए हुई थी, जिसमें वक्ताओं ने उनके विचारों को धर्म पर हमला बताया था। इस सभा के अध्यक्ष मि. मनमोहन दास रामजी ने कहा था कि अस्पृश्यता की प्रथा संक्रामक रोगों वाले लोगों से दूर रखने की योजना पर आधारित है। उन्होंने पिछले वक्ता का समर्थन किए बिना—जिसने कहा था कि हिंदू समाज को नष्ट करने की धमकी देने वाले विधर्मियों को पकड़कर मार डाला जाए—इस बात पर जोर दिया कि हिंदू अपने धर्म की प्राचीन पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए अपने जीवन का बलिदान देने के लिए तैयार हैं।' इस सभा का समापन मि. गांधी के अस्पृश्यता विरोधी प्रचार के विरुद्ध कार्य करने के लिए एक विशेष समिति का गठन करने के बाद हुआ।

यहां यह कहना आवश्यक है कि हिंदुओं की सभाओं में अस्पृश्यता के विषय में लगातार होने वाली चर्चाओं में जिस तरह व्यवस्था के रखवाले अपना जोश दिखाते हैं, उससे पता चलता है कि अस्पृश्यता के विरोधियों ने मैदान जीत लिया है।

मि. गांधी ने मुझसे कहा– 'आपने देखा, हिंदू महासभा में इस विषय पर कितना तर्क-वितर्क हुआ है। [8] किन्तु, उनके तमाम विरोधों के बावजूद अस्पृश्यता समाप्त हो रही है ...और तेजी से समाप्त हो रही है। इसने भारत की मानवता का पतन कर दिया है। अछूतों के साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया जाता है। भगवान के नाम पर उनकी छाया को भी दूषित कहा जाता है। मैं जितनी दृढ़ता से अस्पृश्यता की निंदा करता हूं, उतनी ही दृढ़ता से भारत पर ब्रिटिश शासन पद्धति के थोपे जाने की भी निंदा करता हूं। अस्पृश्यता मेरे लिए ब्रिटिश शासन से भी

ज्यादा असहनीय है। यदि हिंदू धर्म अस्पृश्यता को गले लगाए रहता है, तो समझो वह हिंदू धर्म मर गया।' [9]

इसी बीच अछूतों की सहायता के मामले में एक दूसरी विचित्र स्थिति पैदा हो गई। सरकारी सेवाओं में तेजी से भारतीयों को लिए जाने और विश्वयुद्ध के समय से ही ब्रिटिश प्रशासन द्वारा भारतीयों को और ज्यादा स्वायत्तता दिए जाने के कारण तीन-चौथाई हिंदुओं और एक-चौथाई मुसलमानों के बीच परस्पर ईर्ष्या का भाव पैदा हो गया है। इस विषय पर विचार हालांकि अंयत्र किया जाएगा। पर, यहां सिर्फ यह बताना पर्याप्त होगा कि अछूतों का विषय उनकी संख्या के कारण अचानक हिंदू जगत के लिए चिंता का विषय बन गया है। इस संबंध में, 1920 में सर टी. डब्ल्यू. होल्डरनेस ने लिखा था– [10]

> 'भारत में दलित वर्ग की एक विशाल बहुसंख्या है। वर्तमान में हिंदू धर्म की चिंता यह है कि इन वर्गों को हिंदू माना जाए अथवा नहीं। 10 वर्ष पूर्व इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से नकारात्मक होता। आज भी देश के रूढिवादी हिंदू उनके बहिष्कार के ही पक्ष में हैं। किन्तु, कुछ शिक्षित और प्रगतिशील विचारों के हिंदू इस विषय पर थोड़ा सोचने लगे हैं। उनके प्रतिद्वंद्वी मुस्लिम राजनीतिक भी उनको यह स्मरण कराते हैं कि हिंदुओं में एक-तिहाई लोग ऐसे हैं, जिन्हें हिंदू भी अपना अंग स्वीकार नहीं करते हैं। ब्राह्मण पुरोहित उनके यहां अनुष्ठान नहीं कराते हैं और उन्हें हिंदू मंदिरों में जाने से रोका जाता है। अवश्य ही इस तरह के तर्कों के सामने यह कहना ही सही लगता है कि दलित वर्गों को हिंदू धर्म में स्वीकार कर लिया जाए। किन्तु, यदि उन्हें हिंदू मान लिया जाए, तो इस तर्क से उनके साथ आज की अपेक्षा बेहतर व्यवहार किया जाना चाहिए। शिक्षित हिंदू इसे समझते भी हैं और इन जातियों के उत्थान की बात को प्रमुखता से भारतीय सामाजिक संस्थाओं के कार्यक्रमों में उठाते भी हैं। किन्तु, बड़े-बड़े समाज सुधारक भी इस बात को मानते हैं कि इस काम में बहुत-सी बाधाएं हैं। और सबसे बड़ी बाधा तो जाति की है, जिसने भारतीय मानस को मजबूती से जकड़ा हुआ है।'

पर, अब यहां एक नई स्थिति पैदा हुई है और यह पश्चिम की दखल के कारण पैदा हुई है, जिसके चलते इस बात की संभावना पैदा हो गई है कि हो सकता है कि अपने प्रति विदेशियों की विशेष सहानुभूति से उत्तेजित होकर दलित सवर्ण हिंदुओं को अपनी धार्मिक स्थिति के निर्धारण की अनुमति अब और न दें। उन्हें इस्लाम धर्म खुशी-खुशी उनकी पूर्ण साझेदारी के साथ अपनाने के लिए तैयार है, जो ज्यादा लोकतांत्रिक धर्म है। वहीं, ईसाई धर्म उन्हें न केवल आमंत्रण दे रहा है, बल्कि उन्हें शिक्षित भी बनाएगा और सहायता भी करेगा। जैसे ही वे इस्लाम या ईसाइयत में से किसी एक धर्म को अपनाएंगे, उसी क्षण वे अछूतपन से मुक्त हो जाएंगे। पर, अब देखना यह है कि युगों से प्रताड़ित ये मनुष्य अपने अंदर साहस, जोश और ऊर्जा पैदा करने में कितना समय लेते हैं; ताकि वे अपने पैरों पर खड़े होकर दुःखों की धूल झाड़ सकें।

भारतीय प्रशासन के तेजी से भारतीयकरण के मुख्य समर्थक तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया मि. मान्टेग्यु ने भारतीय प्रतिनिधियों को 1917 की शरद ऋतु में दिल्ली में बुलाया और इस विषय पर उनसे बातचीत की। दिल्ली में बैठकर उन्होंने उन सभी भारतीय लोगों के बयान सुने, जिन्हें इस विषय पर बात करने के लिए बुलाया गया था। अनेक वर्गों के लोग आए और सभी ने अपने-अपने हितों से संबंधित बहुत से प्रत्यावेदन और साक्ष्य प्रस्तुत किए। इनमें भारतीय राजनीतिक मंच पर पहली बार कई संगठित समूहों में ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व सामने आया, जो अछूत जातियों के थे और जो इतने जागरूक थे कि सचिव के समक्ष अपने दावों पर जोर दे रहे थे। उन्होंने बिना किसी मतभेद के भारत के लिए स्वराज के विचार की निंदा की थी। उनको यहां उद्धृत करने से उनकी पुनरावृत्ति होगी। उन लोगों के अभिप्राय को सिर्फ इन दो उद्धरणों से समझा जा सकता है। मद्रास प्रेसीडेंसी के अछूतों का संगठन—'पंचम कल्वी अभिवृद्धि अभिमान संघ' [11] राजनीतिक परिवर्तन का विरोध करता है और मांग करता है कि उन्हें उन ब्राह्मणों से बचाया जाए, जिनका उद्देश्य सरकार पर उसी तरह अधिकार प्राप्त करना है, जिस तरह गेहुंअन सांप मेंढकों पर अधिकार चाहता है।

'मद्रास आदि द्रविड़ जनसभा', जो मद्रास प्रेसीडेंसी में 60 लाख जनजातियों का प्रतिनिधि संगठन है, कहता है– [12]

> 'हिंदुओं की जाति-व्यवस्था हमें अछूतों के रूप में कलंकित करती है। फिर भी सवर्ण हिंदू हमारी सहायता के बिना नहीं रह सकते। हम जो श्रम करते हैं, वे उसी का फल खाते हैं। पर, वे बदले में हमें सिर्फ जूठन देते हैं। हमारा सामाजिक और आर्थिक उत्थान ब्रिटिश सरकार के आने से शुरू हुआ है और उसी के कारण जारी है। भारत में हमसे सिर्फ अंग्रेज सरकारी अधिकारी, व्यापारी और ईसाई मिशनरी ही प्रेम करते हैं और बदले में हम भी उनसे प्रेम करते हैं। यद्यपि सामान्य रूप से हमारे समुदाय की स्थिति अभी भी बहुत निम्न है, पर हमारे कुछ लोग शिक्षित भी हैं। किन्तु, अस्पृश्यता का जो कलंक हिंदुओं ने हमारे समुदाय पर लगाया है, उसके कारण हमारे शिक्षित लोग भी समाज में अपनी उन्नति नहीं कर पा रहे हैं। वे लोग जिन नामों से हमें बुलाते हैं, उसी से हमें घृणा से देखा जाता है।'
>
> 'अत: यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम लोग स्वराज के प्रबल विरोधी हैं। हम अपने रक्त की अंतिम बूंद तक अंग्रेजों को भारत की सत्ता हिंदुओं के हाथों में सौंपे जाने के प्रयास के खिलाफ लड़ेंगे। क्योंकि, जिन हिंदुओं ने अतीत में हम पर जुल्म किए हैं और आज भी कर रहे हैं, वे सत्ता पाने के बाद भी हम पर जुल्म करेंगे। अंग्रेजों के कानून ही हमारे रक्षक हैं। आज भी हिंदू हमारे अधिकारों की उपेक्षा करते हैं, बल्कि हमारे अस्तित्व तक से इनकार करते हैं। यदि, इनके हाथों में प्रशासन का नियंत्रण आ जाएगा, तो वे हमारे हितों का संवर्धन कैसे कर सकते हैं?'

अछूतों के इन प्रतिनिधियों ने कहा कि हम अंग्रेजों से प्रेम करते हैं, तो यह विचार सुनकर दुःख होता है। पर, हममें से हरेक यह जानता है कि इतिहास की उनकी संपूर्ण अंधेरी सदियों में अंग्रेजों से पहले किसी ने भी इन विशेष पददलितों के दुःखों की तरफ न ध्यान दिया था और न उनकी मदद के लिए हाथ बढ़ाया था। यहां एक कहानी दी जा रही है, जो मुझे बताई गई थी। यह घटना दिखाती है कि सदियों का पतन भी आदमी के उस भाव को नहीं मार सकता, जो मित्र की सहायता के लिए उसके दिल में होता है। यह घटना विश्वयुद्ध के समय की है, जब अंग्रेजी सेना 'कुत' पर कब्जा करने जा रही थी। मद्रासी सफरमेना सिपाहियों का दल था, जिसमें बैंगलोर (अब बेंगलोर या बेंगलूरु) के आसपास के कोयले जैसे काले द्रविड़ लोग थे, जो लगभग सभी अछूत थे।

प्रत्यक्षदर्शी ने मुझे बताया– 'नदी उस जगह लगभग तीन सौ गज चौड़ी थी और उसमें पानी का तेज बहाव था। हमें तुर्कों के जागने से पहले भोर के धुंधलके में ही नावों में बैठकर नदी को पार करना था। सफरमेना सिपाहियों का काम था कि वे एक दिन पहले रात में ही नावों को लाकर किनारे पर तैयार रखें और जब लड़ाकू सैनिक उन नावों में बैठकर स्वयं नाव चलाने लगें, तो उन्हें लौट जाना था।'

'सफरमेना लोगों ने अपना काम पूरा कर दिया था। किन्तु, जैसे ही हमारे सैनिक नावों पर सवार होने के लिए आए, तुर्क जाग गए और उन्होंने गोली चलानी शुरू कर दी। इस अचानक हमले से हमारे मंसूबों पर पानी फिर गया। किन्तु, फिर भी हमने अपना काम जारी रखा।'

'सेना के जवान नावों के तलों पर सपाट लेट सकते थे। पर जो लोग नावों को खे रहे थे, उनके लिए पटलों पर बैठकर नावों को खेने के लिए पतवार चलाना आवश्यक था- सौ गज, तिरछे और राइफल से चलने वाली गोलियों की सीध में। उनके पास कोई और रास्ता नहीं था।'

'फिर क्या हुआ? वे छोटे मद्रासी दौड़कर आगे आए और उत्सुक होकर बोले– 'साहब! आपके पास राइफलें हैं, आपकी वहां जरूरत है। आप हटिए! हम केवल सफरमेना हैं। नाव हमें चलाने दो। इस प्रकार, सैनिक पतवार छोड़कर नावों में घुस गए और तली पर लेट गए। सफरमेना लोग पटरों पर कूद गए और नाव चलाने लगे। और तुर्कों की मशीनगनें चलती रहीं।'

'जब नावें वापस आईं, तब नाव चलाने वाले उन 70 लोगों में से शायद ही कोई घायल होने से बचा हो। बहुत-से तो मर गए थे। पर, जो

सफरमेना लोग किनारे पर खड़े थे, उन्होंने तुरंत ही मृतकों को नावों से निकाला और स्वयं उनकी जगह पर कूद कर बैठ गए। और ज्यों ही नए सैनिक नावों में आकर लेट गए, उन्होंने नावें चलानी शुरू कर दीं। और उन साथियों को भी मौत ही नसीब हुई। इस प्रकार हम जिन लोगों की सहायता से कुत पहुंचे, वे कोयले जैसे काले द्रविड़ लोग थे, जिन्हें तुम अछूत मानते हो। सिवाय उनके, जो ईसाई हो चुके हैं। यह अच्छा ही था कि उनमें से भी बहुत से ईसाई हो गए थे।'

1921 के अंत में जब प्रिंस ऑफ वेल्स (ब्रिटेन के राजकुमार) भारत आए थे, तो उस समय मि. गांधी अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर थे। उन्होंने हिंदुओं से कहा था कि प्रिंस का भारत आना जख्मों पर नमक छिड़कना है। इसलिए, सब उनका बहिष्कार करें। [13]

तुरंत ही उनके राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने उनकी आज्ञा को अपने संगठनों के द्वारा सब तरफ फैला दिया। परिणामत: बंबई में प्रिंस के आगमन पर खूब रक्तपात हुआ और जनहानि हुई। पर, लोगों के जिम्मेदार तबकों में कोई विद्रोह नहीं हुआ और न उन रास्तों पर उपद्रव हुआ, जहां सैनिकों का पहरा था। लेकिन हिंदू नेताओं के नियंत्रण वाले शहरी इलाकों में कई दिनों तक हिंसा जारी रही। भारतीयों ने भारतीयों पर हमले किए, जिसमें 50 लोग मरे और 100 से ज्यादा घायल हुए थे। जबकि आगजनी और लूटपाट ने अलग तबाही मचाई थी।

किन्तु, प्रिंस अपने जीवन के इस पहले अपमानजनक स्वागत की अनदेखी करते हुए शहर में अपने सभी निर्धारित कार्यक्रम पूरे करते रहे। 22 नवंबर की शाम को उनका उत्तर की ओर प्रस्थान करने का कार्यक्रम तय था।

जैसे ही वह गवर्नमेंट हाउस से तीन-चार मील दूर बंबई रेलवे स्टेशन की ओर निकले, उनकी मोटर के साथ सिवाय पायलट पुलिस कार के—जो पहले ही बहुत आगे निकल चुकी थी—सुरक्षा का कोई पहरा नहीं था। किन्तु, जब उनकी कार ने शहर में प्रवेश किया, तो सड़कों के दोनों तरफ पुलिस का घेरा था। उनके पीछे देहातों से आए लाखों गरीब लोगों का हुजूम था, जो अपने मसीहा को देखने के लिए आगे बढ़ने के लिए धक्का-मुक्की कर रहे थे। रेलवे स्टेशन अभी आधा मील दूर था और लोगों की धक्का-मुक्की से पुलिस की घेरेबंदी टूट गई थी।

उमड़ती भीड़ ने प्रिंस की कार को घेर लिया। वे चिल्लाते हुए (प्रिंस के) और करीब आने के लिए एक-दूसरे से लड़ने लगे। वे क्या करने वाले थे? उनका इरादा क्या था? भगवान जाने! गांधी के उग्र शब्द उनके बीच फैल चुके थे। और अब सिर्फ भगवान ही मदद कर सकता था। उनमें से कुछ लोग कार के पायदान पर आकर सटकर खड़े हो गए थे। दूसरों ने उनको पीछे हटा दिया और वहां खुद खड़े हो गए। फिर उन्हें धक्का देकर तीसरे वहां खड़े हो गए। और यह धक्का-मुक्की देर तक चली। वे क्या चिल्ला रहे थे? आवाजों के उस शोर में कुछ भी स्पष्ट सुनाई नहीं दे रहा था। पर, जिन पर प्रिंस की सुरक्षा की जिम्मेदारी थी, उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर उसे सुना। वे लगातार जो कुछ चिल्ला रहे थे, वे ये शब्द थे–

'युवराज महाराज की जय!' ...और, 'मुझे अपने राजकुमार को देखने दो! मुझे अपने राजकुमार को देखने दो!! बस एक बार मुझे मरने से पहले अपने राजकुमार को देख लेने दो!'

पुलिस ने एक बार फिर कार के चारों ओर घेरा बनाने की असफल कोशिश की। अब वह पूरी तरह असुरक्षित कार लाखों चिल्लाते हुए लोगों के बीच से धीरे-धीरे रेंगती हुई अंत में स्टेशन पहुंची।

वहां प्लेटफार्म पर बैरियर के पास—जो रॉयल ट्रेन की सुरक्षा के लिए लगाया गया था—प्रांत और नगर के अधिकारी और प्रतिष्ठित व्यक्ति उन्हें औपचारिक विदाई देने के लिए जमा थे। 'हिज रॉयल हाईनेस' प्रिंस ने उन सबकी बातें सुनीं और उनके अभिवादन का जवाब दिया। उसके बाद अचानक प्रिंस ने अपने सहायक की ओर मुड़कर पूछा–

'कितना समय बाकी है?'

'तीन मिनट, सर!' –सहायक ने उत्तर दिया।

'तब उन बैरियरों को हटवा दो और लोगों को अंदर आने दो।' –उन्होंने बाहर खड़ी भीड़ की ओर संकेत करते हुए कहा।

जिन लोगों ने मुझे यह कहानी बताई थी, उन्होंने कहा कि हमारे दिल, हमारे मुंह पर आ गए थे। पर, बैरियर हटा दिए गए थे।

बाढ़ में नदी की तेज धारा की तरह लोगों की असीम भीड़ उमड़ पड़ी। वे नारे लगाते थे। प्रिंस की जय बोलते थे। हंसते थे और रोते थे। और जब ट्रेन ने चलना शुरू किया, वे सब उसके साथ-साथ दौड़ते रहे; जब तक कि वे थक नहीं गए।

उसके बाद एक या दो उत्तरदायी अधिकारी सीधे घर जाकर सो गए।

इस प्रकार प्रिंस ऑफ वेल्स ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया। उनके प्रस्थान करते ही भारतीय नेताओं के द्वेष के कारण उनके अच्छे स्वागत का प्रभाव खत्म हो गया था।

यदि गांधी की अपीलों ने लोगों पर प्रभाव डाला था, तो प्रिंस के अच्छे स्वभाव का समाचार भी दूर-दूर तक फैल गया था। और आदिम लोगों में ऐसे समाचार जल्दी फैलते हैं।

जिस समय प्रिंस उत्तर के गेट—खैबर दर्रा से वापस आए, उसी समय एक अनोखी घटना से उनका सामना हुआ। उनके लौटने के समाचार से प्रोत्साहित होकर अछूतों की एक भीड़ उनके सम्मान के लिए सड़कों पर जमा हो गई थी।

वे सब 'सरकार की जय हो!' के नारे लगा रहे थे और खुश होकर तालियां बजा रहे थे। उनकी आवाज नंगी चट्टानों से गूंज रही थी। जब प्रिंस की कार उनके स्वागत का जवाब देने के लिए धीमी हुई, तो वे खुशी में उछलने और नाचने लगे।

इसका कारण यह था कि उनकी अपनी स्मृति में ऐसी कोई घटना नहीं थी—उन तमाम कहानियों में भी नहीं, जो उन्होंने सुन रखी थीं—जिसमें भारत के इतिहास में ऐसा कोई व्यक्ति कहीं हुआ हो, जिसने अछूतों के प्रति घृणा के सिवाय कोई और भाव दिखाया हो। और यहां उनके सामने भारत के राजाओं का भी राजा सर्वोच्च सम्राट का पुत्र था। वह उनके लिए भगवान थे, जो न सिर्फ उन पर ध्यान देने की कृपा कर रहे थे, बल्कि उनके स्वागत के लिए उन्हें धन्यवाद भी दे रहे थे। कोई आश्चर्य नहीं कि उनकी भावनाएं बलवती हो गईं थीं। उनकी आंखों में दृश्य तैरने लगे थे और उनकी जुबान पर रहस्यमय शब्द आ गए थे।

वे एक-दूसरे से चीखकर कहने लगे– 'देखो! देखो!! इस प्रकाश को देखो, प्रकाश को।'

ऐसा था उनका उत्साह। उनमें से बहुत-से किसी तरह दिल्ली से चलकर आए थे। वह 25 हजार अछूतों की भीड़ थी, जो प्रिंस के आने की

प्रतीक्षा कर रही थी। उन्हें देखने के लिए सभी दिशाओं से अछूत लोगों का रेला आया था। देश के ये साधारण लोग राजनीति के बारे में कुछ भी नहीं जानते। परंतु, वे बस मित्रता को समझते हैं; जो उन्हें उनके कामों में दिखती थी। इसलिए, वे सब सड़कों पर अपने प्रिंस की एक झलक पाने के लिए आंखों में आस लिए प्रतीक्षा कर रहे थे।

अंतत: प्रिंस आए ग्रैंड ट्रंक रोड से नीचे दिल्ली गेट पर। मेजबान अछूतों के बीच। एक ने खड़े होकर पहले से भी ऊंचा झंडा फहराया।

'युवराज महाराज की जय! राजा के बेटे की जय!!' उन सबने मिलकर एक साथ नारा लगाया। चिल्लाते-चिल्लाते उनके गले फट गए थे। प्रिंस ने कार रोकने का आदेश दिया। जबकि, प्रिंस के इस स्वागत को देखकर उच्च जातीय भारतीय दर्शकों को आश्चर्य हुआ और वे प्रिंस को उनका राजसी सम्मान न देने के कारण अपने आप में खिन्न हो गए।

इसके बाद अछूतों के एक प्रतिनिधि ने आगे बढ़कर छह करोड़ अछूतों की ओर से प्रेम और निष्ठा का एक विनम्र संक्षिप्त भाषण दिया। जिसमें युवराज से प्रार्थना की गई कि वे अछूतों के हित में अपने सम्राट पिता से निवेदन करें कि वे हमारे जीवन को उन लोगों के हाथों में कभी न छोड़ें, जो हमसे घृणा करते हैं और हमें गुलाम बनाए हुए हैं। (अछूतों के वह प्रतिनिधि स्वामी अछूतानन्द हरिहर थे –अनुवादक)

प्रिंस ने उस भाषण को पूरी तरह सुना। उसके बाद—पता नहीं उन्होंने अपने कार्य के महत्व को समझा या उन्होंने केवल संपूर्ण संसार के प्रति अपने स्वाभाविक प्रेम और शिष्टता के आवेग में कार्य किया—पर उन्होंने जो किया, वह इससे पहले नहीं सुना गया था। प्रिंस उनके बीच खड़े हुए—जो 'कुत्तों से भी बदतर' समझे जाने वाले लोग थे—और उन सब पर एक नजर डाली। फिर धीरे-से उनसे प्रेम के कुछ शब्द कहे। और फिर एक चमकती हुई मुस्कान के साथ उनको सलाम किया।

भारत में उदय होने वाला कोई सूर्य इस दृश्य का साक्षी नहीं बना था। यानी भारत के किसी भी काल में ऐसी घटना नहीं घटी थी। प्रिंस की कार ने जब चलना शुरू किया, तो लोग लगभग पागल हो गए थे। इसलिए, उनके कुचले जाने के डर से कार धीरे-धीरे चली। फिर उन्होंने अपनी देशी भाषा में अपने विचार व्यक्त किए– 'भई! हमारे भाइयों ने जो कहा था, वह सच है। देखो, वहां सचमुच प्रकाश पुंज है! प्रिंस के चेहरे पर प्रकाश है!'

---

[1] ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी ऑन दि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल 1919, वॉल्यूम-II, मिनट्स ऑफ एविडेंस, पृष्ठ-188, राय बहादुर के.वी. रेड्डी : 'वे राष्ट्र के दास हैं।'
[2] ए ब्रीफ एकाउंट ऑफ दि वर्क ऑफ दि सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, आर्य भूषण प्रेस, पूना, 1924, पृष्ठ-60, 61
[3] हिंदू रिफॉर्मर, बॉम्बे हाईकोर्ट के जज, 1920, पृष्ठ-155
[4] यंग इंडिया, 29 जुलाई 1926, पृष्ठ-268, उक्त पंक्तियां 'गांधीज लेटर्स ऑन इंडियन अफेयर्स, वी. नारायण एंड को, पृष्ठ-121 में भी उद्धृत हैं।
[5] शक्ति अर्थात् सर्वोच्च मूर्तिमान आदर्श।
[6] यंग इंडिया, 29 जुलाई 1926
[7] इंडिया इन 1924-25, पृष्ठ-264
[8] अछूतों के कष्टों को दूर करने वालों के विरुद्ध ही 1926 के इस विशाल हिंदू सम्मेलन के अधिवेशन में हिंदुओं का उत्तेजित और उपद्रवी प्रदर्शन हुआ था।
[9] लेखिका को दिया गया मौखिक वक्तव्य। मि. गांधी द्वारा पुनर्विचार।
[10] पीपुल्स एंड प्रॉब्लम्स ऑफ इंडिया, संशोधित संस्करण, लंदन, विलियम्स एंड नारगेट, 1920, पृष्ठ-101, 102
[11] एड्रेसेज प्रजेंटेड इन इंडिया टू हिज एक्सीलेंसी दि वायसराय एंड दि राइट्स ऑनरेबल दि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया, लंदन, 1918, पृष्ठ-87
[12] वही, पृष्ठ- 60, 61
[13] गांधीज लेटर्स ऑन इंडियन अफेयर्स, पृष्ठ-96, 97

अध्याय **13**

हमें नौकरी दो या मौत दो

कुछ भारतीय राजनीतिक लोगों का मानना है कि भारतीय जनता को अनिवार्य शिक्षा देकर ही शिक्षित किया जाना चाहिए। वे कहते हैं– 'इंग्लैंड ने अपने यहां लंबे समय से शिक्षा को अनिवार्य किया हुआ है। फिर सरकार यहां शिक्षा को अनिवार्य लागू क्यों नहीं करती? कारण स्पष्ट है कि वह यहां इसलिए लागू नहीं करती, क्योंकि यहां के लोगों को अशिक्षित रखने से उसका स्वार्थ पूरा होता है।'

इसका बहुत ही तीखा जवाब पनागल के राजा ने दिया था, जो उस समय मद्रास प्रेसीडेंसी के ब्राह्मण विरोधी नेता थे। मैं यहां उनके ही शब्दों को उद्धृत करती हूं, जो उन्होंने कहे थे– 'सब बकवास! अंग्रेजों के आने के पूर्व पांच हजार वर्षों में ब्राह्मणों ने ही हमारी शिक्षा के लिए क्या किया था? मैं आपको याद दिलाता हूं, उन्होंने पढ़ने का साहस करने वाले निम्न जाति के लोगों के कानों में गर्म सीसा (शीशा) डलवाया था। वे कहते थे कि पढ़ने का हक सिर्फ ब्राह्मणों को है। जब मुसलमान आए और उन्होंने हमें अपनाया, तो वह भी प्राचीन हिंदू राज्य की तुलना में बेहतर था। परंतु, सबके लिए शिक्षा का अधिकार केवल ब्रिटिशकाल में ही मिला है। उन्होंने स्कूल-कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में सभी जातियों, समुदायों और लोगों को स्थान दिया है।'

दुब्बा कहते हैं– [1] 'ब्राह्मणों को यह अच्छी तरह मालूम था कि वे शिक्षा पर कब्जा करके ही नैतिक रूप से अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने ज्ञान को अन्य वर्गों तक पहुंचने से रोकने के लिए उसे बड़ी चालाकी से एक रहस्य बना दिया है।'

किन्तु, पूर्वकाल में भले ही ब्राह्मणों ने बौद्धिक उपलब्धि हासिल की हो; पर वे बाद की शताब्दियों में उसी पर मुग्ध होकर संतुष्ट पड़े रहे। उन्होंने अपनी दुनिया से बाहर के लोगों को ज्ञान नहीं दिया और स्वयं भी कोई उन्नति न करके अपने अतीत काल के निरंतर धुंधले होते ज्ञान में ही खुश रहे। आबे दुब्बा फिर 19वीं शताब्दी के आरंभ में लिखी अपनी पुस्तक में लिखते हैं– [2]

> 'मैं यह नहीं मानता कि आधुनिक काल के ब्राह्मण, लीकरगस और पाइथागोरस के समय के अपने पुरखों की अपेक्षा—किसी भी तरह से—ज्यादा विद्वान हैं। समय के इस लंबे अंतराल में बहुत-सी जंगली जातियां अज्ञान के अंधकार से निकलकर सभ्यता के शिखर पर पहुंची हैं और उन्होंने अपनी बौद्धिक खोजों का विस्तार किया है। किन्तु, हिंदुओं ने इस बीच जरा भी प्रगति नहीं की है। हमें उनमें न तो मानसिक और नैतिक उन्नति का कोई चिह्न मिलता है और न ही कला और विज्ञान के क्षेत्र में उनकी प्रगति का कोई लक्षण दिखाई देता है। कोई भी निष्पक्ष अध्येता यह अवश्य स्वीकार करेगा कि वे अब उन लोगों से बहुत पीछे हो गए हैं, जिन्होंने बहुत बाद में अपने नाम सभ्य जातियों की सूची में दर्ज कराए हैं।'

यह ब्रिटिश के हाथों से भारत राज्य के जाने से आधी सदी पूर्व लिखा गया था।

उन 50 वर्षों में देश में एक नया शिक्षा आंदोलन खड़ा हो गया था। ब्रिटिश संसद से प्रेरित होकर वारेन हेस्टिंग्स और बाद की ईस्ट इंडिया कंपनी ने देश में भारतीय संस्कृति का उत्थान और विकास संबंधी कार्य शुरू करने की इच्छा व्यक्त की थी। किन्तु, भारत में रह रहे एक अंग्रेज व्यापारी डेविड हेयर ने गाड़ी के पहियों को विपरीत दिशा में घुमा दिया था।

डेविड हेयर कोई मिशनरी नहीं, बल्कि एक नास्तिक था। परंतु, वह दृढ़ विचारों का व्यक्ति था। उसने अपने दृढ़ विचारों के कारण ही अपना सर्वस्व समर्पण बंगालवासियों की शिक्षा और नैतिक उन्नति के लिए कर दिया था। प्रसिद्ध हिंदू राजा राममोहन राय अकेले ही अपने बंगालवासियों की बौद्धिक, सामाजिक और नैतिक उन्नति के लिए काम कर रहे थे। अब ये दो हो गए थे और दोनों का एक ही उद्देश्य था। अंतत: दोनों ने मिलकर एक हिंदू कॉलेज की स्थापना की, जिसका लक्ष्य उन्होंने सम्मानित हिंदुओं के पुत्रों को अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं तथा यूरोप और एशिया के साहित्य एवं विज्ञान में शिक्षा देना घोषित किया था।

किन्तु, इस योजना ने सनातनी हिंदुओं के क्रोध और आशंका को ही बढ़ाया था। यह 1817 का वर्ष था।

इसके एक वर्ष बाद कारे, मार्शमैन और वार्ड नामक तीन ईसाई बपतिस्त मिशनरियों ने कलकत्ता के निकट एक स्कूल स्थापित किया, जो अभी भी मौजूद है। 1820 में एंग्लिकन चर्च ने कॉलेज खोला। 1830 में एलेक्जेंडर डफ ने पुन: राममोहन राय की सहायता से भारत में पाश्चात्य विज्ञान पढ़ाने के लिए चौथा कॉलेज स्थापित किया। उस समय पूरे बंगाल में देशी भाषाओं के ही स्कूल थे। परंतु, राजा राममोहन राय ब्रिटिश अधिकारियों का ध्यान बार-बार इस आवश्यकता की ओर दिला रहे थे कि यदि यहां की जनता की उन्नति करनी है, तो प्राचीन शिक्षा प्रणाली को हटाकर अंग्रेजी भाषा में पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा पर जोर दिया जाए। [3]

अंग्रेज अधिकारियों का दृष्टिकोण अभी भी भारतीयों को भारतीय पद्धति से शिक्षा देने का था। किन्तु, जिस समय उन पर इसके विरुद्ध प्रभाव डाले जा रहे थे, उसी समय इस क्षेत्र में सार्वजनिक शिक्षा समिति के अध्यक्ष के रूप में थॉमस बेबिंगटन मैकाले का आगमन हुआ। लॉर्ड मैकाले ने भारी उत्साह से पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में घोषणा की। उसे अनुभव किया कि प्रतिष्ठा और मानवता के नाम पर भारतीयों को पाश्चात्य विज्ञान का संपूर्ण प्रकाश दिया जाना चाहिए। उसने जोश के साथ कहा– [4]

> 'जब हम एक मजबूत दर्शन और सही इतिहास को प्रोत्साहित कर सकते हैं, तो हम जनता के धन से ऐसे चिकित्सा शास्त्र को प्रोत्साहित करें। जिसे पढ़ना एक अंग्रेज नालबंद भी अपना अपमान समझे, ऐसे ज्योतिष शास्त्र को क्यों पढ़ाएं? जिसे पढ़कर अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूल की लड़कियां भी हंसें, उस इतिहास को क्यों पढ़ाएं? जिसमें 30 फीट ऊंचे राजाओं की भरमार है और जो 30 हजार साल तक राज करते हैं और उस भूगोल पर क्यों धन नष्ट करें? जिसमें शीरे और मक्खन से भरे हुए समुद्रों का वर्णन है। इस तरह हम अरबी और संस्कृत कॉलेजों पर जो भी खर्चा करते हैं, वह धन की नहीं, बल्कि सत्य की भी पूर्ण हानि है। यह धन मूर्खों को पैदा करने के लिए खर्च किया जाता है।'

कुछ आधुनिक हिंदुओं ने—जो अपने विचारों के कारण अपने समुदाय का विरोध झेल रहे थे—इस नए समर्थक का तालियां बजाकर स्वागत किया। इस प्रकार उसने भारतीय सार्वजनिक शिक्षा पर खर्च होने वाले धन को पाश्चात्य शिक्षा की ओर मोड़ दिया। अब हर प्रांत में सार्वजनिक शिक्षा विभाग स्थापित हो गया था और स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना के लिए व्यक्तिगत प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए कदम उठाए जाने लगे थे।

यह सब एक निश्चित उद्देश्य के साथ किया गया था। और यह उद्देश्य था-स्वास्थ्य और सामाजिक विकास की कुंजी लोगों के हाथों में देना, जिसमें वे अपने देश के विशाल संसाधनों का विकास कर सकें। और धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से, वे उन्हें समस्त लाभ दें; जो धन और व्यापार की स्वस्थ वृद्धि से प्राप्त होते हैं।' [5]

किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सरकार ने देशी शिक्षा और देशी भाषाओं के अध्ययन को हतोत्साहित किया। इसके विपरीत उसने सभी स्कूलों में देशी भाषाओं की शिक्षा पर भी जोर दिया, जिससे वे आधुनिक विज्ञान के विचारों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त विकास कर लें। [6] इसी बीच सरकार ने दो भारतीय भाषाओं—अरबी और संस्कृत की बजाय अंग्रेजी में शिक्षा देने का निश्चय किया। इसके दो कारण थे– एक यह कि कुछ विशेष विद्यार्थियों को छोड़कर बाकी के लिए दोनों (अरबी और संस्कृत) भाषाओं में से किसी एक भाषा को पढ़ना कठिन था और दूसरा यह कि इन भाषाओं में आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं।

धीरे-धीरे अब स्कूलों की संख्या भी बढ़ने लगी। 1857 से अब तक इन 30 वर्षों में कलकत्ता, बंबई, मद्रास, लाहौर और इलाहाबाद में पांच विश्वविद्यालय स्थापित हुए। भाषा सीखने के पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक और गैर-साहित्यिक विषयों की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया गया। किन्तु जो कठिनाई अब भी है, वह यह है कि व्यापार, वैज्ञानिक कृषि, वानिकी, इंजीनियरिंग और अध्यापन में से किसी भी क्षेत्र में काम करना भारतीयों की आकांक्षा के विरुद्ध था। भारतीयों की यह अवधारणा ही नहीं है कि भारत का एक राष्ट्रीय अस्तित्व भी है। असल में भारतीयों के आचार-विचार में देश का कोई स्थान ही नहीं है।

हमारे दृष्टिकोण में देशभक्ति के इस अभाव को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए; न कि आरोप के रूप में। यह भारत के भाग्य और पुनर्जन्म के सिद्धांतों का वह तार्किक परिणाम है, जो अहं केंद्रित व्यवहार को जन्म देता है। अब आधुनिक भारत में शिक्षा की उन्नति के इतिहास को यहीं छोड़कर, आज के आंकड़ों से इस उन्नति को देखते हैं।

1923-24 में ब्रिटिश भारत के 13 विश्वविद्यालयों से निकलने वाले कुल स्नातकों की संख्या 11,222 थी। इनमें से 7,822 ने कला और विज्ञान में, 2,046 ने कानून में, 446 ने चिकित्सा में, 140 ने इंजीनियरिंग में, 546 ने अध्यापन में, 136 ने कॉमर्स में और 86 ने कृषि में डिग्री हासिल की थी। उसी अवधि में 68,530 छात्रों ने विश्वविद्यालयों में स्नातक की पढ़ाई के लिए प्रवेश भी लिया था और वे भी इसी तरह अलग-अलग विषयों में थे। [7] सबसे ज्यादा संख्या कला और विज्ञान विषयों में थी। जबकि कृषि, स्वास्थ्य विज्ञान, सर्जरी, प्रसूति-विज्ञान, पशु-चिकित्सा और कॉमर्स विषयों की ओर कुछ ही विद्यार्थी आकर्षित हुए थे। हालांकि, इन विषयों की भी पेशकश की गई थी।

उदाहरण के लिए इलाहाबाद में 'अमेरिकन प्रेसबिटेरियन मिशन' द्वारा संचालित कृषि स्कूल में यद्यपि दो सौ छात्रों की व्यवस्था थी, पर 1926 में उसमें केवल 50 छात्र थे।

अधिकांश लोग यह समझकर कि कृषि विज्ञान की शिक्षा के लिए मिट्टी और खेती का मेल होगा, कहते हैं– 'हमें कुली नहीं बनना है।'

स्कूल के निदेशक कहते हैं– 'यदि हम अपने स्नातकों को सरकारी नौकरी देने की गारंटी दे सके होते, तो यहां भी भीड़ हो जाती।'

मैंने भारत में कहीं भी किसी तकनीकी स्कूल के बारे में नहीं सुना, जहां भीड़ रहती हो।

औसत भारतीय आमतौर पर कला में डिग्री चाहता है। लेकिन वह भी सीखने के वास्ते नहीं, बल्कि सरकारी नौकरी पाने के लिए। [8] इसके लिए वह कठोर से कठोर परिश्रम करेगा और अपने परिवार की आकांक्षा को पूरा करने के लिए अपने कमजोर शरीर को भी नष्ट कर लेगा, जिसे वह और उसके पूर्वज पहले से ही अपने अत्याचारों से जर्जर कर चुके हैं। पिछले अध्यायों में इस अत्याचार के बारे में काफी कुछ बताया जा चुका है। इस अत्याचार का एक परिणाम यह देखा जाता है कि विश्वविद्यालयों से पढ़ाई करके निकलने वाले मेधावी भारतीय छात्रों के मस्तिष्क का अचानक ह्रास होने लगता है।

इसी बीच जब वह नौकरी के लिए हांफते हुए निढाल स्थिति में हाथ में डिग्री लेकर खड़ा होता है और उसको वांछित पुरस्कार नहीं मिल पाता, तो पूरे परिवार की निराशा बहुत कड़वाहट लिए होती है। और वे ज्यादा मर्माहत और अन्याय के मारे लगते हैं।

तब उस युवा व्यक्ति को और उसकी भारत माता को यही लगता है कि अब दूसरा कोई विकल्प नहीं है। पर, जिस देश में काम करने के अपार अवसर हों और जो देश अपने युवकों के दिमाग और हाथों से काम लेना चाहता हो, उस देश के लोग परंपरा और गर्व के भाव के कारण अंधे और बहरे बनकर उसे देखने तथा सुनने की परवाह नहीं करते हैं।

सर गुरुदास बनर्जी इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं– [9] 'वर्ण व्यवस्था ने उच्च जातियों में कृषि, तकनीकी और व्यापारिक क्षेत्रों में काम करने के प्रति पूर्वाग्रह भर दिया है।'

आज के समय में विश्वविद्यालय से निकलने वाले स्नातक की डिग्री लेने वाले ऐसे युवक हैं, जो उच्च जाति के नहीं हैं। किन्तु, वे उच्च जातियों की प्रथाओं को मानने के लिए बहुत ज्यादा लालायित रहते हैं; क्योंकि शिक्षा का मूल्यवान पुरस्कार यही है कि उसकी इज्जत बढ़े। वे चाहे किसी भी जाति के हों। पर, सरकारी नौकरी से निराश होकर अपनी ऊर्जा का उपयोग वहां नहीं करेंगे; जहां उनके ज्ञान और शिक्षा उनके असहाय भाइयों के लिए उपयोगी साबित हो सके। इस प्रकार का कोई रोजगार करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं और अपने परिवार पर सदा के लिए निठल्ले और निर्लज्ज बने रहते हैं।

एक युवक ने मुझसे कहा– 'मैं कला में स्नातक हूं। दो वर्ष हो गए, मुझे कोई नौकरी नहीं मिली है। मेरा भाई मेरी मदद करता है। वह स्नातक नहीं है। पर, जितना वेतन मैं पाने की आशा करता हूं, वह उसके एक-तिहाई वेतन पर काम कर सकता है।'

मजे की बात है कि कहने वाले उस युवक को यह कहते हुए कोई संकोच भी नहीं हुआ। डिग्री हासिल करने का प्रयास भी अपनी प्रतिष्ठा चमकाने के लिए किया जाता है। अक्सर लोग अपने नाम के आगे 'बी.ए. फेल' लिखते हैं और किसी को अजीब भी नहीं लगता। [10]

किन्तु, उन्हीं में एक दूसरे स्नातक युवक ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। इस युवक को भी सरकारी नौकरी नहीं मिली थी। उसने निराश होकर एक अमेरिकी व्यापारी से सहायता के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। उस अमेरकिन ने उसे जवाब में लिखा–

> 'तुम हमेशा वहां क्यों कोशिश करते हो, जहां तुम्हारी जरूरत नहीं है। और फिर यह जानकर कि वहां कोई जगह नहीं है, लज्जित और अपमानित क्यों होते हो? यह कैसे संभव है कि आप सारे लोग सरकारी क्लर्क बन जाएं? अगर तुम्हें सरकारी नौकरी नहीं मिलती है, तो तुम अपने गांव जाकर वहां स्कूल खोलने या खेती करने या गरीबों और बूढ़ों की स्वास्थ्य सेवा करने का काम क्यों नहीं करते? क्या यह काम करके तुम अपनी जीविका नहीं चला सकते?'

उस भारतीय युवक ने धैर्यपूर्वक जवाब दिया– 'निस्संदेह! किन्तु, आप भूलते हैं कि इस तरह का काम करना मेरी प्रतिष्ठा के खिलाफ है। मैं बी.ए. पास हूं। इसलिए यदि आप मेरी मदद नहीं करोगे, तो मैं आत्महत्या कर लूंगा।'

...और उसने आत्महत्या कर ली।

90 वर्ष पूर्व लार्ड मैकाले ने भी सरकार के पैसे से पढ़ने वाले भारतीयों के व्यवहार में इसी तरह की घटना का आभास कर लिया था। संस्कृत कॉलेज के पूर्व छात्रों ने उनकी समिति को जो प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया था, उसके संबंध में उन्होंने कहा था– [11]

> 'प्रार्थी छात्रों ने कहा है कि उन्होंने 10-12 साल कॉलेज में हिंदू साहित्य और विज्ञान की पढ़ाई की है और हमारे पास उसका प्रमाण-पत्र भी है। लेकिन, इस सबका क्या फायदा? हमें अपनी इस स्थिति के सुधरने की थोड़ी आशा भी नहीं है। हमारे अपने ही देशवासी भाई हमें उपेक्षा से देखते हैं और उनसे हमें किसी भी प्रोत्साहन और सहायता की आशा नहीं है। इसलिए, वे प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी सरकारी नौकरियां दी जाएं, जो भले ही उच्च गरिमा या उच्च वेतन की न हों; पर ऐसी हों कि उनको जीवित रख सकें।' वे कहते हैं– 'हमें जीवित रहने और अपनी उन्नति के लिए साधन चाहिए, जो हमें सरकार की सहायता के बिना नहीं मिल सकते। क्योंकि, हमें सरकार ने ही बचपन से सहारा दिया है और शिक्षित किया है।' वे अपने पत्र में बहुत भावुक होकर कहते हैं– 'उन्हें मालूम है कि सरकार की यह मंशा कभी नहीं हो सकती कि वह हमें शिक्षित करने के बाद उपेक्षित और बेसहारा छोड़ दे।'

यह प्रार्थना-पत्र सरकार के विरुद्ध यह शिकायत है कि उसकी उच्च शिक्षा ने उनका नुकसान किया है। ...और इस पर मैकाले टिप्पणी करते हैं–

> 'मुझे इसमें संदेह नहीं है कि उनका कहना सही है। क्योंकि, हम अवश्य ही उस धन को बचा सकते थे, जो इन लोगों को शिक्षा देकर बेकार और अभागा बनाने में खर्च किया। निश्चित रूप से लोगों पर इस तरह खर्च न किया जाए कि वह जनता पर भार बन जाए और राज्य को इसकी कम कीमत चुकानी पड़े।'

एक सदी पहले के संस्कृत विद्वान हों अथवा आज के बी.ए. उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण शिक्षित—दोनों पर समान नियम लागू होता है। हालांकि, पहले जो शिकायत की भावना थी, उसमें अब कड़वाहट आ गई है।

संपूर्ण भारत में विश्वविद्यालय से हर वर्ष निकलने वाले स्नातकों को नौकरी उपलब्ध न कराने के लिए राजनीतिक और बुद्धिजीवी लोग सरकार पर दोष लगाते हैं। इस आधार पर भारतीय भद्रपुरुष भी—जिसमें उच्च स्तर के राजनेता शामिल हैं—जोर-शोर से यही आरोप लगाते हैं।

वे बारम्बार कहते हैं– 'सरकार विश्वविद्यालय चलाती है। वही इसका सारा खर्च वहन करती है। फिर हमसे फीस लेने का क्या मतलब है? जब हमें वह चीज ही नहीं मिल रही है, जिसके लिए हम शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस सरकार का नाश हो! आओ, हम सब इसे हटा दें और उसके जाने से जो स्थान रिक्त हों, उन पर खुद को और अपने मित्रों को रख लें।'

अगर अमेरिका के येल या हार्वर्ड या लेलैंड स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालयों के चमकीले चमड़े पर छपी हुई सनदों को वहां के छात्र हुण्डी की तरह ले जाकर सरकारी कोषागार में प्रस्तुत करें और कोषागार वाले उसे भुनाने से मना कर दें और वे (छात्र) इसके विरोध में काम बंद करके सरकार के विरुद्ध आंदोलन को अपना व्यवसाय बना लें, तो उन पर अमेरिका की जनता हंसेगी। यह स्थिति अभी यहां पैदा नहीं हुई है।

---

[1] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनीज, पृष्ठ-376
[2] वही, पृष्ठ-376, 377
[3] ए बायोग्राफिकल स्केच ऑफ डेविड हेयर, प्यारे चन्द मित्र, कलकत्ता, 1877, राजा राममोहन रायज लेटर टू लॉर्ड एमहर्स्ट
[4] मिनट ऑन एजुकेशन, टी. बी. मैकौले, फरवरी 2, 1835
[5] डिस्पैच ऑफ सर चार्ल्स वुड, 1954
[6] देखिए, कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग रिपोर्ट, वॉल्यूम-1, चैप्टर-III तथा वॉल्यूम-II, चैप्टर-XVIII एवं दि एजुकेशनल डिस्पैच ऑफ 1854
[7] स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया, 1914-15 टू 1923-24, पृष्ठ-279
[8] देखिए, मि. थाइगराजायर (भारतीय), मैसूर के जनगणना अधीक्षक, सेन्सस ऑफ इंडिया, वॉल्यूम-1, पृ- 182, बौद्धिक विकास के साधन के रूप में अक्षरों का अनुसरण पूरी तरह सिद्धांतवादियों की कल्पना है।
[9] कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट, वॉल्यूम-III, पृष्ठ-161
[10] ये शब्द वस्तुत: बोलचाल में प्रयुक्त किए जाते हैं, मानो जैसे वे अपने आपमें एम.ए. अथवा पीएच.डी हों-जैसे कि 'स्कूल अब एक उत्साही बी.ए. अनुत्तीर्ण अध्यापक के अधीन है।' फिफ्टींथ एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि सोसाइटी फॉर दि इंप्रूवमेंट ऑफ दि बैकवर्ड क्लासेस। बंगाल एंड आसाम, कलकत्ता, 1925, पृष्ठ-12
[11] मिनट्स ऑन एजुकेशन, 2 फरवरी 1835

अध्याय **14**

दोनों के बीच संबद्धता

वर्ष 1918 और 1920 के बीच अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए भारत के सात बड़े प्रांतों में कानून बन गए थे। यह उस भारतीय राजनीति के प्रभाव की वजह से हुआ था, जो सैद्धांतिक तौर पर यह मानता था कि भावी लोकतंत्र की सफलता के लिए कम-से-कम मतदाताओं का साक्षर होना आवश्यक है।

लेकिन, आमतौर से इस कानून का पालन नहीं हो रहा है। [1] इसका एक कारण यह भी है कि जिस समय यह कानून पास हुआ, उसी समय सुधारों का सूत्रपात हुआ था। दो तरह की सरकारों का शासन शुरू हो गया था और इसके साथ ही सरकार का भारतीयकरण भी बढ़ रहा था। इन सुधारों के परिणामस्वरूप सरकार ने शासन के कुछ विभाग भारतीयों के हाथों में सौंप दिए थे। इसके चलते शिक्षा विभाग भी भारत के प्रांतों के मंत्रियों के हाथों में आ गया था, जो निर्वाचित विधान परिषदों के प्रति उत्तरदायी थे।

अब लोकमत के विरुद्ध शिक्षा को अनिवार्य करने का उत्तरदायित्व मंत्रियों पर था; जिसके लिए वे अगर अप्रिय तरीके अपनाते, तो वे जनता में अलोकप्रिय हो जाते। जिन कार्यों के लिए नगर पालिका परिषदें और भारतीय मंत्री अब तक सरकार पर आरोप लगाया करते थे, वे अब स्वयं उन कार्यों के लिए अयोग्य हो गए। कोई भी निर्वाचित पदाधिकारी स्कूलों को चलाने के लिए बजट की व्यवस्था करने और बच्चों को स्कूल भेजने के लिए असंतुष्ट जनता को समझाने के लिए तैयार नहीं हुआ। क्योंकि, उनकी ऐसी कोई इच्छा ही नहीं थी।

फिर अनिवार्य शिक्षा का अर्थ है कि वह नि:शुल्क होनी चाहिए। और इसका अर्थ है कि स्कूलों के लिए भवन बनाने, उनमें शिक्षकों की नियुक्ति करने तथा बिना किसी शुल्क के समस्त बच्चों की पढ़ाई की जिम्मेदारी लेने के लिए पर्याप्त धन चाहिए, जो देश में जनता पर कर लगाने से ही आएगा।

पंजाब विधायिका में हिंदू सदस्यों ने अनिवार्य शिक्षा के कानून में यह संशोधन करने की मांग की थी कि अछूतों को उसके प्रभाव से अलग रखा जाए। यह विचार कुलीन वर्ग के अनुकूल था, परंतु ब्रिटिश अधिकारियों के कठोर रुख ने इस विचार को विफल कर दिया। क्योंकि, अंग्रेज महाराजा सामाजिक स्तर पर किसी भी वर्ग के लिए सार्वजनिक शिक्षा में एकाधिपत्य स्वीकार नहीं करते। [2]

सरकार ने तो यह किया। पर, भारतीयों के अधिकांश प्रभावी हथियार नकारात्मक हैं—जिनका काम है, काम न करने देना। पंजाब के दो नगरों में इन हथियारों का किस तरह प्रयोग हुआ, उसका वर्णन निम्नलिखित है– [3]

> 'जबसे अनिवार्य शिक्षा का कानून लागू हुआ है, तबसे स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों में वृद्धि हुई है; जो मुलतान में 27 से बढ़कर 54 और लाहौर में 50 से बढ़कर 62 प्रतिशत हो गई है। किन्तु, इन नगरों में न तो दलित वर्गों के बच्चों की शिक्षा के लिए कोई प्रबंध किया गया है और न उन माता-पिता के विरुद्ध कोई कार्रवाई की गई है, जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते हैं। इसलिए, यह संभावना भी कम है कि निकट भविष्य में स्कूलों में छात्रों की और ज्यादा वृद्धि होगी।'

इससे साबित होता है कि उनके पास दलितों को दलित बनाए रखने के अनेक तरीके हैं। एक सरकारी रिपोर्ट [4] के अनुसार, संपूर्ण ब्रिटिश भारत में बालक-बालिकाओं के कुल स्कूलों की संख्या 1,68,013 है। जिनमें लगभग 70,00,000 बच्चे पढ़ते हैं। किन्तु, ब्रिटिश भारत में प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ने योग्य आयु के बच्चों की संख्या लगभग तीन करोड़ 65 लाख है। [5] इनमें 90 प्रतिशत बच्चे दूरदराज में फैले हुए हैं, जिनमें से प्रति समूह औसतन 40 बच्चे ही स्कूलों में उपस्थित होते हैं। [6] कठिनाइयों से भरे दूसरे देशों में जनता की शिक्षा में जो परेशानियां पैदा होती हैं, उसी तरह की परेशानियां इन बच्चों की शिक्षा में पैदा होती हैं। बहुत-सी कठिनाइयां ऐसी हैं, जैसे—सुविधाओं का सर्वथा अभाव, जो भारत के सिवा बाहर नहीं मिलता है। [7]

हम अमेरिकनों ने फिलीपींस में शिक्षा के लिए जो प्रयास किए हैं, हमें उन पर गर्व है और प्राय: भारत में भी उसे दृष्टांत के रूप में सम्मान के साथ देखा जाता है। इसलिए, यहां दोनों की तुलना रोचक हो सकती है। हमें याद आता है कि फिलीपींस में हमारा शिक्षा संबंधी कार्य यह देखकर बहुत कठिन हो गया था कि इस द्वीप के लोग 87 बोलियां बोलते हैं [8] और उनके बीच कोई संपर्क भाषा नहीं है। किन्तु, इसके विपरीत भारत में 220 भाषाएं बोलने वाले लोग हैं [9] और उनके बीच भी बोलचाल की कोई समान भाषा नहीं है।

फिलीपींस में दूसरी समस्या यह थी कि हमारी अमेरिकन लिपि को छोड़कर उनकी अपनी कोई लिपि नहीं थी। किन्तु, भारत में 50 तरह की लिपियां प्रचलन में हैं, जिनमें हरेक में 200 से 500 तक अक्षर हैं और उनके बीच में इतना अंतर है कि उन्हें समझने में दिक्कत आती है।

फिलीपींस की ही तरह भारत में भी कोई सामयिक साहित्य या जनता के हित का साहित्य उपलब्ध नहीं है; जबकि दोनों देशों में बहुत-सी बोलियों का भी अपना कोई साहित्य अस्तित्व में नहीं है। इसलिए, फिलीपींस और भारत—दोनों देशों—में जो शिक्षा स्कूल में दी जाती है, उसका घर में कोई उपयोग नहीं होता। और इस शिक्षा पर धन तथा श्रम बर्बाद जाता है।

फिलीपींस में किसी तरह की सामाजिक पाबंदियां नहीं हैं। न कोई जातीय भेदभाव है; सिवाय इसके कि वहां धनी और निर्धन तथा शोषक और शोषित का भेद है। किन्तु, भारत में लगभग तीन हजार जातियां हैं, जो हिंदुओं की तीन-चौथाई जनसंख्या को घृणित रूप से आपस में विभाजित किए रहती हैं। [10]

फिलीपींस में देशी शिक्षकों की योग्यता के विषय में चाहे जो कहा जाए, विशेषकर अंग्रेजी के शिक्षकों के विषय में। पर, वे सभी स्त्री-पुरुष अपने पूरे उत्साह से दूर-दराज के छोटे-छोटे गांवों में जाकर—कम-से-कम दो या तीन साल तक वहां रहकर—काम करते हैं। किन्तु, इसके विपरीत भारत में कोई भी शिक्षित व्यक्ति गांवों में काम करना नहीं चाहता। इसलिए, यहां के गांव शिक्षकों के लिए तरसते हैं।

फिलीपींस की जनता में शिक्षा के लिए भूख है, जिसे हासिल करने के लिए वह हर तरह का कष्ट सहने के लिए तैयार रहती है। वहां धनी फिलीपींस के लोग प्राय: अपने इलाकों में स्कूल कायम करने के लिए उदारतापूर्वक दान भी देते हैं। किन्तु, इसके विपरीत भारत की जनता में लड़कों की शिक्षा के लिए भी कोई उत्साह नहीं है; जबकि लड़कियों की शिक्षा के तो वे विरोधी ही हैं। और इसी उदासीनता की वजह से यहां न कोई जनसमूह और न उच्च वर्ग शिक्षा के लिए दान देता है।

निस्संदेह भारत में ब्रिटिश शासन ने अपनी शैक्षिक नीतियों के निर्धारण में भारी गलतियां की हैं। उन गलतियों की प्रकृति जानने के लिए फिलीपीन द्वीप में शिक्षा पर मोनरो सर्वे बोर्ड की रिपोर्ट पढ़ी जा सकती है। [11] जो नीतियां भारत में ब्रिटिश-गलतियों के रूप में प्रसिद्ध हैं;

वे वही नीतियां हैं, जिन्हें हमने स्वयं इन्हीं कारणों से अपने फिलीपींस के क्षेत्रों को शिक्षित करने के लिए अपनाया था। हालांकि, खराब परिणामों के लिए आलोचना करना काफी आसान होता है; पर एक ही तरह के कार्य से बहुत-से निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं।

1858 में रानी विक्टोरिया ने भारत सरकार का नियंत्रण अपने हाथों में लेने के बाद घोषणा की थी कि– [12]

> 'जहां तक हो सकता है हमारी समस्त प्रजा को—चाहे वह किसी भी जाति और धर्म की हो—योग्यता के आधार पर नौकरियां दी जाएं और उनके साथ कोई पक्षपात नहीं किया जाए।'

ठीक यही बात अमेरिका के प्रेसीडेंट मेककिनले ने फिलीपींस कमीशन के अध्यक्ष विलियम एच. टाफ्ट को अपने निर्देशों में कही थी– [13]

> 'फिलीपीन द्वीप के वासियों को अपने स्थानीय मामलों का प्रबंध करने के लिए उनकी योग्यता के अनुसार पूरा अवसर दिया जाएगा। और उनकी क्षमताओं तथा कार्यप्रणाली के आधार पर कानून, शांति और राजभक्ति को ध्यान में रखकर ही उन्हें अवसर दिए जाएंगे।'

दोनों देशों की जनता पर इन घोषणाओं का समान प्रभाव पड़ा। इसलिए, नौकरी चाहने वाले अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग ने उसी तरह की शिक्षा हासिल करने में रुचि दिखाई, जिससे उन्हें जल्दी नौकरी मिल जाए।

ब्रिटेन ने—जैसा कि हम देख चुके हैं—भारतीय शिक्षा के विकास के लिए देशी ढंग की शिक्षा का एक दूसरा ही रास्ता अपनाया। किन्तु, उसने भारतीयों के दबाव में आकर शीघ्र ही अपनी पहली नीति को त्याग दिया। [14] कारण? भारतीयों की अहंवादी मानसिकता को जाने बिना ही ब्रिटेन ने यह विश्वास कर लिया था कि पहले से शिक्षित भारतीयों को आगे बढ़ाने से दूसरे लोगों को शिक्षित करने में उसको मदद मिलेगी। पर, उसका विश्वास गलत निकला और शिक्षितों से शिक्षा के प्रसार में कोई मदद नहीं मिली। इसलिए, सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी।

इधर, अमेरिका ने फिलीपींस के युवकों को प्रेसीडेंट मेकफिनले के निर्देशों के अनुसार शिक्षा देना शुरू कर दिया। उसी समय हमने अपने एशियाई युवकों के खाली दिमागों को भरने के लिए अपने लोगों का इतिहास और साहित्य पढ़ाना शुरू कर दिया और इस परहित में यह भूल गए कि इससे उनके दिमागों में कितनी गड़बड़ी पैदा हो जाएगी।

फिलीपींस के लोग अपनी चालू जुबानों से स्वतंत्रता के नए शब्दों को बोलना सीख गए थे। किन्तु, उनका अर्थ समझने के लिए उनके पास योग्यता नहीं थी। नए शब्दों के नशे में वे यह भूल गए कि पेट्रिक हेनरी और विटनेजमोट के समय से अमेरिका की स्वतंत्रता के समय तक एक स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण करने में ग्रेट ब्रिटेन के लोगों को पूरे एक हजार वर्ष का कठिन परिश्रम करना पड़ा था। इसके विरुद्ध अमेरिका के नए क्षेत्र फिलीपींस के लोग एक ही छलांग में स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहते थे।

इसलिए, उन्होंने पेट्रिक हेनरी की विजय को ढाल बनाकर अमेरिका से कहा– 'हमें या तो आजादी दो या मार दो।'

इसके उत्तर में प्रेसीडेंट विल्सन ने कहा– 'स्वराज कोई ऐसी चीज नहीं है, जो किसी जनता को दी जा सके। किसी जनता को कोई अन्य आत्म-संयम नहीं दे सकता, जो परिपक्व होने पर प्राप्त होता है।' [15] किन्तु, जातीय भेदभाव के अनुभवों से रहित दिमागों में ये बातें कोई असर पैदा नहीं करती हैं। क्योंकि, शब्दों का निर्माण तो लोगों के जीवन-इतिहास से होता है।

किन्तु, जिस तरह फिलीपींस के लोगों का कोई जीवन-इतिहास नहीं है; उसी तरह हिंदुओं का भी नहीं है। क्योंकि, आधुनिक हिंदुओं और प्राचीन हिंदुओं का रचनात्मक ऐतिहासिक युग उनसे प्रभावी रूप से उतना ही असंबद्ध है, जितना पैरिक्लीज का युग आधुनिक न्यूयॉर्क के यूनानी लोगों से। इसलिए लोकतंत्र की चेतना को ग्रहण करने की शक्ति न फिलीपींस के लोगों में है और न भारत के लोगों में।

फिलीपींस और भारत के स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में एशियाई लोगों के दिमागों में लगातार पश्चिमी राजनीतिक और सामाजिक इतिहास के पाठ भरे जाते हैं। एशियाई लोगों ने उसे ग्रहण तो कर लिया है, पर अपनी पृथक विरासत के कारण उसके अजीब अर्थ लगा लिए हैं। परिणाम भी दोनों जगह एक-सा आया है। मि. गांधी कहते हैं– 'हमें जो शिक्षा मिली है, उसने या तो हमें क्लर्क बनाया है या मंच पर भाषण देने वाला।' [16]

किन्तु मि. गांधी कुछ और भी कहते हैं, उसे भी सुनिए– [17]

> 'शिक्षा का सामान्य अर्थ अक्षर ज्ञान है। लड़कों को पढ़ाना, लिखाना और गणित सिखाने को प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है। एक किसान ईमानदारी से अपनी रोटी कमाता है। वह भी दुनिया का सामान्य ज्ञान रखता है। वह अच्छी तरह जानता है कि उसे अपने माता-पिता, अपनी पत्नी, अपने बच्चों और अपने गांव वालों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वह नैतिकता के नियमों को भी समझता और मानता है। किन्तु, वह अपना नाम नहीं लिख सकता। उसे अक्षर ज्ञान देकर आपका उससे क्या कराने का मकसद है? क्या इससे आप उसकी खुशियों में एक इंच भी बढ़ोतरी कर सकेंगे?
>
> 'इसका साफ मतलब है कि अब शिक्षा को अनिवार्य बनाने की आवश्यकता नहीं है। हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति पर्याप्त है। हम आपके (आधुनिक) स्कूलों को निरर्थक समझते हैं।'

इस पर स्वराज नेता लाला लाजपत राय की व्यंग्यात्मक टिप्पणी इस प्रकार है– [18]

> 'भारत में कुछ अच्छे लोग हैं, जो कहते रहते हैं कि उनके देश का कल्याण इसमें है कि वह औरों से अलग शांत और एकांत जीवन व्यतीत करता रहे। वे प्राचीन अतीत के अच्छे काल के लिए मरे जाते हैं और चाहते हैं कि वे दिन वापस आ जाएं। वे ऐसी ही बकवास से भरी हुई किताबें बेचते हैं और ऐसी ही भावुकता से भरी कविताएं और गीत लिखते हैं। मैं नहीं जानता कि वे मूर्ख हैं या देशद्रोही। किन्तु, मैं अपने देशवासियों को ऐसे लोगों और इस तरह के साहित्य से सावधान रहने के लिए सचेत करता हूं। इस देश को भी जीवन और विचार में अन्य आधुनिक देशों के स्तर पर ही लाने के लिए प्रयास करना होगा।'

किन्तु, ब्रिटिश भारत के 22,20,00,000 भारतीय ग्रामीणों को—जिनकी देश में 92 प्रतिशत संख्या है—साक्षर बनाकर देश को आधुनिक देशों के स्तर पर लाने का विशाल कार्य करने का भार कौन लेने को तैयार है? उस भारतीय निर्वाचक मंडल के निर्माण के कार्य की शुरुआत कौन करेगा, जिसकी बुद्धि पर उत्तरदायी सरकार का कामकाज निर्भर करेगा?

कुछ ही समय पहले अमेरिकन मिशन बोर्ड ने—जिसे अमेरिका से काफी आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी और जो भारत में नए कार्य की शुरुआत करना चाहता था—कुछ प्रौढ़ भारतीय बुद्धिजीवी नागरिकों की एक सभा की और उनसे भविष्य के प्रयासों के बारे में राय मांगी थी। उन बुद्धिजीवियों ने आपस में परामर्श करने के बाद यह राय दी कि संपूर्ण उच्चतर शिक्षा (जो नगर का कार्य है) और संपूर्ण धन का अधिकार उन्हें सौंप दिया जाए।

मिशन वालों ने पूछा– 'तब क्या आपके कहने का मतलब यह है कि भारत में अमेरिकियों की कोई आवश्यकता नहीं है?'

भारतीयों ने कहा– 'हरगिज नहीं! आप अमेरिकी केवल गांवों पर ध्यान दें।'

जब मैंने यह बात सिविल सेवा के 30 वर्षीय अनुभवी ब्रिटिश अधिकारी को बताई, तो उसने जवाब दिया– 'यह बात आपके लिए शायद संदिग्ध लगती है। पर, हम इस काम में अपना जीवन खपा देने के बाद जानते हैं कि इसका उत्तर क्या है? हमें जितनी जल्दी हो सके, अधिक-से-अधिक शिक्षा देने का काम करते रहना चाहिए। ताकि, शिक्षा का व्यापक विस्तार हो जाए। तब वे लोग, जो आज योग्यता और चरित्र के बिना ही केवल शिक्षा के बल पर अधिकार मांगते हैं, खामोश हो जाएंगे।

---

[1] उदाहरण के लिए, 'बंगाल विधानसभा ने मई 1919 में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कानून पास किया था, पर अभी तक प्रांत के एक हिस्से में भी इस पर अमल नहीं हुआ।' प्राइमरी एजुकेशन इन बंगाल, लंदन टाइम्स, एजुकेशनल सप्लीमेंट, 13 नवंबर 1926, पृष्ठ-484। बड़ोदा के नायब दीवान मि. गोविन्दभाई एच. देसाई ने अपनी एक ताजा रिपोर्ट में लिखा है कि यद्यपि उस राज्य में 20 साल से अनिवार्य शिक्षा का कानून है। तथापि उसकी साक्षरता का प्रतिशत ब्रिटिश प्रभाव वाले पड़ोसी जनपदों से भी कम है, जहां काफी पहले शिक्षा आरम्भ हो गई थी; परंतु जहां अनिवार्य शिक्षा अभी तक नहीं है।
[2] देखिए, पूर्वोक्त, पृष्ठ-137
[3] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, आठवीं पंचवर्षीय समीक्षा, वॉल्यूम-1, पृष्ठ-108
[4] स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया, 1914-15 से 1923-24, पृष्ठ-263
[5] वही, पृष्ठ-24
[6] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, वॉल्यूम-II, पृष्ठ-119
[7] देखिए, विलेज एजुकेशन इन इंडिया, पृष्ठ-176, 177
[8] पापुलेशन ऑफ दि फिलिपीन आईलैंड्स इन 1916, एच. ओटले बेयर, मनीला, 1917 पृष्ठ-19, 20
[9] सेन्सस ऑफ इंडिया, 1921, वॉल्यूम-1, पार्ट-1, पृष्ठ-193
[10] ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ-37
[11] ए सर्वे ऑफ दि एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दि फिलीपींस, मनीला, प्रिंटिंग ब्यूरो, 1925
[12] फॉरशैडोड इन लॉर्ड हार्डिंग्स रिजोल्यूशन ऑफ 1844
[13] लेटर फ्रॉम दि सेक्रेटरी ऑफ वार, वाशिंगटन, 7 अप्रैल,1900
[14] दि हार्ट ऑफ आर्यवर्त, दि अर्ल ऑफ रोनाल्डशे, लंदन, 1925, चैप्टर्स-II तथा III
[15] कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स, वुड्रो विल्सन, न्यूयॉर्क 1908, पृ- 52, 53
[16] लेखिका का मार्च 1926 में अहमदाबाद में दिया गया बयान।
[17] इंडियन होमरूल, एम. के. गांधी, गणेश एंड कंपनी, मद्रास, 1924, पृष्ठ-97, 98, 100 एवं 113
[18] दि प्रॉब्लम ऑफ नेशनल एजुकेशन इन इंडिया, जार्ज एलैन एंड अनविन, लंदन, 1920, पृष्ठ-79, 80

अध्याय **15**

शिक्षा देने से इनकार क्यों?

भारत में अशिक्षा का कारण गरीबी को माना जाता है। यह वैसा ही सिद्धांत है, जैसे यह कहना कि मुर्गी और अंडे के बीच कौन पहले आया? किन्तु, भारतीय राजनीतिक आलोचक अशिक्षा की उच्च दर के लिए जान-बूझकर शासन सत्ता की अक्षमता को दोष देने के आदी हो गए हैं। इस प्रकार स्वराज आंदोलन के नेता लाला लाजपत राय कहते हैं– 'वायसराय की सरकार ने अब तक हमारी जनता की प्राथमिक शिक्षा पर तीन रुपए भी खर्च करने से इनकार कर दिया है। [1] और मि. मोहम्मद अली जिन्ना आरोप लगाते हुए पूछते हैं– 'शिक्षा देने से इनकार क्यों?' [2]

किन्तु, इन नेताओं के विचारों का समर्थन करने से पूर्व। या भारत की गरीबी या लोगों को अशिक्षित रखने में ब्रिटेन के स्वार्थ का निर्णय करने से पूर्व, अभी हाल में परखे गए दो बिंदुओं और प्रमाण के लिए एक तीसरे बिंदु को अच्छी तरह ध्यान में रखना होगा।

पहला, ब्रिटिश भारत की 247 मिलियन आबादी में लगभग 50 प्रतिशत स्त्रियां हैं। भारत के लोग—जैसा कि सब जानते हैं—स्त्रियों की शिक्षा के घोर विरोधी हैं। और इसीलिए, ब्रिटिश सरकार—कुछ अलग सोच रखने वाले भारतीयों और ईसाई मिशनरियों के संयुक्त प्रयास से भी—स्त्री जाति में दो प्रतिशत साक्षरता लाने में सफल नहीं हुई है। परंतु, वे ब्रिटिश भारत की शिक्षित स्त्रियों की संख्या की गणना करते हुए, उसमें 12,10,00,000 के अनुमानित आंकड़े तक पहुंच जाते हैं।

दूसरा, ब्रिटिश भारत की जनसंख्या में 60 मिलियन ऐसे लोग भी हैं, जो 'अछूत' कहे जाते हैं। [3] इस वर्ग की शिक्षा का विशाल हिंदू बहुमत अभी भी सक्रिय और प्रबल विरोध करता है। अछूतों की कुल संख्या में से उनकी आधी स्त्री आबादी घटाते हुए—जिसकी पहले से ही बड़ी संख्या है—अधिकृत आंकड़ों के अभाव में पांच प्रतिशत साक्षरता की कल्पना अछूत पुरुषों में की जा सकती है। तो भी 2,85,00,000 अन्य भारतीयों की अशिक्षा का खंडन सीधे बहुमत की इच्छा से किया जाता है।

संप्रति (इस समय) स्त्रियों और अछूतों की शिक्षा का विरोध कदाचित भी गरीबी के कारण नहीं किया जा रहा है। सामान्य और अछूत दोनों वर्ग की स्त्रियों की शिक्षा के लिए सरकार के प्रयासों का तीव्र विरोध उनके अपने ही लोगों के द्वारा किया जाता है।

निम्न आंकड़ों से सच्चाई स्पष्ट हो जाती है–

ब्रिटिश भारत में अशिक्षित लोग-

ब्रिटिश भारत में अशिक्षित लोग–	
महिलाओं की जनसंख्या.....	12,10,00,000
अशिक्षित अछूत पुरुषों की संख्या.....	2,85,00,000
योग	**14,95,00,000**
ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या.....	24,70,00,000

रूढ़िवादी हिंदुओं द्वारा स्वेच्छा से अशिक्षित बनाकर रखे गए ब्रिटिश भारत की जनसंख्या का प्रतिशत 60.53 है।

किन्तु, इन दो तथ्यों के अतिरिक्त जो तीसरा तथ्य प्रकट होता है, वह इतना बड़ा है कि उसे समझने के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि ब्रिटिश भारत की 90 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण और देहाती है।

जब तक गांव अशिक्षित रहते हैं, तब तक शिक्षा के अखिल भारतीय प्रतिशत का कोई महत्व नहीं है। इसलिए, जहां विश्व के सबसे कम प्रतिशत का कीर्तिमान है, वहां उसे बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयास करना होगा।

किन्तु, मानव जाति की आठवीं आबादी को—जो पांच सौ हजार गांवों में 10,94,300 वर्ग मील क्षेत्र में छितरी हुई है—प्राथमिक शिक्षा देने के लिए शिक्षकों की पूरी एक सेना चाहिए।

संप्रति, ऐसी सेना की भर्ती पर विचार करना एक समस्या है। क्योंकि, इस देश की कोई भी स्त्री नौकरी करने के लिए उपलब्ध नहीं है। आज के भारत में ग्रामीण स्कूल के लिए कोई मेम मौजूद नहीं है और न हो सकती है।

यदि हम अपनी स्त्रियों और लड़कियों की सेना की सहायता से पूरी तरह वंचित रहे होते तो—कनाडा से गल्फ तक और अटलांटिक से कैलिफोर्निया तक—ग्रामीण अमेरिका के बच्चों को पढ़ाने के अपने प्रयासों में सफल नहीं होते।

किसी भी पाश्चात्य देश ने इस कठिन अवस्था में अपनी जनता को शिक्षित करने का प्रयास कभी नहीं किया है। विश्व का समृद्ध राष्ट्र भी इस स्थिति में हैरान हो जाता।

भारत की स्त्रियां भारतीय बच्चों को क्यों नहीं पढ़ा सकतीं? इस सवाल पर कुछ शब्दों में फिर से बताना आवश्यक है। वस्तुत: बच्चों वाली आयु की भारतीय स्त्रियां बिना विशेष संरक्षण के भारतीय पुरुषों के बीच जाने का जोखिम नहीं उठा सकतीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अगर कल को भारतीय स्वराज स्थापित हो गया और देश में गरीबी की जगह समृद्धि आ गई, तो भी जब तक वह अछूतों और स्त्रियों के बारे में अपने विचारों को नहीं बदलेगा, तब तक वह अशिक्षितों के देश के रूप में बना रहेगा।

ग्रामीण स्कूलों में शिक्षिका के रूप में स्त्रियों की अनुपलब्धता के विषय में जो बात मैंने ऊपर कही है, वह संयुक्त प्रांतों—पंजाब की अपेक्षा—

बंगाल और बंबई प्रेसीडेंसी तथा संपूर्ण मद्रास में अभी भी सत्य है। जो मैं हिंदू तथा मुस्लिम अधिकारियों और शिक्षकों के मुंह से, ईसाई भारतीय शिक्षकों तथा पादरियों से, अमेरिकन तथा अन्य मिशन प्रमुखों से और जिम्मेदार ब्रिटिश प्रशासकों, शिक्षा-शास्त्रियों, चिकित्सकों तथा पुलिस से पता कर चुकी हूं। जहां तक मैं जानती हूं, इसका अधिकृत लेखाजोखा कहीं नहीं है। और न यह विधान मंडलों में कोई उल्लेखनीय विषय है। सच तो यह है कि यह एक भारतीय के लिए साधारण-सी स्वाभाविक बात है। जबकि, भारत पर राज करने वाले गोरे व्यक्ति ने सोच-समझकर इन बिंदुओं पर खामोश रहने की नीति को अपना लिया है। जो ऊपरी उत्तेजना से बचने की नीति है। पर, वह मामले की जड़ें तलाशने में लगा हुआ है।

इस संबंध में आपको बताने के लिए मेरे पास विचार नहीं हैं। एक उच्च पदस्थ, सशक्त राष्ट्रवादी और आजीवन समाज-सुधारक भारतीय ने कहा —'यह हमारे लिए इतना स्पष्ट है कि हम इसे कोई महत्व नहीं देते हैं। स्त्रियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण एक नेकनामी और विवाह योग्य आयु की स्त्री को परिवार के संरक्षण से अलग रहने की आज्ञा नहीं देता है। जिन स्त्रियों ने बाहर जाकर गांव में पढ़ाने का दुस्साहस किया है और आमतौर पर ऐसी स्त्रियां ईसाई हैं, उनका जीवन कठिन रहा हैं। वे अपने पुरुष साथियों के आग्रहों को स्वीकार करके ही अपनी जीविका को सुखमय बना सकती हैं। यही बात स्त्री नर्सों पर भी लागू होती है। चूंकि अब वे भी भारतीय हैं, इसलिए जब वे विभाग के प्रमुख अधिकारियों से अपनी तकलीफों की अपील करती हैं, तो नियम के अनुसार उस कष्टप्रद सीट से उनका सिर्फ स्थानांतरण कर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि हम भारतीय पुरुष इस संभावना में विश्वास नहीं करते कि कोई स्त्री स्वतंत्र-चेता और सच्ची भी हो सकती है। हम इसे प्रकृति के ही विरुद्ध मानते हैं। दोनों एक-दूसरे के विपरीत शब्द हैं।'

जैसा कि याद होगा कि ब्रिटिश, मुस्लिम और हिंदू शिक्षाविदों को शामिल करके बनाए गए कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने—जिसमें हिंदू प्रतिनिधियों को उनके प्रतिष्ठित परिवारों से लिया गया था—निम्नलिखित विचार व्यक्त किए थे– [4]

> 'जिस सत्य का सामना करना है, वह यह है कि जब तक बंगाली पुरुष सामान्यत: उन स्त्रियों के प्रति—जो जनाना (परदे) में नहीं रहती हैं—सम्मान और रक्षा का भाव नहीं सीखते हैं, तब तक स्त्रियों का शिक्षिका बनना असंभव है।'

यदि क्षेत्र विशेष तक सीमित 'बंगाली' विशेषण को वापस लिया जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि आयोग का कथन पूरे भारत पर ठीक तरह लागू हो जाता है। मैसॅन अलकॉट संपूर्ण देश की बात करते हैं, जब वे यह कहते हैं– [5]

> 'सामाजिक बाधाओं और खतरों के दृष्टिकोण से महिलाओं के लिए तब तक गांवों में जाकर पढ़ाना संभव नहीं होगा, तब तक कि उनके पति उनका साथ नहीं देंगे।'

शिक्षिकाओं के अभाव के कारण ग्रामीण इलाकों में लोकशिक्षा की 'प्राय: निराशाजनक स्थिति' से निपटने को लेकर मध्य प्रांत के लोक-शिक्षा के निदेशक रहे एक व्यक्ति कहते हैं– [6]

> 'ग्रामीण जीवन की सामान्य स्थितियां और पेशेवर अविवाहित स्त्रियों के प्रति लोगों का व्यवहार अब तक जैसा देखा गया है, वह आमतौर पर असहिष्णु है।'

ग्रामीण क्षेत्रों में कोई भी भारतीय लड़की अकेले पढ़ाने नहीं जा सकती। अगर वह अकेले जाती है, तो वह पतित हो जाती है। उत्तर भारत के एक विशाल अमेरिकी मिशन कॉलेज के प्रमुख ने यह बात कही। यह प्रमुख विश्व की एक व्यापक अनुभवी महिला थी और वस्तुत: अज्ञान तथा पूर्वाग्रह से मुक्त थी। उसने आगे कहा– 'यह बात हतोत्साहित करने वाली है कि आप इस कैंपस में कक्षा और कक्षा के बीच घूम रही जिन युवतियों को देख रहे हैं, उनमें से एक का भी उपयोग भारत को शिक्षित बनाने के महान कार्य में नहीं किया जा सकता है। देश की असाधारण आवश्यकता को पूरा करने के लिए कोई भी गांवों में नहीं जाएगी। किसी में भी जोखिम उठाने का साहस नहीं। क्योंकि, यह निश्चित रूप से जोखिम का काम है। और ये ही वे लोग हैं, जो स्वराज की मांग कर रहे हैं।' [7]

'जब तक गांवों में शिक्षिकाओं को सुरक्षित आवास उपलब्ध नहीं कराए जाएंगे और उनके साथ प्रौढ़ तथा निकट संबंधियों का रहना सुनिश्चित नहीं किया जाएगा, तब तक स्त्रियों को शिक्षक बनाना अपेक्षाकृत व्यर्थ और क्रूर भी होगा।' कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने व्यापक सर्वे के बाद यह निष्कर्ष निकाला था। [8]

और ब्रिटिश भारत के बारे में एक जांच में शामिल लोगों में एक वाई.एम.सी.ए. के भारतीय अध्यक्ष मि. कांकरायन टी. पॉल अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं– [9]

> 'शिक्षिकाओं की पर्याप्त उपलब्धता के रास्ते में सामाजिक बाधाएं कितनी उग्र हैं, इसे सब अच्छी तरह जानते हैं और यह देश के हित के अत्यंत खिलाफ है। गांवों में चलने वाले प्राथमिक स्कूलों का सारा कार्य वास्तव में स्त्रियों का ही कार्य है। पर, सामाजिक स्थितियां ऐसी हैं कि कोई भी अकेली स्त्री इसे नहीं कर सकती। अगर विशाल सामाजिक परिवर्तन नहीं होता है, तो शिक्षिकाओं के अभाव से यह कार्य अत्यंत मुश्किल है।'

इन परिस्थितियों में अगर कोई महिला शिक्षिक बनना चाहती है, तो उसकी सामाजिक निंदा होगी; इतना तो तय है। भारतीय सामाजिक स्थितियों से लंबे समय से गहराई से जुड़े एक लेखक लिखते हैं– [10]

> 'ऐसा कहा जाता है कि लोगों में यह समझ है कि इस पेशे में शीलवान स्त्रियां आने की कोशिश नहीं कर सकतीं। प्रथम दृष्टया, यह तो जानना कठिन है कि ऐसी सोच किस तरह बनी। परंतु, इसके समर्थन में भारतीय दलील का आधार संभवत: इस कारण से है कि स्त्री के जीवन का उद्देश्य विवाह करना है। जब उसका विवाह हो जाता है, तो गृहस्थी के कार्य उसको पढ़ने-पढ़ाने से रोक देते हैं। यदि वह पढ़ाने जाएगी, तो गृहस्थी के कार्य नहीं कर सकती और उन पर ध्यान भी नहीं देगी। यदि उसे गृहस्थी के कामों को नहीं करना है, तो उसे अविवाहित रहना होगा। किन्तु, अविवाहित स्त्रियां विवाहित स्त्रियों से बेहतर नहीं हैं। [11] यदि वह अपनी गृहस्थी के दायित्वों की उपेक्षा करती है, तो वह दायित्व निभाने वाली स्त्रियों की अपेक्षा बिलकुल भी अच्छी नहीं है।'

इस दलील से भारत की उन 2,68,00,000 विधवाओं को इस कार्य में लगाने की संभावना बनती है, जिन्हें उनके मनहूस मठ से बाहर निकालकर सुखद सृजनात्मक कार्य में लगाने का प्रारूप बनाया जाना है। इस तरह के एक प्रस्ताव की संभावना पर वस्तुत: विचार हुआ है; कुछ प्रयास भी इस दिशा में जारी हैं और विधवाओं की एक निश्चित संख्या को प्रशिक्षित भी किया गया है। किन्तु, फिर भी उनकी उपयोगिता में रूढिवादी संप्रदाय के इस धार्मिक विश्वास के कारण कि दुर्भाग्य और अनिष्ट विधवा का जन्मजात गुण है; प्राय: निषेधात्मक बाधाएं हैं। किन्तु, जैसा कि एक अधिकारी विद्वान ने पूर्व में उद्धृत किया है– [12]

> 'एक अत्यंत गंभीर विरोध उन स्त्रियों की सुरक्षा का है, जो पारिवारिक दायरे के बाहर काम करती हैं। केवल मिशन के आवासों और स्कूलों में ही सतर्क देखरेख के अंतर्गत वे काम कर सकती हैं, जहां उनके खिलाफ किसी भी तरह के अपराध या दुर्व्यवहार की कोई आशंका नहीं होती। इस आम आंदोलन में विधवाओं की भूमिका गौण हो सकती है।'

दूसरे शब्दों में युवा विधवा स्कूल शिक्षिका को गांवों में उसी शैतानी लोभ, उसी दबाव और दिखावे की शिष्टता और पीछे निंदा का सामना करना पड़ता है; जिससे कोई भी अकेली लड़की जूझती है।

इस प्रकार आज शिक्षण-कार्य को एक सामाजिक पतन के रूप में देखे जाने की मानसिकता का और भी विस्तार हो गया है। जैसा कि एक भारतीय लेखक लिखता है– [13] 'यह मानसिकता उन स्त्रियों के विरुद्ध है, जो आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर हैं और वह उनके लिए गृहपत्नी की अपेक्षा किसी भी अन्य जीविका को असंभव बना देती है।'

किन्तु, फिर भी नियम के अपने अपवाद हैं। वर्ष 1922 में ब्रिटिश भारत की 12,35,00,000 महिलाओं में से 4,391 महिला शिक्षक प्रशिक्षण स्कूलों में प्रशिक्षण प्राप्त कर रही थीं। पर इनमें से लगभग आधी 2,050 स्त्रियां भारतीय ईसाई समुदाय की थीं। [14] यद्यपि प्रशिक्षण लेने वाला यह समूह कुल आबादी का केवल 1.5 प्रतिशत ही है। और अत्यधिक रूप से इन थोड़े में से भी कुछ ही हैं, जो शिक्षित होकर अपने देश की महान आवश्यकता को पूरा करने के लिए सेवा करती हैं।

एक पेशेवर शिक्षक कहते हैं– [15]

> 'यह सर्वविदित है कि ईसाई तथा ब्रह्मो की अपेक्षा अच्छे घरों की भारतीय स्त्रियों को शिक्षिका के पेशे में प्रशिक्षण देने के लिए प्रेरित करना अत्यंत कठिन कार्य है। प्रशिक्षण प्राप्त स्त्रियों में से भी अधिकांश जरूरत की जगह जाने से इनकार कर देती हैं।'

संयोग से मैं महिला प्रशिक्षण स्कूलों का निरीक्षण करने से पूर्व भारतीय ग्रामीण जीवन को काफी कुछ नजदीक से देख चुकी थी। इसलिए जब मुझे यह अवसर मिला, तो मेरे मस्तिष्क में राष्ट्र की सेवा के लिए किसी भी योजना में ग्रामीण आवश्यकता को ज्यादा महत्व देने के उद्देश्य से ग्रामीण जीवन की स्थितियां ताजा हो गईं।

मैंने एक छात्र से पूछा– 'तुम किस उद्देश्य के लिए प्रशिक्षण ले रहे हो?'

'शिक्षक बनने के लिए,' –उसने सामान्य उत्तर दिया।

क्या तुम गांवों में जाकर पढ़ाओगे?'– मैंने फिर पूछा।

'ओह! बिलकुल नहीं।' जैसे यह नासमझी वाला अजीब प्रश्न हो।

'तब गांव के बच्चों को कौन पढ़ाएगा?'– मैंने फिर पूछा।

'ओह! यह काम तो सरकार को देखना चाहिए।' –उसने कहा।

'और सरकार बिना शिक्षकों के यह काम कर लेगी?'

'हम नहीं बता सकते। सरकार को प्रबंध करना चाहिए।' – उसने कहा।

स्पष्ट रूप से न तो वे स्वयं इसे अपना कर्तव्य समझते हैं और न अपने लोगों को इस काम के लिए प्रेरित करते हैं। सचमुच, उनकी मानसिक विरासत में ऐसी भावनाओं का कोई इतिहास नहीं है। क्योंकि, आत्मरक्षा की मानवीय प्रवृत्ति अवचेतन रूप से उनके विचार के क्षेत्र को पार करने से स्वतंत्र जीवन की धारणा को वर्जित कर देगी।

तब, इस मामले में अनेक व्यक्तियों, जैसे- मि. जिन्ना और लाला लाजपत राय [16] के विचारों में अधिक-से-अधिक वर्ग-भेद दिखाई देगा, जो उनके 'भयंकर विषवृक्ष' की जड़ और तने की अपेक्षा टहनी-पत्तों से संबंधित है।

अब उस ग्रामीण पर आते हैं, जो खुद किसान है और जो 'रैयत' कहलाता है। किसी को भी वह सामान्यत: मिल जाता है, परंतु गांव के स्कूल से उसका संबंध नगण्य होता है। जब-जब उसका लड़का उसके लिए उपयोगी हो सकता है—पशुओं की रखवाली या छिटपुट काम करने के लिए —वह बेधड़क उसे कक्षा में से उठा लाता है, जिससे स्कूल में उपस्थिति के मामले में एक पूर्ण अस्थिरता पैदा हो जाती है।

रैयत प्राय: गरीब होता है, जो बच्चों की सहायता के बिना अपने छोटे परिवार को जीवित नहीं रख सकता। वे (रैयत) इसी तरह उपार्जन कर सकते हैं। बीमारी—गेंडुए, मलेरिया और जन्मजात दुर्बलता—भी उनको स्कूल जाने से रोकने में बड़ी भूमिका निभाती है। यही नहीं, बहुधा गांव का ज्योतिष भी—जिसकी सत्ता हमेशा अंतिम होती है—बच्चे की जन्मपत्री में स्कूल जाने के लिए अशुभ-काल का खुलासा करता है। और जो भी हो, भारतीय किसान—सभी देशों के ठेठ किसान की तरह—नवाचारों के प्रति संदेहवादी होता है। उसके पुरखे निरक्षर थे।

इसलिए, वह स्वयं भी निरक्षर रहता है। [17] इसलिए उसे यह कौन बताएगा कि अक्षरों का ज्ञान अच्छा होता है? क्या अक्षरों का ज्ञान लड़के को एक अच्छा दुकानदार बनाएगा? या एक कुशल दस्तकार?

स्कूली पाठ्यक्रम व्यावहारिक रूप से पर्याप्त नहीं है। बहुत-से अंग्रेज इसे बेहतर बनाने के लिए काम कर रहे हैं। रैयत को ही देखो—अगर उसका लड़का अच्छी पढ़ाई कर लेगा, तो जमीन उसके लिए ज्यादा मूल्यवान हो जाएगी और उसके पास इतने साधन हो जाएंगे कि बेटे को स्कूल भेजने लगेगा। और जैसा कि एक हिंदू लेखक सर मि. विश्वेश्वरैया सरकार पर यह आरोप लगाने में जरा भी संकोच नहीं करते हैं कि वह भारत को पराधीन बनाए रखने के लिए आर्थिक शिक्षा को बदसूरत बना रही है। [18] मि. कंकार्यन टी. पॉल समिति, अपनी भारत व्यापी निरीक्षण पर आधारित रिपोर्ट में भिन्न साक्ष्य देते हुए कहती हैं– [19]

> 'अक्सर यह माना जाता है कि ग्रामीण स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा निम्न कोटि की होती है, जो व्यावहारिक रूप से पर्याप्त नहीं है। किन्तु, अनेक मामलों में अभिभावक का विरोध ठीक विपरीत होता है। वह अपने बेटे को कृषि पढ़ाना बिलकुल नहीं चाहता। कुछ अंश तक उसे यह लगता है कि वह इस विषय में शिक्षक से ज्यादा जानता है। क्योंकि, उस वक्त उसकी इच्छा यह रहती है कि उसके बेटे को शिक्षक या क्लर्क बनना चाहिए। यदि उसे यह पता चलता है कि इस तरह पढ़ने से उन्नति मिलना असंभव है, तो शिक्षा के लिए उसका सारा उत्साह खत्म हो जाता है। इस तरह वह शिक्षा के मानसिक और आध्यात्मिक मूल्य से अनभिज्ञ है।

यह अधिकृत रिपोर्ट आगे कहती है– 'इस आरंभिक चरण में पाठ्यक्रम में यह ऐसा परिवर्तन नहीं है, जिससे स्कूल की क्षमता या स्कूल-उपस्थिति में वृद्धि प्रभावित होने नहीं जा रही है। परंतु, इससे शिक्षकों की योग्यता और कुशलता पर प्रभाव पड़ेगा।'

---

[1] 1923-24 में भारत में शिक्षा पर जनता के धन का कुल व्यय, जिसमें—नगर पालिका, स्थानीय, प्रांतीय और केंद्रीय सरकार का योगदान शामिल है, 19.9 करोड़ रुपए पहुंच गया है। यह राशि इस कार्य के लिए बहुत कम है। फिर भी ब्रिटिश भारत के सकल राजस्व के संबंध में यह तुलनात्मक रूप से अन्य देशों के शैक्षिक आवंटन के मुकाबले प्रतिकूल नहीं है। देखिए, 'इंडिया इन 1924-25', पृष्ठ-278 तथा 'स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया', पृष्ठ-262
[2] 1925-26 में विधानसभा में नेशनलिस्ट पार्टी के नेता।
[3] सेन्सस ऑफ इंडिया, वॉल्यूम-1, पार्ट-1, पृष्ठ-225
[4] रिपोर्ट, वॉल्यूम-II, पार्ट-I, पृष्ठ-9
[5] विलेज स्कूल इन इंडिया, पृष्ठ-196
[6] दि एजुकेशन ऑफ इंडिया, आर्थर मेह्यू, लंदन, फेबर एंड वायेर, 1926, पृष्ठ-208
[7] लेखिका को दिया गया वक्तव्य, फरवरी 1926
[8] कलकत्ता यूनिवर्सिटी रिपोर्ट, वॉल्यूम-II पार्ट-I पृष्ठ-9
[9] विलेज एजुकेशन इन इंडिया, दि रिपोर्ट ऑफ ए कमीशन ऑफ इंक्वायरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922, पृष्ठ-98
[10] सेन्सस ऑफ इंडिया, ई.ए.एच. ब्लंट, सी.आई.ई, ओ.बी.ई., आई.सी.एस.,1911, वॉल्यूम- XV, पृष्ठ-260, 261
[11] सेन्सस ऑफ इंडिया, 1911, वॉल्यूम-XV, पृष्ठ-229 :- 'यह कहना सुरक्षित है कि 17 और 18 वर्ष की आयु के पश्चात् कोई लड़की अविवाहित नहीं रहती, सिवाय वेश्याओं के या उनके, जो कुष्ठ अथवा अंधता के रोग से ग्रस्त हैं। 20 वर्ष में वास्तविक अविवाहिताओं की संख्या बहुत कम है और कोई वृद्ध कुमारी तो विरल घटना ही है।' आयु के ये आंकड़े मुस्लिम स्त्रियों, अल्प ईसाई और ब्रह्मो समाज तत्त्व को शामिल करने के लिए ज्यादा प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें विवाह हिंदू बहुमत की अपेक्षा बाद में होते हैं।
[12] दि एजुकेशन ऑफ इंडिया, ऑर्थर मेह्यू, पृष्ठ-268
[13] रिकंस्ट्रक्टिंग इंडिया, सर एम. विश्वेश्वरैया, लंदन, पी.एस. किंग एंड संस, 1920, पृष्ठ-243
[14] प्रोग्रेस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, 1917-22, वॉल्यूम-II, पृष्ठ-14, 15
[15] क्विनक्वेनियल रिव्यू ऑफ एजुकेशन इन ईस्टर्न आसाम एंड बंगाल
[16] वही, पृष्ठ-199
[17] सरकार के ग्रामीण सहकारी ऋण आंदोलन के संबंध में प्रौढ़ शिक्षा अब पंजाब के खेतिहर किसानों में काम कर रहा है।
[18] रिकंस्ट्रक्टिंग इंडिया, पृष्ठ-258
[19] विलेज एजुकेशन इन इंडिया, पृष्ठ-20

अध्याय **16**

एक आदर्श परामर्श

एक प्रमुख भारतीय ने मुझे एक प्रतिष्ठित हिंदू जमींदार के बारे में बताया कि अपने जन्मस्थान के बारे में उनके क्या विचार थे?

शहर में अपने निजी पुस्तकालय में बैठकर, जहां दीवार के साथ लंबी कतारों में कानून की पुस्तकें करीने से रखी हुई थीं, उसने शुद्ध अंग्रेजी में कहा– 'रोग, गंदगी और अशिक्षा मेरे देश की विशेषताएं हैं।' उसने कहा– 'मेरे अपने गांव को ही लो, जहां सदियों से मेरे परिवार के बड़े व्यक्ति मुखिया बनते आ रहे हैं। अब भी मैं उस गांव का मुखिया हूं। जबकि मुझे गांव छोड़े हुए 17 साल हो गए हैं। तब वहां 1,800 लोग रहते थे। गांव छोड़ने के वर्षों बाद जब मैं कुछ सप्ताह पहले वहां पहली बार गया, तो मैंने देखा कि वहां की आबादी घटकर अब सिर्फ 600 लोगों की रह गई है। मैं यह देखकर दंग रह गया।'

स्कूल में 70 या 80 लड़के थे, जिनकी उम्र पांच-छह साल की लगती थी। मैंने पूछा– 'आप इतने छोटे बच्चों को इतने गंभीर विषय क्यों पढ़ा रहे हैं?'

स्कूल-शिक्षक ने उत्तर दिया– 'किन्तु ये बच्चे इतने छोटे भी नहीं हैं, जितने आपको लगता है।'

इन बच्चों की उचित देखभाल न होने, सही भोजन के अभाव और मलेरिया के कारण बस विकास रुक गया है। भले ही आप इसे मच्छरों का प्रकोप कहें, पर असल वजह यह है कि ये लोग भूखे हैं। ऐसे बच्चे और ऐसे स्त्री-पुरुष संपूर्ण पश्चिम बंगाल में मिल जाएंगे, जिनमें न कोई जीवन है और न कोई ऊर्जा। इसलिए, मेरा सीधा प्रश्न है– 'अंग्रेज सरकार पिछले 100 वर्षों से क्या कर रही है, जो मेरा गांव इतना बदतर हो गया? यह सच है कि उसने पंजाब को रेगिस्तान से बाग में बदल दिया है और वहां के लाखों लोगों को भोजन दिया है। किन्तु, मैं कैसे संतोष कर लूं; जब मेरे गांव के लोग भूखे मर रहे हैं?' अंग्रेज कहते हैं– 'हमने शांति व्यवस्था कायम करने को प्राथमिकता दी, इसलिए हम दूसरा और काम नहीं कर सके। और फिर यह इतना विशाल देश भी है; जहां हमें पुल, सड़कें तथा सिंचाई के लिए नहरें भी बनानी हैं।' अवश्य ही ये काम ठीक हैं। वे और भी बहुत कुछ तेजी से कर सकते थे। पर, उन्होंने हमारे गांव के लोगों को भूखों मरने के लिए छोड़ दिया है।'

अब इन महाशय के गांव पर आते हैं, जिसके पतन से वह इतने दुःखी हैं। यह महाशय अपने शहर से चार घंटे में रेल से अपने गांव पहुंच जाते हैं। वे बहुत धनी आदमी माने जाते हैं। उन्होंने स्वयं मुझसे कहा था कि वकालत से उन्हें इतनी कमाई होती है कि न्यूयॉर्क के नामी-गिरामी वकील को भी उनसे ईर्ष्या हो सकती है। पर, अपने गांव का मुखिया होने के बावजूद उन्होंने उसकी कोई सहायता नहीं की और 17 वर्षों से उसे छोड़ रखा है। और जब वर्षों के बाद उन्होंने वहां जाकर उसका पतन देखा, तो सरकार पर दोष लगा दिया। जिसे ऐसे पांच लाख गांवों को देखना होता है और जिसे आखिरकार इंसानी हाथों और बुद्धि से ही काम करना है।

उन्होंने अपने गांव की घटती जनसंख्या का जिक्र करते हुए इस बात को तो नजरअंदाज ही कर दिया कि हाल में एक विशाल औद्योगिक कारखाना उनके गांव के निकट स्थापित हुआ है, जहां रोजगार के लिए बड़ी संख्या में गांव के लोग जाकर बस गए हैं।

यहां मेरे लिए इन महाशय का नाम लेना तो उचित नहीं होगा, किन्तु एक अन्य सज्जन का नाम मैं बिना किसी परेशानी के ले सकती हूं, जो उत्तरी पंजाब के अट्टोक जिले में 26 गांवों के जमींदार सरदार मोहम्मद नवाज खान हैं।

इस युवा मुस्लिम ने अपनी पढ़ाई लाहौर के पंजाब चीफ्स कॉलेज से की है। इसके बाद वह भारतीय सेना में भर्ती होने के लिए रॉयल मिलिट्री कॉलेज में पढ़ाई के लिए सैंडहर्स्ट गए। इंग्लैंड में रहने के दौरान वह समय-समय पर अंग्रेजों के मकानों में रहते हुए वहां के अंग्रेज जमींदारों के संपर्क में आए और काश्तकारों के प्रति उनके व्यवहार को देखा।

लाहौर में उनके अंग्रेजी अध्यापक ने उन्हें जमींदारों के जो कर्तव्य बताए थे, वे उन्हें अंग्रेज जमींदारों में दिखाई दिए और यह बात शीघ्र ही उनके दिमाग में घर कर गई। उस युवा सैनिक ने हुस्सार रेजीमेंट में 18 महीने सेवा की और उनके काम से वहां के लोग और अधिकारी सब खुश थे। पर उन्होंने नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और अपनी जमींदारी में वापस आ गए। उन्होंने कहा– 'मुझे लगा कि अब मेरी जगह वहां नहीं, यहां है।'

वहां वह एक गांव से दूसरे गांव में स्थितियों को बेहतर बनाने, बेहतर तरीके से खेती कराने, बेहतर सफाई-व्यवस्था कराने और हर उस काम को करने में अपना समय बिताते हैं; जिससे उनके लोगों के जीवन-स्तर में सुधार आए। उस 27 वर्ष के युवक में—जिसकी चार लाख रुपए की वार्षिक आय है—एक प्रगतिशील नागरिक का उत्साह है और वहां के अंग्रेज उपायुक्त को उनसे भरपूर उत्साह और सहायता मिलती है।

यह विचित्र है कि वह सरकार की लोक सेवाओं में शीघ्र और अधिक भारतीयों को रखने की नई नीति के घोर विरोधी हैं। वह स्वराज की राजनीति में भी कोई रुचि नहीं लेते हैं। पर, वह लोगों को स्वस्थ, शिक्षित तथा संपन्न बनाने के संबंध में सरकार के प्रयासों की आलोचना करने में किसी से कम नहीं हैं। वह अपना संपूर्ण समय सरकार की सुधार योजनाओं में सहयोग करने और स्वयं भी उसके लिए मौलिक प्रयास करने में व्यतीत करते हैं।

यदि सरकार का उद्देश्य लोगों का हित करना है, तो सिर्फ बातें करने की बजाय सरदार मोहम्मद नवाज खां जैसे लोगों की संख्या बढ़नी चाहिए। तभी यह कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा कि भारतीय लोगों के हाथों में शीघ्र ही ज्यादा उत्तरदायित्व सौंपे जाएं।

इस बीच छोटे नगरों और छोटे गांवों में रहने वाले उच्च वर्गों और उच्च जातियों के बारे में ओल्कॉट कहते हैं– [1] 'वे न केवल गांव में रहने वाली निम्न जातियों की शिक्षा के प्रति उदासीन हैं, बल्कि उसके विरोधी भी हैं। चूंकि, वे समझते हैं कि निम्न जातियों के लोग अगर शिक्षित हो गए, तो वे हमारी सेवा नहीं कर सकेंगे; जो वे सदियों से करते आ रहे हैं।'

सर्वे कमीशन कहता है– 'ग्रामीण भारत में बहुत कम लोग जनसाधारण की शिक्षा के पक्ष में हैं। धनाढ्य जमींदार हो या संभ्रांत किसान, उनमें से कोई भी अपने खेतों में काम करने वाले मजदूरों को शिक्षित करना नहीं चाहता।' [2]

ग्रामीण स्कूलों के शिक्षक—चाहे वे अधेड़ हों या युवा—रूखे और अयोग्य हैं। हाथ-पैर से भी कमजोर और उत्साह रहित होते हैं; जैसे वे जन्म से ही थके हुए हों। परिणामत: भारतीय गांवों के स्कूल जैसी निर्जीव और उबाऊ चीज शायद ही दुनिया में कोई हो। वह उस मछली की तरह

निर्जीव पड़ा रहता है, जिसकी आंख निकाल दी गई है।

किन्तु, मुझे इस बात को सही साबित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिला कि यह उदासी हिंदू धर्म द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण से पृथक और भारत की एक आवश्यक जन्मजात विशेषता है। खुशी के तत्त्व युवकों और वृद्धों—सबमें मौजूद रहते हैं। मुस्कराने पर वे भी मुस्कुराते हैं और हंसी-मजाक करने पर हंसी-मजाक भी करते हैं। और किसी भी नवीन वस्तु को पाकर सभी उम्र के लोग इसे कौतूहल से देखते हैं। यह सब किसी भी गांव में—जहां लोग एक जगह एकत्र हों—जाकर देख सकते हैं। उनसे कोई गंभीर दार्शनिक बात कीजिए, तो उनमें नए विचारों का उदय होता है। गांव के लोग स्वाभिमानी, दिलचस्प, सहयोगी, सर्वाधिक स्नेही और प्रेम के पात्र हैं और सरकार के लोगों ने पिछले 60-70 वर्षों से उनकी जो श्रेष्ठ सेवा की है; उसके वे अधिकारी हैं। उनके सक्रिय और बुद्धिसंगत सहयोग के बिना भारत में कोई भी सरकार—जो कुलीन तंत्र से बेहतर हो—स्थापित नहीं हो सकती।

लेकिन, यह केवल ब्रिटेन के लोग ही हैं; जिनसे आज के भारतीय ग्रामीण अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भरोसेमंद सहायता और व्यावहारिक सहानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। और उनके लिए केवल ब्रिटिश डिप्टी कमिश्नर ही हैं—कोई और नहीं—जिन्हें वे अपना 'मां-बाप' समझते हैं और उनका दिमाग रात-दिन गांव वालों के हित में सोचता रहता है।

यह मेरा अपना अनुभव है कि मैं भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जितने भी गांवों में गई, सभी जगह मेरा स्वागत किया गया। मुझे अनेक झोपड़ियों में मिट्टी की दीवारों पर किंग जार्ज और कृष्ण के बालरूप के चित्र दिखाई पड़ते थे। जैसे उनसे उनके लाभ का कोई संबंध हो। मेरे लिए खुद को अमेरिकी साबित करने के सारे प्रयास बेकार थे। क्योंकि, उनके लिए सफेद चेहरे का मतलब केवल अंग्रेज था, अमेरिकन नहीं। इसलिए मैंने कुछ भी बताना छोड़कर, उनका स्वागत स्वीकार कर लिया; जो अनेक पीढ़ियों के कार्य के फलस्वरूप मिल रहा था।

फिर भी भारत में इतने थोड़े अंग्रेज हैं कि सभी (स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों) को गिना जाए, तो भी यह संख्या 2,00,000 से कम ही होगी। जबकि ब्रिटिश भारत के गांवों की संख्या 5,00,000 है।

एक बार मैंने मि. गांधी से पूछा था– 'यदि भारत के आपके शिक्षित और प्रतिभाशाली नौजवान राजनीतिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पाने के लिए लड़ने की बजाय गांवों में जाकर लोगों की भलाई के लिए अपनी सेवाएं दें, तो क्या यह भारत की बेहतर सेवा नहीं होगी?'

मि. गांधी ने उत्तर दिया– 'हां, बिलकुल। पर कौन सुनेगा?'

कलकत्ता में सर्वाधिक प्रतिष्ठित चार भारतीय युवा नेताओं से भी मैंने यही प्रश्न किया– 'यदि आप और आप जैसे लोग अपनी निजी और राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को त्यागकर अपने गांवों में जाकर वहां लोगों के लिए काम करें—जैसे बहुत से अंग्रेज स्त्री-पुरुष काम कर रहे हैं—तो क्या यह आपकी प्रिय भारत माता की श्रेष्ठ सेवा नहीं होगी? इस तरह काम करने से क्या 20 वर्षों में आपकी उपलब्धि इतनी महान नहीं हो जाएगी कि जिन राजनीतिक अधिकारों की आज आप व्यर्थ में मांग कर रहे हैं, वे खुद ही आपके हाथों में आ जाएंगे और आप स्वयं उन अधिकारों के योग्य भी साबित हो जाएंगे?'

उनमें से तीन ने कहा– 'हो सकता है। किन्तु, अधिकारों के लिए बोलना भी तो काम है। इस समय एकमात्र कार्य यही है। जब तक हम विदेशी को भारत से बाहर नहीं निकाल देते, तब तक और कुछ नहीं किया जा सकता।'

एक बड़ी अमेरिकी व्यावसायिक कंपनी के मुख्य अधिकारी ने, जो भारत में लंबे समय से रह रहे थे और भारतीयों के प्रति गहरी सहानुभूति रखते थे; कहा– 'यदि इस देश का शासन मेरे हाथ में होता, तो मैं कल ही सारे विश्वविद्यालयों को बंद कर देता। क्योंकि, उन्हें क्लर्क, वकील और राजनीतिक बनाने के लिए पढ़ाना तब तक अपराध है, जब तक कि उन्हें अपने लिए रोटी पैदा करना नहीं सिखाया जाता है।'

एक बड़े कॉलेज के अमेरिकी अध्यक्ष ने कहा– 'भारत में 20 वर्षों के अनुभव के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यहां की सारी व्यवस्था ही गलत है। यहां के लोगों को ग्रामर पढ़ाने से पहले, दो पीढ़ियों तक केवल प्राइमरी शिक्षा देनी चाहिए थी। पहला हाई स्कूल बनाने से पहले दो पीढ़ियों तक केवल ग्रामर की पढ़ाई होनी चाहिए थी। और इस प्रकार भारतीयों के लिए पहला विश्वविद्यालय तब खोला जाना चाहिए, जब सात-आठ पीढ़ियों तक हाई स्कूल की पढ़ाई हो चुकी हो।'

---

[1] विलेज स्कूल्स इन इंडिया, पृष्ठ-93
[2] वही, पृष्ठ-26

भाग – 4

https://ebooks.hindiyug.com

मि. गांधी

पत्थर का बना एक छोटा मकान, जिस पर अमेरिका के किसी भी छोटे शहर में कोई ध्यान नहीं देगा। छोटा-सा दरवाजा, एक बगीचा, एक साफ-सुथरा कमरा, जिसमें खिड़कियों के बाहर से प्रकाश आ रहा था। कमरे में दीवार के सहारे फर्श पर दरी पर एक व्यक्ति बैठा था। उनकी दाहिनी ओर उनकी डेस्क के पास दो युवक बैठे हुए थे। उनके बायीं ओर पश्चिमी आगन्तुकों के बैठने के लिए बिना सहारे की एक लकड़ी की बेंच थी। यदि कुछ अन्य चीजें भी कमरे में होंगी, तो उनको कोई देखता नहीं है। क्योंकि, उसका ध्यान केवल दीवार के सहारे बैठे हुए व्यक्ति पर होता है। यह मि. गांधी थे।

उनका सिर घुटा हुआ है। ...और जो बाल हैं, वे भी पक रहे हैं। उनकी छोटी और काली आंखों से क्रांति टपकती है और उनमें एक ऐसा त्यागी मनुष्य भी नजर आता है, जिसने व्यर्थ ही कड़ा परिश्रम करने के बाद अब कार्य क्षेत्र से अपने को अलग कर लिया हो; पर अपनी गलती को स्वीकार न किया हो। फिर भी जब वह बोलते हैं, तो उनकी आंखों में से चमक निकलती हैं। उनके कान बड़े हैं और बाहर की ओर उभरे हुए हैं। वह सिर्फ एक धोती पहनते हैं, जिसमें से जब वह बुद्ध की तरह पालथी मारकर बैठते हैं; तो उनका बालों भरा बदन, उनके नंग पतले हाथ और नंगी पतली टांगें दिखाई पड़ती हैं। वह एक लकड़ी का चरखा चलाते रहते हैं, जो उनके सामने जमीन पर रखा रहता है। वह दायें हाथ से चरखा चलाते हैं और बायें हाथ से सूत निकालते हैं।

मैंने पूछा– 'अमेरिका के लिए आपका क्या संदेश है?'

उन्होंने जवाब में कहा– 'अमेरिका को मैं क्या संदेश दूं?' फिर धीमी आवाज में कहा– 'इस चरखे की आवाज ही अमेरिका को मेरा संदेश है।'

इसके बाद वह कुछ ठहरकर धीरे-धीरे रुक-रुककर बोलते रहे और डेस्क के पास बैठे हुए उनके दोनों युवा सचिव उनके हर शब्द को लिखने लगे।

चरखा बराबर चलता रहता है। और यह जो सूत अमेरिका के लिए कत रहा है, वह इस पुस्तक के पृष्ठों में बार-बार सामने आता है।

अध्याय **17**

मुक्ति-सेना का पाप

भारतीय आंदोलनकारी पूछते हैं– 'ब्रिटिश शासन के इतने वर्षों बाद भी भारत गरीब क्यों बना हुआ है?'

यदि वह दूर क्षितिज से अपनी दृष्टि हटाकर अपनी जमीन पर डालें, तो उन्हें हर तरफ से अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा, जहां से उन्हें सच्ची ईमानदारी और परिश्रम के लिए आवाज सुनाई देगी।

उदाहरण के लिए पशुओं की समस्या को लें। केवल इसी से भारत की गरीबी का पता लग जाएगा। भारत के पशु ही भारत को खाए जा रहे हैं और फिर भी पशु भूखे मर रहे हैं।

1919-20 में संपूर्ण ब्रिटिश भारत में गोवंशीय पशुओं की संख्या 14,60,55,859 थी। उनमें 50 प्रतिशत के अनुपयोगी होने के कारण, देश को होने वाला अनुमानित वार्षिक घाटा 58,80,00,000 डॉलर था, जो ब्रिटिश भारत के सकल भू-राजस्व का चार गुना है। [1]

माना जाता है कि प्राचीन काल के हिंदू नेताओं ने देश के लिए गाय के महत्व को समझते हुए उसे देवता के रूप में अपना लिया था, ताकि उसे जनता की भलाई के लिए जनता से बचाया जा सके। उसी के अनुसार, आज भारत के हिंदू गाय को पवित्र मानते हैं। 1921 की असेंबली में एक विद्वान हिंदू सदस्य ने इस विषय में इस प्रकार कहा कि किसी हिंदू को कोई आपत्ति नहीं हुई– [2]

> 'इसे आप चाहे पक्षपात कहें, धर्मांधता कहें या धर्म की पराकाष्ठा। पर, यह निस्संदेह सत्य है कि हिंदू हृदय में जितनी गहरी श्रद्धा गाय के प्रति है, उतनी किसी चीज के प्रति नहीं है।'

गाय को मारना ब्रह्म-हत्या जैसा महापाप है। दुर्भाग्य से ग्वालियर के स्वर्गीय महाराजा से एक बार यह पाप हो गया था। वे नए बने एक रेलवे ट्रैक पर लोकोमोटिव इंजन चला रहे थे कि अचानक एक गाय ने ट्रैक पर छलांग लगा दी। इससे पहले कि वह इंजन को रोकते, गाय उसके नीचे आकर कटकर मर गई। वर्षों बाद उन्होंने इस संबंध में अपने मित्र को बताया था– 'मुझे लगता है कि मैं प्रायश्चित, शुद्धिकरण और ब्राह्मणों को दान देकर भी कभी उस पाप से मुक्त नहीं हो सकूंगा।'

राजा हो अथवा किसान, वह उसकी पवित्र गोमाता है। मनुष्य की मृत्यु के समय घर में गाय होनी चाहिए, ताकि वह उसकी पूंछ पकड़कर अंतिम सांस ले सके। सिर्फ इसी कारण से गाय को हमेशा घर के भीतर तैयार रखा जाता है। कहा जाता है कि जब कश्मीर के पूर्व महाराजा मरने वाले थे, तो उनके लिए गाय लाई गई। कहा जाता है कि वह उनके कक्ष तक जाने के लिए किसी भी तरह तैयार नहीं हुई, तो तुरंत महाराजा को ही गाय के निकट लाया गया; जो उनकी आत्मा की मुक्ति के लिए आवश्यक था।

इसके बाद गाय की पांच चीजें— दूध, घी, दही, गोबर और मूत्र को विधिवत पांच छोटे बर्तनों में भरकर पापों से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई और उसके बाद इन पांचों चीजों को एक साथ मिश्रित करके उसे (मिश्रण को) आत्मा और शरीर की शुद्धि के लिए उनके मुंह में डाला गया। इस मिश्रण को 'पंचगव्य' कहा जाता है, जिसका प्रयोग जान-बूझकर किए गए पाप की मुक्ति में भी लाभदायक माना जाता है। आबे दुब्बा कहते हैं– [3]

> 'किसी भी तरह की अशुद्धि को दूर करने के लिए गोमूत्र को अत्यंत उपयुक्त वस्तु समझा जाता है। मैंने अक्सर हिंदुओं को गोचर भूमि में गाय के पीछे चलते हुए, प्रतीक्षा करते और गोमूत्र को पीतल के बर्तन में लेकर घर ले जाते हुए देखा है। मैंने उनको उसकी पूंछ के नीचे अपने हाथ लगाकर प्रतीक्षा करते और हाथों में मूत्र लेकर उसे पीते हुए तथा शेष मूत्र को अपने चेहरे और सिर पर मलते हुए भी देखा है। उनका विश्वास है कि उसके मलने से उनके शरीर की अशुद्धि और उसके पीने से आत्मिक अशुद्धि दूर हो जाती है।'

दुब्बा आगे कहते हैं कि ज्यादा धर्मात्मा लोग प्रतिदिन गोमूत्र पीते हैं। इस दृष्टि से हम देखें तो रूढ़िवादी भारत अब भी वैसा ही है, जैसा वह दुब्बा के समय में था।

ऐसी स्थिति में भी हम गोभक्षक पश्चिमी देशों के लोग भारत या अमेरिका में जब भी कट्टर हिंदू भारतीयों से मिलते हैं, तो हाथ मिलाने का आग्रह करते हैं। क्या हमारा यह व्यवहार ठीक है? कम-से-कम एक कट्टर महाराजा भी यह सावधानी बरतते हैं कि जब वे यूरोपीय समुदाय में जाते हैं, तो हमेशा दस्ताने पहने रहते हैं। किन्तु, कहा जाता है कि एक बार लंदन की भोज पार्टी में उनसे भी चूक हो गई थी। जब एक महाराजा ने भोज के दौरान अपने दस्ताने उतारे, तो उनके बगल में बैठी एक महिला ने उनके हाथ में अंगूठी को देखकर कहा–

'योर हाईनेस! बहुत खूबसूरत नग है। क्या मैं इसे देख सकती हूं?'

महाराजा ने कहा— 'जरूर।' और उन्होंने अपनी उंगली से अंगूठी उतारकर उसकी प्लेट के पास रख दी।

उस महिला ने उस अंगूठी को उठाकर रोशनी में देखा और उसकी खूब प्रशंसा करके धन्यवाद के साथ उसे वापस उनकी प्लेट के पास रख दिया। इसके बाद महाराजा ने अपने सेवक को—जो निकट ही उनकी कुर्सी के पीछे खड़ा था—अंगूठी को उठाने का संकेत किया और कहा— 'जाओ, इसे धोओ।' और बिना खेद के उनकी बातचीत चलती रही।

यह बात अप्रासंगिक लगेगी। पर, मैंने इसका जिक्र यह बताने के लिए किया है कि आप इसकी सहायता से भारत के हिंदुओं पर गाय का कितना प्रभाव है? इसको आप स्पष्ट समझ सकते हैं। और जब गायें भोर में शहरों और गांवों के बाहर सैकड़ों की टोलियों में धीमी गति से सिर झुकाये जंगल में चरने के लिए जाती हैं, तो ऐसा लगता है कि वे सब जानती हैं और इस बात से प्रसन्न हैं कि लोगों के मन में उनके लिए कितनी भक्ति है। नीली और लाल रंगों की कौड़ियों और मूंगों की मालाएं उनकी गर्दनों की शोभा बढ़ाती हैं। उनकी और उनके पुत्रों (बैलों) की आंखों में मस्ती दिखाई देती है।

उनकी आंखों में दिखने वाली शांति को देखकर गुजरने वाला यात्री समझता है कि वे अपने आसपास पर्याप्त प्रेम अनुभव कर रही हैं। हालैंड और इंग्लैंड में भी आपको चरने वाले बैलों में एक अपूर्व शांति, संतोष और प्रेम देखने को मिल सकता है। पर, उसका कारण यह है कि वहां उन्हें अच्छा आहार दिया जाता है। उनकी अच्छी देखभाल की जाती है और उन्हें ज्यादा स्वतंत्रता मिलती है। किन्तु, भारत में जांच करने पर यह पता चला है कि गायों की आंखों में दिखने वाले भाव का कारण यह है कि वे कमजोर होती हैं, वे मनुष्यों के काफी निकट रहती हैं और

उनकी पलकों के ऊपरी कोने पर एक विचित्र बनावट होती है। इसलिए उनकी शांति ऑब्रे बियर्ड्सली स्त्री की सुंदरता की तरह होती है।

भारतीय नेता कहते हैं कि 50 वर्ष पूर्व भारत के पास अपने पशुओं के चारे के लिए पर्याप्त भूमि थी। किन्तु, 'पर्याप्त' की जो पश्चिमी परिभाषा है, उसके अनुसार वह कुछ भी हो सकती है; पर आज सच्चाई इसके विपरीत है। मि. गांधी के एक भारतीय लेखक मि. देसाई इस विषय में लिखते हैं– [4]

> 'प्राचीन काल में और मुस्लिमों के समय में भी, पशुओं के लिए सामान्य चरागाह थे और जंगलों में भी उन्हें चरने की आजादी थी। पशु मालिकों को अपने पशुओं के चारे पर कुछ भी खर्च करना नहीं पड़ता था। किन्तु, उस प्राचीन संपत्ति पर ब्रिटिश सरकार की लालची नजरें पड़ गईं और उसने भू-राजस्व बढ़ाने या अपने मिशनरी मित्रों को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की उस संपत्ति को जब्त कर लिया। जो अपने लिए न गुहार लगा सकते थे और न उनकी ओर से कोई बोलने वाला था।'

इसके बाद मि. देसाई ने अंत में अपनी बात के समर्थन में कहा कि एक बार सरकार ने गुजरात में मुक्ति सेना को कृषि कार्य के लिए सार्वजनिक चरागाह की 560 एकड़ जमीन दे दी थी। वह आगे कहते हैं–

> 'चरागाह पर इस नियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि वर्तमान में भारत में चरागाह की भूमि सभी देशों के संपूर्ण क्षेत्रफल की तुलना में सबसे कम है। इसलिए, यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि ब्रिटिश राज में हमारे पशुओं का तेजी से ह्रास हो रहा है।'

हालांकि, उन्होंने अमेरिका में चरागाह की सबसे अधिक भूमि के आंकड़े दिखाकर वहां के लोगों को खुशहाल दर्शाया है।

किन्तु, दुर्भाग्य से मि. देसाई अमेरिका के आंकड़ों के चयन में उन आंकड़ों को छोड़ देते हैं, जो भारत की आवश्यकता के लिए बहुत मूल्यवान हैं। यह सच है कि हमारे पास विशाल चरागाह क्षेत्र (खेत) हैं। परंतु, हम उन पर बीच-बीच में और सब छोड़कर चरई उगाते हैं। जैसे- एक वर्ष जिस भूमि पर चरई उगाते हैं, तो दूसरे वर्ष उस पर चरई नहीं उगाते हैं। इससे वह भूमि ज्यादा उपजाऊ हो जाती है। इस ओर भारतीय लोगों का ध्यान नहीं जाता। और जिस भाग में भूमि सबसे अधिक होती है, जैसे—पश्चिमी भाग में, तो वहां हम कुल भूमि के तीन भाग पर पशुओं के लिए चारा पैदा करते हैं। हमारे कपास के क्षेत्र में भी 10 प्रतिशत भूमि पर अनाज पैदा किया जाता है। और शेष बची भूमि में 53 प्रतिशत पर पशुधन के लिए चारा बोया जाता है। इसी तरह गेहूं और अन्य अनाज पैदा करने वाले प्रदेशों में भी 75 प्रतिशत भूमि का उपयोग पशुओं का चारा उगाने के लिए किया जाता है। मक्का पैदा करने वाले प्रदेश में भी 84 प्रतिशत भूमि पर चारा उगाया जाता है और सिर्फ 16 प्रतिशत पर मनुष्यों के खाने के लिए अनाज पैदा किया जाता है। और उत्तर-पूर्व में 70 प्रतिशत भूमि चारे के लिए उपयोग की जाती है।

इसी प्रकार हम पशुओं के आहार के लिए कुल 25,70,00,000 एकड़ भूमि का प्रयोग करते हैं, जबकि केवल 7,60,00,000 एकड़ भूमि में ही मनुष्यों के लिए अनाज पैदा किया जाता है। और वहां पांच लोगों वाले हर परिवार में एक दुधारू गाय होती है। [5]

ये वे आंकड़े हैं, जो भारतीयों के लिए अपने महान कृषि प्रधान देश के कल्याण में विचारणीय होने चाहिए। मैंने यहां इसी आशा से इनका उल्लेख किया है कि वे अपनी आंखें खोल सकें।

मि. गांधी ने भारत के मवेशियों के इस सवाल पर भारत में रहने वाले एक इटैलियन विशेषज्ञ से सलाह मांगी। उस विशेषज्ञ ने तुरंत व्यावहारिक बातें लिखकर भेज दीं।

उसने लिखा– 'यदि भारतीय कठोर हृदय न हों और अपने मवेशियों की आवश्यकताओं के बारे में नासमझ न हों और यदि वे अपने खेतों को बीच-बीच में खाली छोड़कर उपयोग करें। और जैसा इटली में होता है कि लोगों को चारा उगाने के लिए बाध्य किया जाए, तो उनके पशुओं के कष्टों का निवारण हो जाएगा।' विशेषज्ञ अपनी बात जारी रखते हुए आगे कहता है– [6]

> 'खेतों में बदल-बदलकर खेती करने से कुछ ज्यादा धन खर्च नहीं होता है। एक सदी पहले जावा में डच लोगों ने चाबुक के बल पर किसानों को बदल-बदलकर धान की खेती कराई थी। उनके राज में जावा की जनसंख्या दो मिलियन से बढ़कर 30 मिलियन हो गई थी और उसी अनुपात में धान तथा गन्ने की खेती में वृद्धि हो गई थी। यह परिवर्तन अधिक पूंजी व्यय करने से नहीं हुआ था, बल्कि समझदार सरकार की सख्ती से हुआ था। भारत में चाबुक प्रयोग करने का सवाल ही नहीं है। हम उन्हें समझाकर काम लेना चाहते हैं, बाध्य करके नहीं।'

मि. देसाई आगे लिखते हैं– [7]

> 'जहां गाय एक मूल्यवान संपत्ति समझी जाती है, (जैसे इटली में), वहां उसकी सेवा प्यार से की जाती है। उसके लिए फसलें पैदा की जाती हैं और उसके रहने के लिए महल बनाए जाते हैं। यहां (भारत में) वह केवल पूजा की वस्तु है। इसलिए, उसे जनता के बीच ऐसे मैदानों में खड़े रहने और भूखों मरने के लिए छोड़ दिया जाता है, जिन्हें चरागाह ही नहीं कहा जा सकता। भारत को अत्याचार, बीमारियों और गर्भपात के इन स्थानों को खत्म करना चाहिए और प्रत्येक भारतीय को अपने मवेशियों के आहार के लिए अपनी जमीन के दो-तिहाई हिस्से पर चारा उगाना चाहिए।'

जिस किसी ने भी इस तरह के सार्वजनिक चरागाहों को देखा है, वह शायद ही उपर्युक्त कथन को अस्वीकार करेगा। वे खड़े होने और भूखों मरने के सार्वजनिक मैदान तो हैं ही, यह मानने का भी कोई किंचित कारण नहीं है कि अतीतकाल में उनकी कभी अच्छी स्थिति रही होगी। मुस्लिमकाल का फ्रांसीसी यात्री बर्नियर कहता है– [8]

> 'भारत में हरे चारे की कमी के कारण बड़ी संख्या में मवेशियों को पालना असंभव है। यहां साल के आठ महीने इतनी भीषण गर्मी होती है कि मैदान झुलसे रहते हैं, जिसके कारण जानवरों के लिए भूखों मरने का समय शुरू हो जाता है और वे अपनी भूख मिटाने के लिए सूअरों की तरह हर किस्म का मैला खाने लगते हैं।'

कोई भी—जो मनुष्यों और जंगलों के इतिहास को ध्यान में रखकर अपनी आंखों और सामान्य समझदारी से काम लेगा -इस बात को अच्छी तरह समझ जाएगा।

जिन सामान्य परिस्थितियों में भारतीय पशुओं का जीवन रहा है और प्रजनन के जो तरीके अपनाए जाते रहे हैं, वे विशेष रूप से सबसे खराब पशु पैदा करने के लिए बनाए गए होंगे।

पशु विशेषज्ञ जानते हैं कि यदि 120 गायें बिना किसी अन्य आहार के सिर्फ ऐसे चरागाहों पर पाली जाएंगी, तो उनमें केवल 100 गायें ही जीवित रहेंगी। और 20 वे गायें मर जाएंगी, जो सबसे ज्यादा दूध देने वाली होंगी। क्योंकि, अच्छी दुधारू गायों की अधिक शक्ति दूध उत्पादन में समाप्त हो जाती है और उनमें स्वयं को बिना भोजन के संभाले रखने की शक्ति कम हो जाती है। इसलिए शेष बची गायें प्रजनन के लिए उपयोगी नहीं रह जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारत में लगभग 300 गायों के झुंडों के साथ एक सांड भी चलता है। पर वह सांड अच्छा हो तो

भी उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इसके अलावा वह बदतर श्रेणी का होता है।

जब मनुष्य को देवताओं को प्रसन्न करने की आवश्यकता होती है—विशेष रूप से पिता के लिए उनकी मृत्यु के बाद—तो वह मंदिर को एक सांड दान करने की मनौती करता है। और चूंकि सांड कोई भी हो, वही काम करेगा। इसलिए, वह स्वाभाविक रूप से सबसे दुर्बल और भद्दे सांड दान के लिए चुनता है। इसी तरह वह पूजा के लिए सामग्री भी सबसे सस्ती और खराब खरीदता है। पुरोहित जिस सांड को दान में स्वीकार करता है और उसे मंदिर का ठप्पा लगाकर पवित्र करने के बाद, निकट ही गायों के झुंड में प्रजनन करने के लिए छोड़ देता है।

वे सांड—युवा या बूढ़े, अच्छे या बुरे भूखे रहते और साथ-साथ घूमते हुए एक-दूसरे के साथ मिश्रित होते हुए तमाम तरह की बीमारियां अपने बच्चों को देकर उन्हें बेकार कर देते हैं। जो आहार भारत के संपूर्ण पशुओं को दिया जाता है, अगर वही आहार अच्छे पशुओं को दिया जाए, तो निश्चित रूप से भारत में जितने दूध का उत्पादन आज होता है; उससे कहीं ज्यादा होगा। [9]

पूर्वी बंगाल में—जो विश्व का सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश है—शायद ही कोई चरागाह है। क्योंकि, वहां चावल और जूट की पैदावार ने सारी भूमि पर कब्जा कर लिया है। वे अपने जानवरों के लिए कोई आहार पैदा नहीं करते हैं। वे उनको सिर्फ थोड़ा-सा धान का भूसा और पुआल की कुट्टी खिलाते हैं और कुछ भी नहीं।

पश्चिमी बंगाल के कुछ जिलों से ऐसी खबरें भी मिली हैं कि खेतों में भूखे पशु चरने के लिए घुस जाते हैं और उनके द्वारा 25 प्रतिशत कृषि उपज खाकर नष्ट कर दी जाती है।

देहात में सर्वत्र बाड़ों या अहातों के न होने से आदमी आसानी से अपनी गायों को सोते हुए पड़ोसी के खेतों में छोड़ देता है। चूंकि गाय पवित्र होती हैं और भूखी भी, इसलिए यह पाप भी थोड़ा ही है। और यही विश्वास और भाग्य पड़ोसी के दुःख का कारण है।

मैंने गाय को अपनी प्रकृति के विरुद्ध भूख से बाध्य होकर मानव-मल खाते हुए भी देखा है। ऐसा दृश्य अब सामान्य बात है।

कुछ जनपदों में हरा चारा उगाया जाता है। और वर्षा तथा सर्दियों के मौसम में—केवल ऊसर क्षेत्रों को छोड़कर—प्राय: सभी चरागाहों में थोड़ी घास रहती है। किन्तु, जनवरी तक सारी धरती घास से खाली हो जाती है और अगली बरसात के आने तक भुखमरी शुरू हो जाती है।

मि. गांधी के संवाददाता ने हमें यह बताया कि गायों के भूखे रहने का दोष ब्रिटिश सरकार का है और ब्रिटिश सरकार ही सच में उनकी वर्तमान दुर्दशा के लिए उत्तरदायी है।

भारत में अंग्रेजों के आने तक छोटे-बड़े हमलों, लूटों, डाकों और अंतहीन देशी संघर्षों और युद्धों ने देश को चिरकालिक विपत्ति में रखा था। और निश्चय ही ऐसी हर गतिविधि की मार पशुओं पर पड़ती थी। परिणामत: यह प्रक्रिया उस समय भी कारगर थी और आज भी लाभदायक है। क्योंकि, तब किसी खास क्षेत्र के जानवरों को दूसरे इलाकों में हांक दिया जाता था; जो या तो मार दिए जाते थे या भगा दिए जाते थे। और जो चरागाह उस काल में थे, वे सुनसान पड़े रह जाते थे। जब दूसरे पशु आकर वहां एकत्र होते थे, तो उनकी प्रजनन-प्रक्रिया रुक जाती थी। क्योंकि, नए पशुओं में प्रजनन धीमी गति से होता था।

ब्रिटिश द्वारा इस व्यवस्था को तोड़ने की प्रक्रिया इसलिए की गई थी। क्योंकि, उनकी पहली प्रतिबद्धता देश में डकैती, युद्धों और विनाश को रोककर शांति स्थापित करने की थी।

ठीक यही कार्य अमेरिका ने फिलीपींस में किया था। इस कार्य से जो उपलब्धि हमें फिलीपींस में मिली थी, वही उपलब्धि अंग्रेजों को भारत में मिली।

हालांकि, उन्हें देश के विस्तृत और उसके विरोधी निवासियों के बहुसंख्यक होने के कारण अधिक समय लगा।

इस संबंध में ब्रिटेन ने जो काम लगभग 50 वर्ष पहले शुरू किया था, वह अब पूरा हो गया है। अब उनके अधीन लोगों के जीवन और उनकी संपत्ति—जितना संभव है—सुरक्षित है। उन्होंने महामारी और अकाल पर नियंत्रण पाया है, जिससे मनुष्य और पशुओं की मृत्यु में कमी आई है और उनकी संख्या में वृद्धि हुई है। और ऐसी स्थिति में मनुष्यों को भोजन भी मिलना चाहिए।

इसलिए, सरकार ने उनको—आवश्यकता के अनुसार—पट्टे पर जमीन भी दी है; ताकि वे अपने लिए अनाज पैदा कर सकें और भूखे न मरें। [10]

उन्होंने अपने लिए तो अनाज पैदा किया। पर, अपनी गोमाता के लिए चारा पैदा नहीं किया। इसलिए गायें अब भी भूखी मर रही हैं। और दोष ब्रिटेन का बताया जाता है या मुक्ति सेना का। [11]

---

[1] देखिए, प्रोसीडिंग्स ऑफ बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर ऑफ इंडिया, बैंगलोर, जनवरी 21, 1924, तथा उसके बाद के दिवस। राउण्ड टेबिल, नं.-59, जून, 1925 भी देखें।

[2] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1921, राय बहादुर पंडित जे. एल. भार्गव, वॉल्यूम-I, पार्ट-I, पृष्ठ-530। यह भी देखिए, कमेंट्रीज ऑफ दि ग्रेट अँफोंसो डॅल्बकर्क, ट्रांसलेशन ऑफ वॉल्टर डि ग्रे, लंदन, हक्लुइट सोसायटी,1877, वॉल्यूम-II, पृष्ठ-78.

[3] हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनीज, पृष्ठ-43, 152, 195 और 529

[4] यंग इंडिया, 3 जून 1926, वी. जी. देसाई, पृष्ठ-200

[5] यू. एस. डिपार्टमेंट ऑफ एग्रीकल्चर बुलेटिन नं. 895, 'आवर फॉरेस्ट रिसोर्सेस', गवर्नमेंट प्रिंटिंग ऑफिस, 1923, पृष्ठ-312-26

[6] यंग इंडिया, मई 13, 1926, मि. गैलेटी -डि-कैडेलॅक, "दि कैटल प्रॉब्लम," पृष्ठ-177

[7] यंग इंडिया, पृष्ठ-109

[8] ट्रैवल्स इन दि मुगल एम्पायर, पृष्ठ-326

[9] इलाहाबाद एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट, के निदेशक सेमुएल हिग्गिनबॉटम द्वारा इंडियन टैक्सेशन इंक्वारी कमेटी के समक्ष दिया गया साक्ष्य, 1924-25

[10] सनातन नियम में सब जमीन सरकार की होती है।

[11] सरकार ने मुक्ति फौज पर बहुत ज्यादा भरोसा किया था, क्योंकि उसकी वजह से अपराधी घुमंतू जनजातियों में सुधार हुआ है। उनका पुनर्वास हुआ है, जहां उन्हें कृषि, पशु-पालन और दस्तकारी के द्वारा एक सम्मानित और यथेष्ट जीविका कमाने का प्रशिक्षण दिया गया है। और इसी तरह इसी उद्देश्य के लिए अछूतों के लिए गुजरात और अन्य राज्यों की सरकारों ने मुक्ति फौज को गैर-कृषि उपयोग के लिए जमीन दी है। यही वह कदम है, जिसका मि. गांधी का पत्र (यंग इंडिया) विरोध करता है। देखिए, पूर्व. पृष्ठ-227, और 'मुक्ति-फौज', कमिश्नर बूथ टुकर, सालवेशनिस्ट पब्लिशिंग एंड सप्लाइज, लंदन।

अध्याय **18**

पवित्र गाय

अब हम भारत के लोगों और उनके घरेलू मवेशियों की चर्चा को छोड़कर, सरकार के उस प्रयोग के बारे में बात करेंगे, जो उसने सरकारी फार्मों के रूप में किया है और जो एक विश्व-योगदान है। इससे बच्चों के लिए कम दूध मिलने की मुख्य घरेलू समस्या का समाधान हो गया है।

केवल वे ही लोग, जो गरम इलाकों में रह चुके हैं, इसका महत्व समझेंगे और जानेंगे कि इससे उनके पारिवारिक जीवन में कितनी सुख-शांति आएगी। फिलीपीन द्वीप में जबसे कृषि विभाग फिलीपींस के लोगों के हाथों में दिया गया है, तबसे हमारा आशावान कार्य रुक गया। उसी दिन से पशुओं के प्रजनन का कार्य एक तमाशा बन गया और अमेरिकी कॉलेजों से मशीन की तरह शिक्षित होकर निकले ऑफिस की कुर्सियों पर बैठे युवा लोगों के शब्दजाल में विलीन हो गया। जबकि कुछ बेडौल और उपेक्षित जानवर अपने बाड़े में थके-मांदे भिखारी जैसी हालत में पड़े रहते हैं। और जहां तक उपनिवेशी अमेरिका की बात है—वहां अभी भी वही पुरानी धारणा बनी हुई है कि गरम प्रदेशों में गाय न तो प्रजनन कर सकती है और न सही मात्रा में दूध दे सकती है।

दूसरे शब्दों में, उस क्षेत्र में हमारा कार्य अभी होना है।

किन्तु, भारत में हमें अंग्रेजों ने काम करने का जबरदस्त उत्साह दिया है। बैंगलोर में इम्पीरियल डेयरी फार्म में उनके उत्पादन संबंधी प्रयोगों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि कुशलता, सही देखभाल और दृढ़ता से गरम वातावरण में भी ऐसी गायें विकसित की जा सकती हैं, जो ज्यादा दूध और बेहतर नस्ल के बच्चे दे सकती हैं।

लखनऊ के गवर्नमेंट मिलिट्री डेयरी फार्म में मैंने एक संकर नस्ल की 'मूंगिया' गाय को देखा था, जिसका प्रजनन पंजाब-हरियाणा की एक देशी गाय में फ्रिजियन मूल के एक काले-सफेद रंग के अमेरिकी सांड के गर्भाधान से हुआ था। मूंगिया ने अपने आठवें बछड़े के साथ दूध-उत्पादन के 305 दिनों में 16,000 पाउण्ड दूध दिया था। [1] अपने सातवें बछड़े के साथ उसने 14,800 पाउण्ड दूध दिया था। उस नस्ल की एक दूसरी गाय 'एडना' का दूध उत्पादन 305 दिनों में 15,324 पाउण्ड पहुंच गया था। गर्मी के मौसम में भी इन हट्टी-कट्टी संकर गायों के संपूर्ण दूध उत्पादन से 4.05 प्रतिशत से लगभग 5.05 प्रतिशत तक मक्खन और घी प्राप्त होता था, जो हमारे अमेरिका की घरेलू खपत से भी ज्यादा है।

इसके सिवा इन गायों का दूध उत्पादन गर्मी के मौसम में शायद ही बंद होता है। एडिना ने अगस्त 1925 में दूध देना शुरू किया। शुरुआत में वह प्रतिदिन 31.75 लीटर (70 पाउण्ड) दूध देती थी। एडिना और मूंगिया अवश्य ही सितारा हैं। पर, लखनऊ में पलने वाली बाकी नस्लों की दूध देने वालीं 105 भारत-पश्चिमी संकर गायों का रोज का औसत दूध उत्पादन 21 पाउण्ड प्रति गाय था; जो अभी भी थोड़ा कम है।

भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ दुधारू गाय देशी नस्ल की पंजाब की साहीवाल है, जिसका औसत दूध उत्पादन सिर्फ 3,000 पाउण्ड है। और जो हमारे पश्चिम की बड़ी दुधारू गायों के साथ संकर होने के लिए भी कम उपयोगी है। लेकिन, सरकार ने पिछले 10 वर्षों में पूसा के अपने फार्म में पंजाब की एक अन्य नस्ल मोंटगोमरी के साथ साहीवाल की एक और संकर नस्ल विकसित की है, जिसका उत्पादन पिछली साहीवाल से दो गुना है। जबकि नतीजे के तौर पर सरकारी प्रजनन केंद्रों पर दूसरे रोचक प्रयोग आयरशायर सांडों के साथ देशी सिन्धी पशुओं के संकरण के रूप में किए गए हैं।

इस सब का महत्व इस तथ्य के एक हिस्से के रूप में मापा जा सकता है कि भारत में 90 प्रतिशत से ज्यादा गायें साल में 600 पाउण्ड से भी कम अथवा एक चौथाई गैलन प्रतिदिन से भी कम दूध देती हैं। [2]

सरकार ने 1912 में ये प्रयोग आरंभ किए थे। उसके बाद 'महायुद्ध' आया, जिससे विदेशों से पशुओं का आना रुक गया। जब युद्ध समाप्त हुआ, तो सरकार ने सीधे लखनऊ फार्म के लिए अमेरिका से दो और फ्रीजियन सांड 'सेजिस' और 'एल्मर' मंगाए। इसी तरह के कुछ और प्रयोग केंद्र भी उपलब्ध कराए गए और काम को आगे बढ़ाया गया।

इन तथ्यों से यह पूरी तरह साबित हो जाता है कि संकर पशुओं में शक्ति बढ़ती है। और यह कि 50-50 बिंदु से आगे आयातित रक्त से देश में अनेक रोगों के लिए अतिरिक्त संक्रमण का खतरा पैदा होता है और खराब परिणाम निकलता है। इसलिए, अब प्रत्येक गाय को एक देशी सांड के लिए संकर नस्ल पर विकसित किया गया है।

इस प्रकार सही प्रजनन, सही संकरण, बेहतर खाना और आवास से धीरे-धीरे और लगातार खराब प्रजनन, भुखमरी, संक्रमण के सदियों के परिणामों पर विजय हासिल हो रही है। निश्चित नस्लीय किस्में तय हो रही हैं और बढ़िया प्रजनन की बुनियाद रखी जा रही है।

रास्ता खुल गया है और संभावनाएं भी दिखने लगी हैं। जब भारत के लोग इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, तो उनका लाभ भी उनके हाथों में है।

इस विषय में पशु-प्रेमियों के लिए यह बात वास्तव में रोचक होगी कि भारत को दोहरे उद्देश्य की गाय चाहिए। पर भारत में दोहरे उद्देश्य का अर्थ दूध और मांस नहीं है, जिसके लिए हम अमेरिकियों को कनखियों से देखा जाता है; बल्कि दूध और ताकतवर होना है।

गोमांस के लिए जानवरों की बिक्री कम होती है। 1926 में लखनऊ में गोमांस की कीमत दो सेंट प्रति पाउण्ड थी। भारतीयों के लिए गाय का उपयोग उसके धार्मिक योगदान के अतिरिक्त—जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है—सर्वप्रथम दूध और घी के उत्पादन के लिए है। दूसरे, ईंधन और घरों को लीपने लायक गोबर के लिए और तीसरे, गाड़ी तथा हल में जोतने के लिए बछड़े पैदा करने के लिए होता है। दूध और बोझा ढोने के लिए जानवरों का प्रजनन एक आत्म-रद्द प्रस्ताव जान पड़ता है। किन्तु देश यही चाहता है, जबकि सरकार की चिंता नौकरी और हड़ताल का बेहतर संभावित हल तलाश करना है। सरकारी फार्मों में विदेशी चारा, जैसे—मिस्री तिनपतिया घास का उत्पादन भी किया जाता है यानी ज्यादा जोर चारा पैदा करने पर ही रहता है। और इस हरे चारे का भंडारण कम खर्च पर बने बंद गड्ढों में किया जाता है। प्रशिक्षित लोगों को इन सिलेजों के बारे में बताने और उन्हें स्थापित करने के लिए गांवों में भेजा जाता है। और लोगों को बढ़िया नस्ल के युवा सांड, ऋण के रूप में, या उपहार के रूप में या फिर खरीदने के लिए दिए जाते हैं।

लखनऊ, पूसा, बैंगलोर और अन्य सरकारी फार्मों में तैयार किए गए सारे बढ़िया जानवर पूरी तरह ब्रिटिश उत्पादकों की देखरेख में रहते हैं।

उनकी सामान्य क्षमता, स्वच्छता, व्यवस्था और उनके सरल व्यवहार का इन फार्मों में बराबर निरीक्षण किया जाता है। किन्तु, भारतीय किसानों के दिमागों के लिए ये सारी चीजें विदेशी हैं। और जो किसानों को सबसे अच्छा और तेज सिखा सकते हैं, वे भारतीय रईस और बुद्धिजीवी शायद ही किसानों को कुछ सिखाते हैं या जानवरों पर ध्यान देने की कोई अपील करते हैं।

भारतीय राज्यों के कुछ उन राजाओं को छोड़कर, जिन्होंने इंग्लैंड से अपने मवेशियों पर गर्व करना सीखा है। और देशभर में फैले हुए कुछ मुट्ठी भर जागीरदारों को छोड़कर, सामान्यत: पशु-उत्पादन का कार्य एक अशिक्षित वर्ग के हाथों में छोड़ दिया गया है; जिसे 'ग्वाला' कहते हैं। और जिसके पास इस काम को करने के लिए न उत्साह है, न पूंजी और न समझ।

मैंने हर जगह देखा है कि लोग परिवर्तन के महत्व को कम ही पसंद करते हैं, उसके विपरीत महत्व को ज्यादा। उदाहरण के लिए, जब सरकार द्वारा गांव के मवेशियों की नस्ल सुधारने के लिए उत्तम किस्म के सांडों का प्रदर्शन किया गया और उसके साथ दुर्व्यवहार करने से होने वाले नुकसान को दिखाया, तो उसे महत्व नहीं दिया गया। मैंने एक सरकारी पशु चिकित्सालय में देखा कि एक सांड को बुरी हालत में लाया गया था और यह बताने के लिए किसी गवाह की जरूरत नहीं थी। क्योंकि, उसकी आंखें बता रही थीं कि उसे भूखा रखा गया था और इतनी क्रूरता से मारा गया था कि वह अपंग हो गया था। उसके एक पैर का जख्म बता रहा था कि उसे दागा गया था। वह जख्म इतनी बुरी तरह से दूषित हो चुका था कि उसके ठीक होने की संभावना बहुत कम थी।

मैंने वहां मौजूद ब्रिटिश अधिकारी से पूछा– 'आप क्या करेंगे?'

उसने कहा– 'इसे संभवत: गांव के मुखिया ने दंड दिया है। क्योंकि, यह उसके काम का नहीं है। यह मनुष्य की विशेषता है कि जिससे उसे लाभ नहीं मिलता है, वह उसे पसंद नहीं करता है। और वे अपने मवेशियों की बेहतरी के लिए उन पर खर्च नहीं करते हैं।'

अब एक दूसरे विषय को लेते हैं, जो यह है कि उन लोगों से सही उत्पादन के कार्य को समझ पाना कठिन है। जो उदाहरण के लिए, इस आधार पर गाय के दूध-उत्पादन का हिसाब रखने से इनकार कर देते हैं कि भगवान के उपहार का वजन करना या नापना अधर्म है। पंजाब के दूधियों ने घोषणा की कि हम यह नहीं करेंगे! यदि हमने ऐसा किया, तो हमारे बच्चे मर जाएंगे।

इस बीच मंदिर के पवित्र छोटे खराब सांडों से और भुखमरी से पीड़ित खराब सांडों से प्रजनन को छोड़कर, एक तीसरी शक्ति देश से श्रेष्ठ दुधारू गायों को भी हटाने का काम करती है; जिसकी दूध-आपूर्ति दुर्भाग्य से पहले से ही कम है। करनाल में सरकार ने अच्छे तरीके से साबित किया है कि गांव में प्रचुर मात्रा में दूध-उत्पादन करके शहरों में पहुंचाया जा सकता है; यहां तक कि हजारों मील दूर भी। और कलकत्ता की सहकारी डेयरियों ने तो नगरों से कस्बों तक स्थानीय सेवा भी शुरू कर दी है। किन्तु, भारतीय दूधियों को यह बकवास लगता है। उनका काम देहातों से सर्वश्रेष्ठ युवा दुधारू बछड़े वाली गायों को खरीदना और उनको शहर ले जाना है। वहां वह उनको तब तक रखता है, जब तक वह दूध देती है। वर्तमान (उसी सीजन के) स्तनपान के दौरान रखता है और उनके दूध को बढ़ाने के लिए अक्सर उनके अण्डाशयों को निकाल देता है और इसके बाद उन्हें कसाई को बेच देता है। इससे बड़े पैमाने पर अच्छी गायों की हत्या हो जाती है, जिसके चलते देश के विशाल संसाधन नष्ट हो जाते हैं।

भारतीयों का मानना है कि वे शहर में गर्मी के मौसम में जानवरों को पालने का खर्च नहीं झेल सकते और उन्हें कहीं और रखने की कोई योजना भी उनके पास नहीं है। इसलिए, वे उसे उसका दूध उत्पादन खत्म होने के बाद नष्ट कर देते हैं। क्योंकि, उसे पालने में ज्यादातर खर्च व्यर्थ जाता है और उसके गुण भी उसके साथ मर जाते हैं। [3]

सरकार ने पूरे देश में मुसलमानों के वार्षिक त्योहार के दौरान, जिसमें गाय की कुर्बानी दी जाती है; मुसीबत के लिए तैयार रहना सीख लिया है। उस अवसर पर हिंदू भावना खतरनाक मोड़ पर आ जाती है; जहां दंगों, खून-खराबे और तोडफोड़ की घटनाओं की हमेशा आशंका बनी रहती है। क्या हिंदू धर्म की जड़ में जो पवित्रता समाहित है, उसे उसके प्रशंसकों के बीच ही विधर्मियों ने नष्ट करने की कोशिश नहीं की है?

पर, संतुलनवादी होना कोई भारतीयों से सीखे; जो गांधी के यंग इंडिया, 5 नवंबर 1925 के इस उद्धरण से पता चलता है। मि. गांधी ने लिखा है– 'हम भूल जाते हैं कि मुसलमानों द्वारा कुर्बानी [4] के लिए मारी गई हजारों गायें व्यापार के मकसद से मारी जाती हैं। इन गायों के स्वामी हिंदू होते हैं। यदि ये हिंदू अपनी गायों को बेचने से मना कर दें, तो कसाइयों का यह व्यापार बंद हो जाएगा।'

इस मुख्य लेख के प्रकाशन के चार सप्ताह बाद मि. गांधी बंगाल और मध्य प्रांतों में काम कर रही इंडियन इंडस्ट्रियल कमेटी की रिपोर्ट से कुछ तथ्यों को उद्धृत करते हुए फिर इस विषय पर लिखते हैं। [5] गोमांस और खाल के लिए गायों को व्यावसायिक रूप से काटने पर सुनवाई हुई। जांच समिति इंडस्ट्री के आसपास मौजूद हिंदुओं के रवैये के संबंध में पूछती है– 'ये बूचड़खाने यहां के लोगों में क्या भावनाएं जगाते हैं?'

एक व्यक्ति उत्तर देता है–

> 'ये बूचड़खाने यहां के लोगों में लालच की भावनाएं जगाते हैं, क्रोध की नहीं। मुझे लगता है कि इन बाड़ों में आपको नगर पालिका के भी बहुत-से सदस्य साझेदार के रूप में मिल जाएंगे। इनमें ब्राह्मणों और हिंदुओं की भी साझेदारी मिल जाएगी।'

मि. गांधी के लेखक असहाय होकर कहते हैं– 'यदि संसार में नैतिकता का पालन करने वाली सरकार जैसी कोई चीज है, तो किसी दिन उसे इसका जवाब देना होगा।'

हिंदुओं द्वारा गाय को कसाई के हाथ बेचने का यह उदाहरण ऐसे विषय को उठाता है, जिसकी प्रत्यक्ष जांच के अलावा अन्य तरीके से भी जांच की जानी चाहिए। यदि हत्याएं करके दंगा भड़काने वाला व्यक्ति मुस्लिम है, तो संभवत: उसको हिंदू मंदिर के बाहर भी गाय काटने में गुरेज नहीं होगा।

हम पश्चिम के लोगों की यह खतरनाक गलतफहमी बनी हुई है कि भारतीय लोग कल्पना से किसी शब्द या विचार का जो चित्र मन में बना लेते हैं, वही उसके और हमारे लिए महत्वपूर्ण होता है। अंग्रेज अपनी सुविधा से हमें इस गलती में सहायता करते हैं। हम यह मानते हैं कि जैसी उसकी भाषा है, वैसा ही उसका विचार है। उदाहरण के लिए, वह कहता है कि वह सभी जीवों का सम्मान करता है और सभी जानवरों के प्रति स्नेह से भरा है। वह अमेरिका में बोलते हुए इस दिशा में हिंदुओं के संवेदनशील संस्कारों पर भाषण देता है और हमारी भौतिक सांसारिकता से अपनी अनिच्छा तथा अपनी महत्वपूर्ण धार्मिक एकता पर हमारी अनभिज्ञता के बारे में बताता है।

किन्तु, यदि आपको इन सादे शब्दों से यह लगता है कि भारत का औसत हिंदू पशु-जीवन के प्रति वह भाव दिखाता है, जिसे सहृदयता कहते हैं;

तो आप सच्चाई से दूर हैं।

मैंने एक दिन बैंगलोर के एक सरकारी फार्म के एक अनुभवी ब्राह्मण फोरमैन से कहा– 'मुझे पूरे भारत में यह देखकर दुःख होता है कि आप लोग बैलों और गायों की पूंछों को उनके जोड़ से मरोड़कर उनको बहुत यातना देते हैं। वहां उन बैलों को देखो, जो गाड़ी में जुते हुए हैं। इनमें हरेक की पूंछ कशेरुका से उखड़ी हुई है। आप जानते हैं कि इसकी वजह से उनको कितना दर्द होता है। और अक्सर उनकी पूंछ टूटकर छोटी हो जाती है।'

उस ब्राह्मण युवक ने बिना अफसोस किए जवाब दिया– 'हां, यह बिलकुल सच है कि हम ऐसा करते हैं। पर, मैं बताना चाहता हूं कि ऐसा करना जरूरी है। अगर हम इनकी पूंछों को नहीं मरोड़ेंगे, तो ये जानवर तेज नहीं दौड़ पाएंगे।'

अगर आप कलकत्ता के व्यस्त हावड़ा ब्रिज पर घंटे भर खड़े हो जाएं और वहां से गुजरती हुई बैलगाड़ियों को देखें, तो आप ऐसे दर्जनों जानवर देखे बिना नहीं रहेंगे, जिनकी पूंछें टूटी-फूटी और टेढ़ी-मेढ़ी न हों। आप आसानी से देख सकते हैं कि इन जानवरों की पूंछ उनको हांकने वाले चालकों के हाथ में होती है, जो समय-समय पर उसके जोड़ों को मरोड़ते रहते हैं। उन्हें जानवरों को डंडे से पीटने से उनकी पूंछ मरोड़ना ज्यादा आसान लगता है। यदि आप बैलगाड़ी की सवारी करते हैं, तो गाड़ीवान के साथ बैठकर उसे अपने सामने गाड़ी चलाते हुए देखें। तब आपको पता चलेगा कि वह किस तरीके से गाड़ी की चाल तेज करता है– अपने डंडे से या अपने पैर के लंबे नाखून से, जिसे वह समय-समय पर अपने जानवर के जननांग में चुभोता है।

और देश में केवल विदेशी ही इसका विरोध करेंगे।

यह भारत की अजीब पहेली है कि बैल ही जिस व्यक्ति की श्रेष्ठ संपत्ति है, वह जान-बूझकर उन्हीं पर ज्यादा बोझ लादता है। और उसके बाद यदि वह भूखा है, तो भी वह उसे उसी स्थिति में तब तक गाड़ी में जोते रहेगा, जब तक कि वह गिरकर मर नहीं जाता। मद्रास की खड़ी पहाड़ियां भारवाहक बैलों के लिए फांसी की जगह है। कोई भी उनको देख सकता है कि किस तरह सिर से पूंछ तक घावों और मार से लहूलुहान उन बैलों को बलपूर्वक पहाड़ियों पर चढ़ाया जाता है, जब तक कि वे नीचे गिरकर मर नहीं जाते। यदि कोई अंग्रेज अधिकारी इसे या ऐसी ही किसी अन्य क्रूरता को देखता है, तो वह उस पर कार्रवाई करता है। पर, देश में ऐसे अंग्रेज अधिकारी कम हैं। अभी तक कुछ ही ऐसे भारतीय हैं, जिनकी संवेदनाएं उन मूक जानवरों की तकलीफों से आहत होती हैं या जिनका क्रोध असहाय जानवरों पर किए गए जुल्म से भड़कता है।

भारत के अधिकांश भागों में एक 'फूंका' प्रथा प्रचलित है। इसका उद्देश्य गायों में दूध उत्पादन की क्षमता को बढ़ाना है। इसके कई तरीके हैं। पर, सामान्य तरीका यह है कि एक डंडे पर पुआल बांधकर उसे गाय की योनि में घुसेड़ा जाता है और जलन उत्पन्न करने के लिए उसे अंदर चारों ओर घुमाया जाता है। यह गाय के भीतर दर्द पैदा करता है और उसे बांझ भी बना देता है। पर इससे डेयरी वालों को इसलिए कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि अगर वह दूध देना बंद कर देगी, तो वह उसे कसाई को बेच देगा। मि. गांधी प्रमाण के साथ बताते हैं कि कलकत्ता डेयरी शेड में 10 हजार गायों में से पांच हजार गायें रोज इसी प्रक्रिया की शिकार होती हैं। [6]

मि. गांधी एक और प्रथा का उल्लेख करते हैं, जो रंगीन मूत्र बनाने की प्रथा है और जिसे भारतीय लोग 'प्यूरी' कहते हैं– [7]

> 'गाय को केवल आम के पत्ते खिलाकर रखा जाता है। इसके सिवा उसे न कोई अन्य खाना दिया जाता है और न पीने को पानी। इसके बाद गाय से जिस रंग का मूत्र निकलता है, उसे ऊंची कीमत पर बाजार में बेचा जाता है। इस प्रथा से जानवर ज्यादा समय तक नहीं जी पाता और पीड़ा से मर जाता है।'

जवान दुधारू गाय को जब शहर ले जाया जाता है, तो आमतौर पर उसके बछड़े को भी साथ रखा जाता है। हिंदू ग्वाला बछड़े को नहीं चाहता है। पर, उसके धर्म में उसकी हत्या करना भी पाप है। इसलिए, वह उसकी हत्या के पाप और उसे पालने के बोझ दोनों से छुटकारा पाने के लिए दूसरा तरीका अपनाता है। वह तरीका यह है कि देश के कुछ भागों में वह बछड़े को उसकी मां का एक-चौथाई से लेकर आधा कप दूध ही पीने देता है। क्योंकि, उसका धर्म कहता है कि जो गाय से बछड़े को दूर रखता है, वह अगले जन्म में दुःख भोगता है। किन्तु, जिस छूट से गाय-स्वामी की आत्मा को मुक्ति मिलती है, वह भी उस बछड़े की रक्षा के लिए बहुत कम है, जो दरवाजे-दरवाजे दूध के वास्ते अपनी मां के आसपास तब तक लड़खड़ाता रहता है; जब तक उसकी कांपती टांगें उसे संभाले रखती हैं। जब अंत निकट आता है, तब मालिक उस नन्हें प्राणी की खाल निकलवाकर, उसमें पुआल का भूसा भरवाकर सिलवा देता है, जो उसे सिलता है, वह चार डंडे लगाकर उसकी टांगें बना देता है। और जब अगले दिन वह गाय को दोहने के लिए जाता है, तो हाथ से बनाए गए बछड़े के पुतले को अपने कंधे पर रख लेता है। इसके बाद जब वह ग्राहक के दरवाजे पर दूध के लिए रुकता है, तो वह बछड़े के पुतले को गाय के सामने खड़ा कर देता है। इसके अलावा बड़े कारखानों में तो नवजात बछड़ों को सुबह ही डेयरी के दरवाजे पर कूड़ा उठाने वाली गाड़ी में फेंक दिया जाता है और वह गाड़ी उनको ले जाकर कूड़ाघर में डाल देती है; जहां वे कचरे के ढेर में अपनी अंतिम सांस लेते हैं।

फिलीपींस की केराबाव जल भैंसें भारत में बेहद उपयोगी प्राणी हैं। दिल्ली नस्ल की अच्छी भैंसें छह से 10 हजार पाउण्ड तक प्रतिवर्ष दूध देती हैं, जिसमें 7.5 से 9 प्रतिशत मक्खन होता है। गाड़ी और हल के लिए भैंसा भी एक शक्तिशाली जानवर बना हुआ है। किन्तु, यह प्रजातियों को बढ़ाने के लिए खर्चीला है। इसलिए, दूध व्यापारियों के लिए यह सामान्य बात है कि वे अपने लबारों (भैंस के नर बच्चों, जिसका एक नाम कटरा भी है) को भूखा रखकर मार देते हैं। इस तरह के अनेक प्रमाण 'यंग इंडिया' [8] में दिए गए हैं, जिनमें से एक यहां प्रस्तुत है–

> 'असंख्य कटरों को सड़कों पर भूख से मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। और बहुधा जब वे थककर नीचे गिर जाते हैं, तो ट्राम, मोटर कार और अन्य गाड़ियों से कुचलकर अपंग हो जाते हैं। सामान्यत: भैंसों के दूध को बिक्री हेतु बचाने के लिए उनके कटरों को रात में पशु-शालाओं से भगा दिया जाता है।'

अन्यथा, कटरे को उस जगह पर कहीं भी एक खूंटे से बांध दिया जाता है और खाना-पानी दिए बगैर उसे ऐसे ही छोड़ दिया जाता है, जिससे वह भूख-प्यास से तड़पकर मर जाता है।

जल-भैंसों में पसीने की ग्रंथियां न होने से वे सूरज की गर्मी में बहुत परेशान रहती हैं और इसलिए उनको असुरक्षित स्थिति को सहने के लिए कभी बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। 'यंग इंडिया' में एक अन्य लेखक कहता है– 'हर किसी को पता होता है कि (भूखे लबारों को) आमतौर पर उस जगह पर बांधा जाता है, जहां सबसे ज्यादा धूप होती है। आमतौर पर दूधिये अपने पशुओं के लबारों को मारने के लिए यही तरीका अपनाते हैं।'

उसके बाद शहरी दूधियों से देश के मालिकों तथा देश के क्षेत्रों की ओर मुड़ते हुए मि. गांधी हमारे सामने यह तस्वीर रखते हैं– [9]

> 'गुजरात (उत्तरी बॉम्बे प्रेसीडेंसी) में, बछड़े को बस दूध देना बंद करके भूखा रखा जाता है। देश के दूसरे भागों में उसे हिंसक जानवरों का शिकार बनने के लिए जंगलों में छोड़ दिया जाता है। बंगाल में बहुधा उसे जंगल में ले जाकर बांध देते हैं और बिना खाना डाले छोड़कर आ आते हैं, जहां वह या तो भूख से मर जाता है या जंगली जानवर का आहार बन जाता है। और ऐसा काम वे लोग करते हैं, जिन्हें उनके धर्म में किसी भी जानवर को मारने की अनुमति नहीं है। यहां तक कि तब भी नहीं, जब वह अत्यधिक पीड़ा में हो।'

इसमें भी ग्रामीणों को यह याद दिलाया जाता है कि उनकी गायों का यही भाग्य है कि जब वे बीमार या इतनी बूढ़ी हो जाएं कि किसी भी काम की न रह जाएं, तो उन्हें गांव के बाहर छोड़ दिया जाता है। वहां बीमारी और भूख से वे इतनी अशक्त हो जाती हैं कि उनके खुर और सींग भी उनकी सुरक्षा नहीं कर पाते और गांव के भूखे कुत्ते उन्हें नीचे गिराकर नोच-नोचकर खत्म कर देते हैं।

निश्चित रूप से कोई पश्चिमवासी पर्यटक भी उन कुत्तों को देखे बिना भारत से नहीं गुजरा है। वे हर रेलवे प्लेटफार्म पर घूमते-फिरते दिख जाते हैं। कार की खिड़कियों के नीचे छिपते हैं। उन्हें लगता है कि वे अपने शोध के बाहर कोई बुरा सपना देख रहे हैं– सारी हड्डियां धंसी हुईं और जगह-जगह घाव, डरावनी आंखें, जिनमें धूर्त-चालाकी है, जिन्हें देखकर दुःख भी होता है और घृणा भी। उनके झुंड पूरे देश में मौजूद हैं और उनमें हमेशा वृद्धि होती रहती है। नगरों में वे गायों और बकरियों के साथ बाजारों की दुकानों और नालियों में गंदगी के लिए लड़ते हैं। गंदगी और कीड़े-मकोड़ों को खाकर वे अक्सर पागल हो जाते हैं। पागलपन की बीमारी उन्हें रात में शहर में घूमने वाले पागल सियारों के काटने से उनके दांतों से प्राप्त होती है।

और हिंदू धर्म के अनुसार, उनके लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता। उनके जन्म दर में वृद्धि को नहीं रोका जा सकता, उनकी संख्या को कम नहीं किया जा सकता। और चूंकि कुत्ते का स्पर्श दूषित होता है, इसलिए उनके घावों और टूटी हड्डियों का उपचार भी नहीं किया जा सकता।

इस संबंध में एक रोचक बहस हाल ही में 'यंग इंडिया' में प्रकाशित हुई है। [10] जिस घटना ने इस बहस को जन्म दिया, वह यह थी कि अहमदाबाद के एक मिल मालिक के परिसर से 60 पागल कुत्तों को पकड़कर मार दिया गया था। उनके मारने का आदेश स्वयं मिल मालिक ने दिया था, जो हिंदू था। इस घटना ने नगर में लोगों की भावनाओं को आहत कर दिया था और 'हिंदू ह्यूमैनिटेरियन लीग' ने इस मामले को धर्म के विशेषज्ञ के रूप में धर्म संकट की दृष्टि से विचार करने के लिए मि. गांधी के पास भेज दिया था। लीग ने उनसे पूछा था–

> 'जब हिंदू धर्म में किसी भी जीव की हत्या करना मना है, तो क्या आपकी दृष्टि में पागल कुत्तों की हत्या करना उचित है? जिसने कुत्तों की हत्या की और जिसके कहने पर ये हत्याएं की गईं, क्या वे दोनों व्यक्ति पापी नहीं हैं? अहमदाबाद नगर पालिका भी शीघ्र ही आवारा कुत्तों का बंध्याकरण करने का प्रस्ताव ला रही है। क्या हमारा धर्म किसी जानवर का बंध्याकरण करने की स्वीकृति देता है?'

इन प्रश्नों पर हिंदू वैचारिकी से मि. गांधी का उत्तर इस प्रकार है–

> 'सचमुच इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि हिंदू धर्म जीवित प्राणी की हत्या को पाप मानता है। इसी हिंदू धर्म ने यह भी निर्धारित किया है कि बलि के लिए की गई पशु की हत्या में कोई हिंसा नहीं है। जो अपरिहार्य है, उसे हिंसा नहीं माना गया है। इतना तक कि बलि देने के क्रम में जो अपरिहार्य हिंसा होती है, व्यावहारिक विज्ञान उसकी न केवल अनुमति देता है; बल्कि उसको सही भी मानता है। किन्तु, जो व्यक्ति अपनी निगरानी में प्राणियों की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है और जिसमें घावों को ठीक करने के लिए भावना और गुण नहीं है; वरन पागल कुत्ते को मारने की क्षमता है, उसे अपने कर्तव्यों से संघर्ष करना पड़ता है। यदि वह कुत्ते को मारता है, तो पाप करता है। यदि वह कुत्ते को नहीं मारता है, तो उससे बड़ा पाप करता है। इसलिए उसने कम पाप के पहले विकल्प को चुना। इसलिए यह असंख्य दुःख का विषय है कि आवारा कुत्तों आदि के मारने का प्रश्न भी इस पवित्र भूमि पर अहिंसा का अंश माना जाता है। पागल कुत्तों और उन जैसे दूसरे जानवरों को—जो रेबीज के लिए जिम्मेदार हैं—मारना एक पाप हो सकता है। पर, यह अगर पाप है; तो आवारा कुत्तों को भोजन न देना भी पाप होना चाहिए।'

अहिंसा की भूमि पर सबसे बड़ा पाप एक भूखे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा डालना है या उसे दुःख से बचाने के लिए मारने में है। पर, मि. गांधी बाद के विकल्प को सही मानते हैं, जिसमें भले ही जानवर पागल हो। उनके इस कथन के कारण उन्हें हिंदुओं के भारी विरोध का सामना करना पड़ रहा है और वे इसके नीचे दबकर कराह रहे हैं।

अब चूंकि एकमात्र उपाय बंध्याकरण का रह जाता है; जिस पर इसलिए धार्मिक प्रतिबंध है, क्योंकि यह जीवन के निर्दिष्ट चरणों को विकसित होने से रोक देता है। इसलिए, भारत के बहुत-से दूसरे दुःखों की तरह कुत्ते के दुःख भी वृत्ताकार चक्कर काटते रहते हैं।

---

[1] 2.15 पाउण्ड दूध से एक क्वार्ट बनता है।
[2] दि गॉस्पेल एंड दि पिलो, लंदन, 1921, सेमुएल हिग्गिनबाटम, पृष्ठ-69
[3] डब्ल्यू. स्मिथ, इम्पीरियल डेयरी एक्सपर्ट, इन एग्रीकल्चरल जरनल ऑफ इंडिया, वॉल्यूम-XVII, पार्ट-I, जनवरी, 1922
[4] एक वार्षिक मुस्लिम त्योहार।
[5] यंग इंडिया, 26 नवंबर 1925, पृष्ठ-416
[6] यंग इंडिया, 6 मई 1926, पृष्ठ-166, 167
[7] वही, पृष्ठ-167
[8] वही।
[9] वही।
[10] अक्टूबर और नवंबर, 1926। 11 नवंबर 1926 के अंक में अहमदाबाद के सिविल अस्पताल में हाईड्रोफोबिया के मामलों में किए गए इलाज के आंकड़े इस प्रकार हैं— जनवरी से दिसंबर 1925 तक 1117 तथा जनवरी से सितंबर 1926 तक 990

अध्याय **19**

दया का भाव

मि. गांधी के कार्यालय के एक विश्वासपात्र सेवक अफसोस जताते हैं—'हम गोरक्षक होने का दिखावा करते हैं और उसके नाम पर मुसलमानों से झगड़ा करते हैं, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि गायों की स्थिति पहले से भी बदतर हो गई है।'[1] उनका यह भी कहना है– 'हमें अपने आध्यात्मिक होने के बावजूद अफसोस होता है कि हम अभी भी निरीह जानवरों के प्रति मानवीयता और दया भाव के मामले में पिछड़े हुए हैं।' [2]

जानवरों के प्रति क्रूरता रोकने वाला कानून भारत में ब्रिटिश ताज के शासन के आरंभिक वर्षों में लागू हुआ था। पर, इस तरह के कानून को मानना कहीं भी जनता की राय पर निर्भर करता है और इस विषय में मि. गांधी के अखबार की आवाज ऐसा अरण्यरोदन है, जिसकी गूंज जन-जागरण के लिए बहुत कमजोर है। यदि लोगों में दया का भाव ही पैदा नहीं है। और यदि पुलिस को ही निजी तौर पर लोगों को कानून मनवाने के लिए तैयार करने देना है, तो यह मूर्खतापूर्ण विचार है। संभवत: इस अधार्मिक कानून का सबसे बड़ा गुण यही है कि यह पुलिस को अपनी जेबें भरने का अवसर देता है और यदि उच्च वर्गों में भी कोई भावना नहीं है, तो तत्काल राहत पहुंचाने का सरकार का उद्देश्य वास्तव में निरर्थक है।

भारत में पशुओं के प्रति क्रूरता रोकने के कानून सामान्यत: सरकारी विधेयकों के रूप में आरंभ हुए हैं। चाहे केंद्रीय शासन हो या प्रांतीय, जानवरों को मानवीय क्रूरता से बचाने के लिए जो उपाय अपनाए गए हैं, वे भारतीय नेताओं की उदासीनता की वजह से अपनाए गए हैं; न कि उनके प्रति शत्रुता के कारण।

इसी प्रकार एक विधेयक 16 मार्च 1926 को सरकार ने बंगाल की विधान परिषद में पेश किया था, जो गर्मियों के दिनों में भैंसों पर भारी बोझ लादकर ले जाने को सीमित करता है। कलकत्ता की सड़कों पर भारी बोझ ढोने वाले भैंसों के कष्टों को इतने लंबे समय से देखा जा रहा था कि उसने पश्चिमी भावनाओं को सार्वजनिक निंदा के लिए प्रेरित कर दिया था। किन्तु, जानवरों को बोझ से राहत देने वाला यह प्रस्ताव अंतत: भारत के उन प्रमुख व्यापारियों के विरोध के बावजूद कानून में बदल गया था, जो उनके व्यापार में असुविधा पैदा कर रहा था और उस जानवर के प्रति एक कोरी भावुकता थी।

गर्वनर जनरल और प्रांतीय कानूनों ने 'फूका' को भी—जिसमें कुछ ज्यादा पैसों के लिए जान-बूझकर रोज गायों को यातना दी जाती है—प्रतिबंधित करके दंडनीय अपराध करार दे दिया है। मि. गांधी ने अपने 'यंग इंडिया' में 'फूका' के विरुद्ध एक अंग्रेज के प्रतिरोध को प्रकाशित किया है। [3] किन्तु, यदि इसके विरुद्ध हिंदू भावना किसी भी बड़े पैमाने पर मौजूद है, तो वह भावना इसे व्यवहार में आगे बढ़ाने के लिए अपर्याप्त है।

1926 में बंबई प्रेसीडेंसी की सरकार ने बंबई विधान परिषद में बंबई नगर के उस पुलिस कानून में—जो पुलिस अधिकारियों को किसी भी जानवर को, चाहे वह जख्म से या बीमारी से पीड़ित हो, मारने का अधिकार देता था—एक बड़ा संशोधन प्रस्ताव [4] यह प्रस्तुत किया था कि उसे डिस्पेंसरी न ले जाने का प्रयास करना सरासर क्रूरता होगी। पशु मालिकों के हित में इस विषय में फिर से यह संशोधन किया गया कि यदि पशु मालिक अनुपस्थित है या वह पीड़ित जानवर को मारने के लिए सहमति देने से इनकार करता है, तो पुलिस अधिकारी को उसके पशु को मारने की कानूनी कार्यवाही करने से पूर्व गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा नियुक्त किए गए पशु चिकित्सक से प्रमाण-पत्र लेना होगा।

इस तरह के कानून के बनने में भारतीयों की कोई भूमिका नहीं रही है। सब जानते हैं कि किस तरह गायों और बछड़ों को सड़कों पर छोड़ दिया जाता है और जब वे मर जाते हैं, तो उनकी मौत को स्वाभाविक मौत कहा जाता है। जब उनकी शक्ति खत्म हो जाती है, तो वे चलने-फिरने में भी असमर्थ हो जाते हैं। और अंतत: अक्सर कुछ वाहनों के नीचे दबकर मारे जाते हैं।

बंबई सरकार द्वारा राहत के प्रस्ताव पर कराई गई बहस ने सोचने के भारतीय तरीके पर इतना अधिक प्रकाश डाला है कि कुछ हद तक उनके उद्धरण उचित हो सकते हैं। एक हिंदू सदस्य मि. एस.एस. देव ने उपायों का परिचय देते हुए कहा– [5]

> 'इस बिल का सिद्धांत भारतीय मन में विद्रोह कर रहा है। इस तरह की परिस्थितियों में यदि आप आदमी को गोली नहीं मार सकते, तो पशुओं की पीड़ा को रोकने के नाम पर किसी जानवर को कैसे गोली मार सकते हैं? और अगर यह बिल कानून बन गया, तो हो सकता है कि इस तरह की हत्याएं सार्वजनिक सड़कों पर सचमुच फसाद पैदा कर देंगी।'

उसके बाद पश्चिमी सिंध के मि. पहलाजनी ने भी यही बात कही– [6]

> 'इस कानून में ऐसा कोई अपवाद नहीं रखा गया है कि वह जानवर गोया गाय है या घोड़ा है या कुत्ता है। इस तरह तो पुलिस पशु चिकित्सक से प्रमाण पत्र लेकर किसी भी पशु को मार सकती है। काउंसिल के ब्रिटिश सदस्यों को यह जानना चाहिए कि—उनमें से कुछ तो यहां लगभग 30 वर्षों से काबिज हैं—कोई भी हिंदू किसी भी हालत में गाय को मारने की इजाजत नहीं देगा। कुछ 'पिंजरापोल' [7] हैं, जिनमें बीमार जानवरों को रखकर उनकी देखभाल की जाती है। यह (उपाय) इस धारणा पर आधारित है कि जानवरों में कोई आत्मा नहीं होती है और वे यदि जीने की स्थिति में नहीं हैं, तो उन्हें गोली मारी जा सकती है। किन्तु, आत्मा के संबंध में हिंदुओं का विचार पश्चिम के चिंतन से बिलकुल भिन्न है। इस तरह के उपाय से हिंदुओं की धार्मिक भावनाएं आहत होंगी।'

इस घोषणा के बाद सरकार के सचिव मि. मोंटगोमरी ने शहर के रोजमर्रा के जीवन से यह चित्र प्रस्तुत किया– [8]

> 'मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि माननीय सदस्य जो कह रहे हैं, उसका क्या अर्थ है? क्या उन्हें बंबई की सड़कों पर ऐसे जानवरों को देखना अच्छा लगता है, जिनकी आंतें निकली हुई हैं, टांगें टूटी हुई हैं और शरीर से खून टपक रहा है? वास्तव में तो जानवर पर दया करना उसको पीड़ा से आजाद करना है। और यह निर्दयता होगी कि उसे पीड़ित रहने दिया जाए और उसके कुचलकर टुकड़े-टुकड़े होने की आशंका के बाद उसे हटाया जाए।'

किन्तु, हर भारतीय केवल भावना आहत होने के आधार पर इस उपाय की निंदा करता है, जबकि एक सदस्य मि. सोमन इसमें खर्च के सवाल उठाते हैं। क्योंकि, यह बिल स्थानीय पुलिस से काम लेने के लिए सरकार को पशु चिकित्सकों की नियुक्ति करने का अधिकार देता है। मि. सोमन समझते हैं कि इसमें जनता के पैसे पर पड़ने वाला भार पीड़ित पशु के इलाज पर होने वाले खर्च से ज्यादा है। जैसा कि वे कहते हैं– [9]

> 'यदि कोई उदार विचार वाला चिकित्सक पुलिस अधिकारियों की मदद के लिए आगे आता है, तो ज्यादा बेहतर है। किन्तु, यदि इसके लिए कुछ नई नियुक्तियां जनता के धन से की जाएंगी, तो मैं निश्चित रूप से इस बिल का विरोध करूंगा।'

और दिन भर की बहस का जो परिणाम निकला, उसे कैरा के सदस्य राय साहब डी.पी. देसाई ने इस तरह व्यक्त किया– [10]

> 'सारी कठिनाई दया की दो विरोधी विचारधाराओं के कारण पैदा होती है। बिल के निर्माता उस जानवर को गोली मारने की बात करते हैं, जो बीमार है और ठीक नहीं हो सकता। दूसरी ओर हम यह सोचते हैं कि जो भी होने वाला है, उसे भगवान ही तय करता है।'

तीन महीने बाद बिल पुन: चर्चा के लिए लाया गया। [11] इस बार सरकार के मुख्य सचिव मि. हॉट्सन ने भारतीयों का विश्वास जीतने की कोशिश की। वह कहते हैं– [12]

> 'इस बिल का एक उद्देश्य उन जख्मी जानवरों की समस्या से निपटना है, जो पीड़ा की अवस्था में गलियों और सार्वजनिक सड़कों पर पड़े कराहते रहते हैं और जिनके लिए कोई राहत नहीं है। या तो इन जानवरों के मालिक उन्हें वहां से हटाएं या वे उन्हें पशुशालाओं में ले जाएं, जहां उनका इलाज और देखभाल हो सके। यह कानून केवल उन मामलों में लागू होगा, जहां जानवर उपेक्षित-सा पीड़ा भोग रहा है और जहां आप बातें कर रहे हैं, उस बंबई की सड़कों और गलियों में ऐसे जानवर कई घंटों तक पड़े रहते हैं और शायद मौत ही उन्हें राहत देती है। इस तरह की स्थिति में किसी जानवर का ऐसे सार्वजनिक स्थान पर होना, जहां बंबई जैसे महानगर में बहुत से राहगीरों का गुजरना होता है, उससे सभी वर्गों के लोगों को परेशानी होती है। और यह न केवल वांछनीय है कि ऐसे जानवरों को हटाया जाए, बल्कि ऐसी जगहों के कारण आने-जाने वालों को होने वाली परेशानियों से भी बचाया जाए। इसी सबको पाने के लिए यह बिल लाया गया है।'

किन्तु, हिंदू अपने दृष्टिकोण पर अडिग रहे। जब तक वे पुरानी बहस [13] आगे बढ़ाते, उन्होंने वर्तमान में बंबई सरकार में कृषि मंत्री अली मोहम्मद खां देहलवी को उत्तेजित कर दिया। उन्होंने किसानों के हित में चिंता व्यक्त करते हुए कहा– [14]

> 'पिछले सत्र में यह तर्क दिया गया था कि सभी जानवरों में आत्मा होती है। सो, उन्हें नहीं मारा जाना चाहिए। इस सदन में विपक्षी सदस्यों द्वारा इस बात को लेकर मुझे बहुत बार घेरा गया है कि मैंने किसानों के हित में पर्याप्त कदम उठाए हैं और हाथियों, जंगली सूअरों और चूहों को मारने के लिए पर्याप्त धन खर्च नहीं किया है।'
>
> 'अब यदि यह आत्मा को मारने का सवाल है, तो मैं समझता हूं कि हाथी की आत्मा सूअर की आत्मा से बड़ी है और सूअर की आत्मा चूहे की आत्मा से बड़ी है। अगर यही सिद्धांत कृषि विभाग पर लागू किया गया, तो मुझे इन जानवरों को मारने से रोकने के लिए कहा जाएगा। इसका परिणाम यह होगा कि इस देश के किसान बहुत ज्यादा परेशान हो जाएंगे। इसलिए, महोदय! मैं कहता हूं कि इन दोनों मामलों– बंबई जैसे नगरों की सड़कों के जानवरों और खेतों या देश के बाहर जंगलों के जानवरों में कोई अंतर नहीं है।'

किसानों के लिए कृषि मंत्री की चिंता और उनके विशेष आरोप, भारतीय राजनेताओं का मानवता के प्रति फिर उसी सामान्य रवैये को उजागर करते हैं, जो भारत के लोगों के 72 प्रतिशत से अधिक का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्पष्ट रूप से राय साहब पी.डी. देसाई उनके मामले को खत्म करते हुए कहते हैं– [15]

> 'किसानों को संपूर्ण भारतीय समाज के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। किन्तु, फिर भी अगर किसान यह सोचते हैं कि उन जानवरों को—जो खेती के लिए खतरनाक हैं—मारा जाना वांछनीय है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि पूरा हिंदू समाज किसानों के इस मत से सहमत है और मैं समझता हूं कि इस सदन में ऐसे विचार को कोई महत्व भी नहीं दिया जाना चाहिए।'

दिन भर की बाकी बहस में सरकार के प्रयास की निंदा और व्यर्थ की आलोचना के सिवाय कोई नया विचार उभरकर नहीं आया। अलबत्ता, मध्य प्रांत के मुस्लिम सदस्य मौलवी रफीउद्दीन अहमद ने यह बुद्धिमत्ता की बात जरूर कही– [16]

> 'भारत में महामहिम की प्रजा के किसी भी वर्ग की भावनाओं को आहत करना सरकार की दूर तक मंशा नहीं है। अगर इस बिल के कानून के बजाय किसी अन्य तरीके से कुछ किया जा सकता है, तो मैं समझता हूं कि सरकार भी उन तरीकों को खुशी-खुशी अपना लेगी; -जहां तक मुझे पता है। क्योंकि, मैं लंबे समय से इस सदन में हूं। ऐसा कोई भावात्मक मुद्दा नहीं है, जिस पर सरकार ने कभी विचार न किया हो और इसके लिए मैं उसकी प्रशंसा करता हूं। यदि सरकार से कोई भी गलती हुई है, तो इस सदन में हिंदू और मुसलमान दोनों ने मिलकर, सरकार का विरोध किया है और अनेक अवसरों पर सरकार ने हमारी बात मानी भी है। इसलिए, यहां आकर खाली सिर हिलाने का कोई अर्थ नहीं है। कुछ सुझाव भी देने चाहिए। आलोचना करना बहुत आसान है। पर, आलोचना के समय हमें कुछ बेहतर तरीके भी सरकार को सुझाने चाहिए। मेरी यह अपील उन सभी सदस्यों से है, जिन्होंने आपत्तियां उठाई हैं कि सरकार का तर्क काफी स्पष्ट है।'

'क्या आप सरकार के प्रवक्ता हैं?' –एक हिंदू सदस्य ने उत्तेजित होकर पूछा।

उस मुस्लिम सदस्य ने जवाब दिया– 'मैं हर उस व्यक्ति का प्रवक्ता हूं, जिसके साथ यह सदन चिंतित है। लेकिन, मैं फिर कहता हूं कि आपका विरोध पूरी तरह गलत है।'

किन्तु, उसकी अपील का कोई असर नहीं हुआ। बल्कि, उसके विपरीत एक हिंदू सदस्य ने कठोरता से कहा कि यदि संयोग से कोई मुस्लिम पशु चिकित्सक नियुक्त कर दिया गया और उसने रोगग्रस्त गाय को मारने का अनुमोदन दे दिया; तो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच शहर की जो शांति है, वह भंग हो जाएगी। और इस तरह इस बहस का अंत बिल को सदन की चयन समिति को सौंपे जाने की सहमति पर हुआ; जिसमें हिंदू, मुसलमान और पारसी सहित नौ भारतीयों के अतिरिक्त दो अंग्रेज भी शामिल थे।

इस बिल के दूसरे पाठ में— [17] जिसमें सरकार के मुख्य सचिव मि. हॉट्सन ने टिप्पणी की है कि समिति ने अब तक हमारे किसी भी भाई को दोष देने से बचने का काम किया है—हम पाते हैं कि बिल की उपयोगिता को कूटनीतिक शब्दावली से कमजोर कर दिया और बिगाड़ दिया गया है।

अब प्रस्तावित कानून में गाय और बैल वर्जित पशु हो गए हैं और मंदिर के अहाते भी इसकी पहुंच से बाहर हैं। वहां अब कुछ भी हो सकता है। फिर भी किसी भी प्रकार के एक भी रचनात्मक प्रस्ताव के बिना हिंदू विरोध चल रहा है। सदस्यों का आग्रह यह है कि कानून अगर समाप्त नहीं किया जाता है, तो विलंबित पड़ा रहे। पर, सरकार किसी भी आग्रह को मानने में उतावली है। उनके लिए जानवरों की पीड़ा इतनी महान नहीं है कि सहानुभूति की आवश्यकता को सिद्धांत बना दिया जाए और हर हालत में हिंदू पुलिस कर्मियों को जानवरों को गोली मारने के काम से मुक्त रखा जाए। क्योंकि, ऐसा करना उनके धर्म के विरुद्ध है और मुसलमान अधिकारी इस द्वेषपूर्ण भेदभाव से बचने के लिए वैसे ही मुक्त होने का दावा कर सकते हैं। क्योंकि, भारतीय अधिकारी बंदूक चलाने में निशाने से भटक जाते हैं। इसलिए 'निशानेबाजी में अचूक' ब्रिटिश पुलिस सारजेन्ट से यह कार्य कराया जाए। बंबई शहर से हिंदू सदस्य मि. सुर्वे अंतिम सुझाव के समर्थन में कहते हैं–

> 'एक अपंग जानवर को मारना, जो अपने आप ही मर रहा है, एक तरह का कसाईपन है और यह काम हम नहीं कर सकते। क्योंकि, यह हमारा शौर्य नहीं है।' [18]

इसलिए कम-से-कम इस समय तो, गाय को उसकी पूजा करने वालों से बचाने की सरकार की कोशिश विफल ही हो गई है। अपने हित में लाभ उठाने वाले मुख्य तत्त्वों को छोड़ दिया गया और बिल को पास कर दिया गया। अभी तक सरकार ने भारतीयों का समर्थन पैदा करने के

लिए बहस को पूरे धैर्य और शालीनता से आगे बढ़ाया था। और इस तथ्य के मद्देनजर कि इसके पीछे उनके दिमागों में आत्मा के आवागमन का प्रचलित सिद्धांत काम कर रहा है। हालांकि, उसके फल की बातें इतनी सूक्ष्म हैं कि उसका एक अंश भी अभी दूर है।

1890 में गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल ने पशु क्रूरता निवारण अधिनियम को पारित किया था, जिसके सेक्शन-5 में किसी भी पशु की क्रूर तरीके से हत्या करने का निषेध किया गया है। लेकिन, 1917 में सेक्शन-5 के उद्देश्य को फिर से स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस हुई, जो जान-बूझकर क्रूरता से बकरी को मारने वालों पर या मरी हुई बकरी की खाल रखने वालों पर लागू होता है। यही कानून प्रांतीय सरकारों ने भी लागू किए हैं। लेकिन, अभी तक वे सारे अपराध देश में लगातार जारी हैं, जिनके विरुद्ध ये उपाय किए गए हैं।

जिंदा बकरियों की खाल निकाली जा रही है।

जिंदा बकरी से उधेड़ी हुई खाल खींचकर बड़ी की जा सकती है, जिसकी वजह से मरी हुई बकरी की उधेड़ी गई खाल की अपेक्षा जिंदा बकरी की उधेड़ी हुई खाल की कीमत ज्यादा मिलती है।

इस विषय पर कदाचित विस्तार से बताने की जरूरत होगी। वर्ष 1925 में बिहार और उड़ीसा प्रांत में जिंदा बकरी की खाल उधेड़ने के ऐसे 34 मामले पुलिस द्वारा अदालत में लाए गए थे। पर, उससे भारतीय जजों की भावनाएं जरा भी आहत नहीं हुईं। और उन्होंने केवल हल्का जुर्माना लगाकर अपराधियों को छोड़ दिया। जुर्माना भरकर वे शीघ्र ही अन्य जिंदा बकरियों की खालों को उधेड़ने तथा उन्हें और भी ज्यादा कीमत पर बेचने के लिए फिर से काम पर लग गए। अभियोजन पक्ष का जोखिम कम है और प्रांतीय पुलिस प्रशासन की रिपोर्ट कहती है– 'हर तरह से यह माना जाता है कि प्रस्तुत मामलों में इस अत्याचार का कोई एक मापदंड निर्धारित नहीं किया गया है।' इस तरह से उधेड़ी गईं बहुत-सी खालें अमेरिका भेजी जाती हैं।

ब्रिटेन लगभग तीन-चौथाई सदी से आदर्श एवं शिक्षा के द्वारा इस विदेशी जमीन पर दया के अपने विचारों को लोगों के मनों में बैठाने के लिए काम कर रहा है। इसमें और बेशुमार दूसरी दिशाओं में वह अपने सीधे संपर्क वाले क्षेत्रों में बल का प्रयोग करके शायद इससे ज्यादा स्पष्ट परिणाम दे सकते हैं। किन्तु, उनके प्रशासनिक सिद्धांत का रचनात्मक महत्व बल प्रयोग से कानून का पालन करवाने में निहित है; जहां मूल सिद्धांत को अभी तक नहीं समझा गया है। और यह देखते हुए कि वे लोग जो अपनी स्त्रियों के साथ अभी भी बर्बरता से पेश आते हैं, उनसे यह शायद ही अपेक्षा की जाए कि वे मूक प्राणियों की पुकार सुनने की मन:स्थिति में होंगे।

अफसोस होता है कि असहाय पशुओं के संसार के लिए 'पशु अत्याचार निवारण' का काम सरकार द्वारा वर्तमान भारतीयकरण आंदोलन के अंतर्गत भारतीयों को सौंपे जाने वाला विषय है। अर्थात् हरेक प्रांत में सुधारों पर अमल करते हुए इस मामले का प्रशासन ब्रिटिश संसद ने भारतीय मंत्री के हाथों में दे दिया है। मूक प्राणी इस प्रयोग की कीमत अपने शरीर से चुकाते हैं।

---

[1] यंग इंडिया, 6 मई 1926, वी. जी. देसाई, पृष्ठ-167
[2] वही, 26 अगस्त 1926, पृष्ठ-303
[3] मई 13, 1926, पृष्ठ-174
[4] बिल संख्या-V, 1926, जो बंबई पुलिस अधिनियम 1902 में संशोधन हेतु था।
[5] बंबई लेजिसलेटिव काउंसिल डिबेट्स, ऑफिसियल रिपोर्ट, 1926, वॉल्यूम-XVII, पार्ट-VII, पृष्ठ-579, 580
[6] वही, पृष्ठ-580
[7] पशुशालाएं, जिनका जिक्र बाद में आएगा।
[8] बंबई लेजिसलेटिव काउंसिल डिबेट्स, पृष्ठ-581
[9] बॉम्बे लेजिसलेटिव काउंसिल डिबेट्स, 2 मार्च 1926, पृष्ठ-583
[10] वही, पृष्ठ-581
[11] 26 जुलाई 1926
[12] बॉम्बे लेजिसलेटिव काउंसिल डिबेट्स, ऑफिसियल रिपोर्ट, 1926, वॉल्यूम-XVII, पार्ट-1, पृष्ठ-70, 71
[13] वही, पृष्ठ-72, 73
[14] वही, पृष्ठ-73
[15] बॉम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल डिबेट्स, पृष्ठ-76
[16] वही, पृष्ठ-77, 78
[17] 5 अगस्त 1926
[18] बॉम्बे लेजिस्लेटिव काउंसिल डिबेट्स, 5 अगस्त 1926, पृष्ठ-716

अध्याय **20**

अपने मित्रों के घर में

भारत में लंबे समय से तैनात एक पुराने पशु चिकित्सक ने कहा– 'यह देश पशुओं के लिए दुनिया का क्रूरतम देश है।' शायद यह कहना पुनरावृत्ति होगी कि भारत के लोग अपने धर्मों का अनुसरण करते हैं, जो—जैनों को छोड़कर, जिनका संप्रदाय छोटा है—मनुष्य या जानवरों के लिए ऐसी कोई दया नहीं दिखाते हैं, जिसे हम पश्चिम के लोग करुणा कहते हैं।

मि. गांधी स्वयं लिखते हैं– [1]

> 'उस देश में, जहां गाय की पूजा होती है, वहां तो किसी पशु को कोई कष्ट होना ही नहीं चाहिए। लेकिन, हमारी गो-पूजा एक अनजानी कट्टरता में ठहर गई है। सच्चाई यह है कि हमारे पास इतने पशु हैं कि हम उन्हें संभाल नहीं सकते और इस समस्या को दूर करने की जरूरत है। मैंने गो-रक्षक समितियों को हमेशा इस समस्या पर नियंत्रण करने का सुझाव दिया है।'

गो-रक्षक समितियां जो गोशालाएं चलाती हैं, वे 'पिंजरापोल' की तरह हैं, जिनमें सभी पशुओं को रखा जाता है। ये सारी गोशालाएं धनी हिंदू व्यापारियों के दान से चलती हैं, जो उनको असीमित मात्रा में मिलता है। एक बार एक अनुभवी हिंदू अधिकारी ने मुझे बताया था कि सरकार को जरा भारत में गोहत्या पर पाबंदी लगाने दो, फिर देखना कि वे सारा धन मुसलमानों से लड़ने में खर्च कर सकते हैं।

गाय का जीवन बचाने के पीछे यह दावा किया जाता है कि इससे देवता प्रसन्न होकर पुण्य देते हैं। लेकिन, एक हिंदू के रूप में तुम्हें तब कोई परेशानी नहीं होती है, जब तुम अपनी गोमाता को कसाई को बेच देते हो। क्योंकि, तब तुम्हें यह मालूम होता है कि गाय की हत्या कसाई करेगा, तुम नहीं। इसके बाद जो धन वह तुम्हें देता है, उससे तुम उसके बूचड़खाने से सबसे खराब गाय खरीदकर उसे देखभाल के लिए गोशाला भेज देते हो। और इस तरह तुम धार्मिक पुण्य भी कमा लेते हो और अपनी जेब भी भर लेते हो।

अनगिनत गोशालाओं और पिंजरापोलों का निरीक्षण करते हुए मुझे आश्चर्य नहीं होता है कि जो लोग इतना दिल खोलकर समर्थन करते हैं, जो अपने जानवरों की देखभाल का दम भरते हैं। और जो लोग मि. गांधी की तरह इतनी दृढ़ता से उनके रखरखाव और वृद्धि की वकालत करते हैं, वे कभी उनके दरवाजों के भीतर झांककर नहीं देखते। मुझे पहली बार भारत में लंबे समय से रह रहे एक पश्चिमी पशु-प्रेमी के मुंह से कुछ सुनने को मिला था। उसने कहा था–

> 'हिंदू अपनी गोभक्ति दिखाने के लिए कसाई से गाय खरीदकर उसे गोशाला में रखवा देता है। वह हमेशा बीमार गाय खरीदता है। क्योंकि, वह उसे सस्ते में मिल जाती है। किन्तु जब वह उस गाय को गोशाला को देता है, तो उसकी अच्छी देखभाल के लिए उसके साथ धन नहीं देता है। या अधिक से अधिक जो धन देता है, वह पर्याप्त नहीं होता है। और अगर उसने दिया भी, तो उसका अधिकांश भाग प्रबंधक की जेब में चला जाता है। इसीलिए, इन स्थानों पर पशु भयानक दुःख भोगते हैं। उनमें से अभी हाल में मैंने एक बूढ़ी गाय को असहाय अवस्था में पड़ा देखा था, जिसके पिछले हिस्से को कीड़े खा रहे थे। उन कीड़ों को उसके दिल तक पहुंचने और उसे मारने में 10 दिन लग जाएंगे। तब तक वह इसी तरह पड़ी रहेगी।'

मैंने प्रबंधक से पूछा– 'क्या तुम इसके लिए कुछ नहीं कर सकते?'

उसने काफी ईमानदारी से जवाब दिया– 'मुझे क्यों कुछ करना चाहिए? और किसलिए?'

मुझे दूसरी जानकारी भारत में रह रही एक काफी शिक्षित और व्यावहारिक अमेरिकी पशु विशेषज्ञ से मिली। उसने बताया–

> 'मुझे कुछ गोशालाओं को देखने और सलाह देने को कहा गया था। चूंकि युद्ध के बाद राजनीतिक अशांति के कारण बहुत से लोग ब्रिटिश अधिकारियों की परिषद के लिए अपने दिमाग बंद करने के लिए तैयार हो गए थे। इसलिए, मुझे आशा थी कि एक अमेरिकन और एक बाहरी व्यक्ति के रूप में मेरा उपयोग किया जा सकता है। किन्तु,मैंने हर जगह या तो अंतर्राष्ट्रीय बेईमानी पाई या घोर अव्यवस्था। सब तरह से वहां कैद जानवरों की किसी को भी चिंता नहीं थी। वहां मेरी सलाह का स्वागत नहीं था। अत: जब उन्होंने पाया कि मैं उन्हें रबर-स्टाम्प मंजूरी नहीं दूंगा, तो मेरा कुछ भी उपयोग उनके पास नहीं था।'

मेरा अगला अनुभव दयाल बाग के एक नामी धर्मगुरु का है। उनके शब्द ये थे–

> 'मैंने ऐसी दो जगहों को देखा है और दोनों बार उन्हें देखकर आश्चर्य हुआ है। जो दृश्य वहां मैंने देखे, वे इतने भयानक हैं कि उसके बाद मैं दो दिन तक खाना नहीं खा सका।'

अंत में मैंने पश्चिमी ढंग के उस पशु-प्रजनन और डेयरी स्कूल का निरीक्षण किया; जो अब उस क्षेत्र का काफी जिम्मेदार संस्थान बन गया है। वहां मैंने एक प्रशिक्षित भारतीय व्यक्ति का साक्षात्कार लिया। उसने 'पिंजरापोलों' का वर्णन 'जानवरों को बांधकर रखने वाले बाड़े' के रूप में किया है। वह कहता है–

> 'धार्मिक भावनाओं की वजह से इन जीवों को वहां रखा जाता है। वहां उनकी सबसे ज्यादा उपेक्षा होती है और यही उपेक्षा उनके उत्पीड़न की वजह है। धनी व्यापारी और साहूकार उनकी देखभाल के लिए उन्हें प्रतिवर्ष भारी धन चंदे में देते हैं, लेकिन वह सारा धन भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता है। अधिकांश पशुशालाओं में जानवर उस हालात से भी बदतर स्थिति में रहते हैं, जब वे जीवित रहने के लिए गटर की गंदगी खाते थे और संयोग से गुजरती गाड़ियों से कुचलकर मर जाते थे। यहां तो वे अभागे तिल-तिल मरते कंकाल हैं। इन पशुशालाओं के प्रबंधक यही नहीं जानते कि जानवरों की देखभाल कैसे की जाती है। उन्हें इस काम का न कोई अनुभव होता है और न इन्हें कोई पहले प्रशिक्षण दिया जाता है। यहां बड़ी रकम खर्च होती है, पर वह जानवरों पर खर्च नहीं होती है। हालांकि, भारत में कुछ अच्छी पशुशालाएं भी हैं। पर, उनकी संख्या बहुत कम है।'

जो पहली गोशाला मैंने देखी, वह मध्य भारत के एक नगर में थी। उसके मुख्य द्वार पर जंगल में सफेद गायों के बीच मुरली बजाते हुए नीले रंग के भगवान कृष्ण का आकर्षक चित्र था।

कुछ दूरी पर ऊंची दीवारों के भीतर फलों के वृक्षों का एक सुखद विशाल बगीचा और सब्जियों की क्यारियां थीं और उसी के घेरे में एक सुहाना बंगला था; जो प्रबंधक का आवास था। बगीचे के जिस तरफ गोशाला थी। वहां न पेड़ थे। न झाड़ियां थीं। बिना छत का खुला मैदान था, जिसकी जमीन फटी हुई थी और जिसमें बरसात में बदबूदार कीचड़ हो जाती है। वहां जानवरों के रहने से कभी-कभी उनकी हड्डियों पर की खाल छिल जाती है। कुछ जानवर तो इतने कमजोर हैं कि हांफते हुए खड़े रहते हैं। कुछ जानवरों के जिस्म पर इतने बड़े खुले जख्म थे कि उनके कूल्हे की हड्डियों और पसलियों पर बैठे हुए पक्षी उन जख्मों को और फाड़ रहे थे। कुछ जानवरों की टांगें टूटी हुई थीं, जो उनके चलते हुए हिलती और फड़फड़ाती थीं। बहुत से जानवर बीमार थे। स्पष्ट था कि वे सब बहुत भूखे थे।

उनमें गायों की तरह बैल भी उतने ही दु:खी खड़े थे और किनारे पर एक छोटे से बाड़े में लगभग 250 बछड़े भी खचाखच भरे हुए थे। बछड़ों की पिछली कतार से कातर आवाज सुनाई दी; जब उन्होंने किसी के कदमों की आहट सुनी। जब मैंने दीवार के ऊपर से नीचे देखा, तो उनकी बड़ी-बड़ी भूरी आंखें, खोखले पेट और हिलते हुए पैर देखकर उनसे (गोशाला में मौजूद लोगों से) यह पूछ ही लिया कि इन्हें क्या खिलाया जाता है? मेरे प्रश्न का जो स्पष्ट उत्तर गोशाला के नौकर ने दिया, वह यह था कि हर बछड़े को रोज एक छोटे कप के बराबर दूध दिया जाता है, जब तक कि वह मर नहीं जाता है। और शेष दूध गोशाला के रखवाले बाजार में बेच देते हैं।

आगे मेरे यह पूछने पर कि एक गाय को रोजाना क्या खिलाया जाता है? जरा दिखाओ, तो उसने मुझे पांच गुणा तीन गुणा दो फीट के अन्न भंडार की कोठरी दिखाई, जिसमें भारी भूसे के साथ छोटे बीजों को मिलाकर रखा गया था। इसमें से प्रत्येक बड़े जानवर को रोजाना आधा किलो अन्न दिया जाता था। इसके अलावा कुछ भी खाने को नहीं दिया जाता था, सिवाय सूखे कटे हुए पुआल को छोड़कर। भूसे में कोई खाद्य-गुण नहीं है। परंतु, वह कुछ समय तक जानवरों की दोनों बगलों (कोखों) को भरा हुआ रखने के लिए काम करेगा। न कोई मैदान उपलब्ध कराया गया था और न किसी तरह उन्हें चराने का प्रबंध था। मैंने उन जानवरों को केवल खड़े हुए या बैठे हुए ही देखा, जिन्हें शायद मर कर ही राहत मिलती है।

एक गाय थी। उसकी तीन टांगें थीं। उसकी पिछली टांग घुटने पर से काट दी गई थी। क्योंकि, उसने दूध दोहने वाले को लात मार दी थी।

मैंने एक अन्य गोशाला में एक अपंग गाय देखी, जिसे विलक्षण बनाने की प्रक्रिया में अपंग किया गया था। इस उद्देश्य के लिए वे पहले एक बछड़े की टांग काटते हैं और फिर उसे किसी दूसरे पशु के शरीर में कहीं भी रोप देते हैं। बाद में वे उसे ईश्वरीय चमत्कार के रूप में लोगों को दिखा-दिखाकर पैसे कमाते हैं। और वह बछड़ा, जिसकी टांग काटी जाती है, अगर खून बहने से या भूख से या घाव सड़ने से मरता नहीं है; तो उसे कौड़ी के मूल्य में खरीदकर गोशाला भेजा जा सकता है। और इस पर कोई असंतोष इस इतिहास में दर्ज नहीं है।

मैंने अहमदाबाद शहर के बीचोंबीच एक विशाल पिंजरापोल को देखा था, जो मि. गांधी के उस आरामदायक घर से कुछ ही मील की दूरी पर है, जिसमें बैठकर वह गोशालाओं और 'पिंजरापोलों के समर्थन में अपने जोशीले लेख लिखते हैं; जिसका वर्णन पूर्व में कर चुकने के बाद पुन: पाठकों की संवेदनशीलता को कष्ट पहुंचाने की आवश्यकता नहीं है। मुझे आशा है कि उसमें हर वह जानवर, जो मैंने देखा था; सुरक्षित रूप से मर गया होगा।

किन्तु, इन स्मृतियों में एक खुशी का अपवाद भी है; जो मेरे निजी अनुभव में सामने आया है। और वह है- दुधारू मवेशियों की रक्षा करने वाली समिति ने उनको बंबई कसाईखाने में जाने से रोकने की व्यवस्था को कायम रखा हुआ है।

इस समिति का गठन विशेष रूप से धनी भारतीय व्यापारियों और उनकी समितियों के द्वारा किया गया था। इसकी ताजा रिपोर्ट में कुछ रोचक बातें कही गई हैं। [2] इसका आरंभ इस वक्तव्य से होता है, जिसमें यह अनुमानित आकलन है कि 01 अप्रैल 1919 से 31 मार्च 1924 तक पांच वर्षों में 2,29,257 गायें बंबई शहर में काटी गई थीं और 97,583 बछड़ों तथा जवान भैंसों को गोशाला में यातना देकर मारा गया था।

यह रिपोर्ट गाय-बैलों और भेड़-बकरियों सहित सभी पशुओं की हत्या के विरुद्ध अपील के साथ आगे बढ़ती है, जिसके लिए आंकड़े भी दिए गए हैं। इसके बाद यह अपने आप में दूध की कमी के सवाल पर चिंता करती है–

> 'हम हिंदू गायों की रक्षा करने का दावा करते हैं। अगर यह दावा सही होता, तो भारत में दूध की धारा बहनी चाहिए थी। किन्तु, सच्चाई यह है कि ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए, दूध जितना महंगा गायों की रक्षा करने वाली बंबई में है, लगभग उतना ही वह गोहत्या करने वाले लंदन या न्यूयॉर्क में है। ज्यादा दूध प्रेम या धन के लिए नहीं प्राप्त किया जा सकता है और इसी तरह की स्थिति के परिणामस्वरूप ही शिशुओं और वयस्कों में भयानक मृत्यु दर इतनी अधिक है।'

देश में बंबई के बाहरी इलाकों में समिति, जो डेयरी फार्म चलाती है, उसमें बढ़िया गोशालाएं हैं; जिन्हें आसरे के लिए ही बनाया गया है। ये काफी हद तक व्यावहारिक रूप से काफी हवादार, स्वच्छ हैं। अधीक्षक ने बताया कि वह रोज प्रति पशु 10 किलो हरी घास और 15 किलो दाने के साथ खली खिलाते हैं। और सचमुच वे पशु भूखे नहीं दिख रहे थे। एक झुंड में 277 पशु थे, जिनका दूध कुल लगभग 130 गैलन रोज आता था। जिसे लगभग 130 परिवारों में बेचकर रोज 22.50 डॉलर की आय संस्थान को हुई। नई गायों को डेयरी के बाहर इस शर्त पर बेचा जाता है कि वे उनको कसाई को नहीं बेचेंगे।

सारे कर्मचारी भारतीय हैं, जिनके काम के बारे में जानकर मुझे अच्छा लगा। डेयरी प्रमुख ने कहा–

> 'यदि यह डेयरी सिर्फ व्यावसायिक होती, तो यहां इतने सारे गैर-व्यावसायिक पशु नहीं होते। हमने कसाईखाने के बाहर से पशुओं को खरीदा है। लेकिन, जहां एक बार हमने कमजोर और सस्ते पशु खरीदे थे, वहां हमने अब श्रेष्ठ पशुओं को खरीदना सीख लिया है। और इसके सिवा गोशाला में व्यावसायिक तत्त्व के किसी भी किस्म का विचार भारत के लिए नया है। आज तक हमने न किसी ग्वाले का रोजगार छीना है और न ही बूचड़खाने के कारोबार को प्रभावित किया है। लेकिन, हम आने वाले समय में ऐसा करने की आशा करते हैं। यहां मेरे पास दो-तीन युवा कर्मचारी कृषि में स्नातक हैं, जिन्होंने सरकार के प्रजनन और डेयरी फार्म से प्रशिक्षण प्राप्त किया है। और भारत में आपको ऐसी गोशाला या इस तरह का 'पिंजरापोल' अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। हम यहां इनकी वैज्ञानिक देखभाल करने में विश्वास करते हैं।'

एक अमेरिकन किसान के दृष्टिकोण से देखने पर यह सारी चर्चा अभी आरंभिक दौर की बात ही थी। किन्तु भारतीय पृष्ठभूमि से देखें, तो यह एक चमकता प्रकाश है। और हरेक को यह देखकर बुरा अनुभव हुआ कि वहां काम करने वाले अधिकतर कर्मचारी अधीक्षक के ही भांजे, भतीजे और करीब के रिश्तेदार थे।

किन्तु, उसमें एक अंग्रेज प्रमुख के निर्देशन में प्रशिक्षित भारतीय भी था, जो एक सरकारी कर्मचारी था। उसी ने इस गोशाला की खराब शुरुआत से उसका उद्धार किया था और उसके वर्तमान विकास की योजना बनाकर उसे स्वीकार करने के लिए समिति को तैयार किया था।

इसी बीच भारतीय नेता—देश और विदेश में—सरकार पर आपराधिक लापरवाही का दोष लगाते हुए हवाई शब्दबाण छोड़ते हैं [3] और कृषि और कृषकों की निंदा करते हैं। और जब कभी किसी गोशाला को थोड़ा-सा चंदा भेजते हैं, तो उसका प्रचार करते हैं।

---

[1] यंग इंडिया, 26 फरवरी 1925

[2] श्री घाटकोपर सार्वजनिक जीवदया खाता, 75 महावीर बिल्डिंग, बंबई की एक अपील।

[3] यंग इंडिया, 13 मई 1926, पृष्ठ-174

अध्याय **21**

नितांत अभाव का घर

भारत के नए बुद्धिजीवियों से 'स्वर्ण युग' के गौरव के बारे में बहुत कुछ सुना जाता है। वे बताते हैं कि उस धुंधले अतीत में देश में स्वास्थ्य, समृद्धि, प्रतिभा, सुंदरता और शांति मुस्कुराती थी और अब वह सब भारत से चला गया। और वे समझते हैं कि इस सुखद प्राकृतिक स्थिति को वर्तमान सरकार के जहरीले प्रभाव ने मार दिया है।

इस स्वर्ण युग के बारे में जो ठेठ तर्क वे देते हैं, वह इस प्रकार है–

> 'क्या आप मानते हैं कि यहां सम्राट चन्द्रगुप्त रहता था? और यह वो व्यक्ति था, जो सेल्युकस से लड़ा था, जो सिकन्दर से लड़ा था? बहुत अच्छा! पर, चन्द्रगुप्त के समय में एक 14 साल की सुंदर लड़की गहनों से लदी हुई कहीं भी पूर्ण सुरक्षा से घूम सकती थी। उसके राज्य में पूर्ण शांति थी। कोई गरीबी नहीं थी। कोई अकाल नहीं पड़ता था और न कोई महामारी फैलती थी। किन्तु, अंग्रेजों ने आकर हमारा वह स्वर्ण युग नष्ट कर दिया।'

या फिर आरोप लगाने वाला व्यक्ति पहले सुखी देश का चित्र खींचता है, जिसमें विज्ञान, दर्शन और गांवों की सुंदरता को चित्रित करता है। उसके बाद अचानक वह अपने श्रोता के सामने यह चुनौती पेश करता है– 'क्या तुम पूरे भारत में मुझे उस जैसे जीवन का एक भी अवशेष दिखा सकते हो? बिलकुल नहीं। अगर यह कहीं मौजूद होगा भी, तो उसे ब्रिटेन ने नष्ट कर दिया होगा।'

किन्तु चन्द्रगुप्त काल, जिसकी जो भी विशेषता रही हो; वह अंग्रेजों का शासन स्थापित होने के 1900 से भी अधिक वर्ष पूर्व ही खत्म हो गया था। [1] चन्द्रगुप्त का राजवंश जिस जनश्रुति के कुहासे में लुप्त हो रहा था, उसी में से अशोक की महान आकृति उभरी थी। जब स्काइथियन और तुर्क सवारों ने उत्तरी पहाड़ी दर्रों के रास्तों से गुजरकर उत्तरी भारत की मदद के लिए अपना राज्य स्थापित किया था। और जैसा कि वर्षों से होता आया था, स्वदेशी हिंदू जनता ने अपने दोनों विजेताओं– स्काइथियनों और तुर्कों को अपने समाज में विलीन कर लिया था।

चौथी और पांचवीं ईस्वी सदी का समय गुप्त राजाओं का समय है, जिसे महान हिंदू कला और इतिहास की सदी कहा जाता है। इसके बाद एक बार फिर उनका उत्तर के दर्रा क्षेत्र पर नियंत्रण ढीला पड़ गया और फिर मध्य एशिया के बाहर से जंगली मानव जाति की एक के बाद एक लहर आती गई। यही समय ऐटिला सेना के आतंकी खानाबदोश गोरे हूणों का है। देश की संपत्ति के वे लुटेरे सीमाओं पर अपने अवसर की ताक में थे। जब उन्हें वह अवसर मिला, तो वे उछल गए और उन्होंने देश को ऐसा साफ किया कि सारा सामाजिक तानाबाना नंगा हो गया।

छठी सदी के आरंभ तक आधा उत्तरी क्षेत्र—जिसे हम भारत कहते हैं—हूणों का प्रांत हो गया था। और चूंकि हूणों ने पहाड़ी बाधाओं को पार कर लिया था, इसलिए उनके गिरोह लगातार यहां आकर बसते रहे और भारतीय समाज में इतने घुल-मिल गए कि आज कोई भी अपने को शुद्ध गोत्र या वंश परंपरा का नहीं कह सकता।

स्काइथियनों और तुर्कों की तरह हूण उनसे पहले ही मूलवासी लोगों में घुल-मिल गए थे। हिंदू धर्म ने बौद्ध धर्म से विरोध के समय देश में फिर से प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था। उनका यह काम उसके विघटनकारी सिद्धांतों और उसके लाखों भयानक देवताओं ने किया था। इसलिए, सातवीं सदी में कुछ वर्षों को छोड़कर, उत्तर अथवा दक्षिण कहीं भी राजनीतिक एकता या स्थायी राज्य स्थापित करने का कोई प्रयास सफल नहीं हुआ था; जबकि विघटन की शक्तियां कई गुणा बढ़कर मजबूत हो गई थीं।

सातवीं सदी के मध्य से अगले पांच सौ वर्षों का उत्तरी भारत का इतिहास छोटे कबीलों और राज्यों के युद्धों का जटिल जाल है, जिनमें युद्ध और षड्यंत्रों के बदलते भाग्यों के साथ निरंतर आकार और संख्या भी बदल रही थी। छोटे सरदार एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या, चढ़ाई, हमले, जब्ती, ध्वंस, हत्या और मारामारी करते हुए देश के संपूर्ण उत्तरी और मध्य भाग को लगातार अपनी अदावत में उलझाए हुए थे।

इस बीच प्रायद्वीपीय भारत हमेशा उत्तर की धाराओं से अछूता एक पृथक स्थान बना रहा और उधर से वह अपनी पहाड़ियों और जंगलों की ओट से सुरक्षित रहा। यहां काली त्वचा वाले आदिवासी तमिल रहते थे, जिनमें आर्य रक्त का मिश्रण नहीं था, वे अपनी स्वयं की लड़ाइयां लड़ते हुए अपने धर्म के देवताओं की पूजा करते थे। और जब अंत में हिंदू धर्म प्रचारकों ने दक्षिण तट के पास धावा बोला, तो उन्होंने उनके देवताओं के साथ अपने देवताओं को जोड़कर उन्हें अपना धर्म अपनाने को कहा।

तमिलों ने बहुमूल्य देशी कला का विकास किया था। उनके बहुत-से और निरंतर बदलते छोटे राज्यों में कम-से-कम एक दिलचस्प राज प्रणाली ग्राम-स्वराज की थी, जिसे वे सामने लाए थे। किन्तु, 12वीं शताब्दी के अंत तक इस विशेष प्रणाली को कुचल दिया गया था। यहां यह अच्छी तरह से ध्यान में रखना होगा कि उत्तर या दक्षिण में जो इतिहास अंतहीन युद्धों और राजवंशों के परिवर्तनों से विकसित हुआ था, उसने लोगों में न नगर पालिका जैसी संस्थाओं की, न स्वतंत्र नगरों की, न गणतंत्रों की और न राजनीति की कोई चेतना विकसित की थी। प्रत्येक राज्य हमेशा के लिए एक तानाशाह के पैरों पर गिरा और निष्क्रिय पड़ा रहता था और अपने संक्षिप्त शासनकाल में वह अपने लोगों के साथ जैसा चाहता, वैसा व्यवहार करता। और ऐसा तब तक चलता, जब तक कि कोई दूसरा तानाशाह उसे नीचे गिराकर नष्ट न कर देता था।

भारत के इतिहास में अगले कुछ वर्षों में क्या हुआ उसको सर टी.वी. होल्डरनेस से बेहतर किसी ने नहीं लिखा है। उन्होंने 'पीपुल्स एंड प्रॉब्लम्स ऑफ इंडिया' में लिखा है– [2]

> 'सबसे पहले आने वाले लोग अरब के थे, जिन्होंने 800 ई के आसपास सिन्ध और मुलतान में अपने राजवंश कायम किए थे... लगभग (वर्ष) 1000 में आतंक का समय आया। उस समय तक तातार नस्लों को इस्लाम के अंतर्गत लाया जा चुका था। और तुर्क, जो इनमें सर्वाधिक सक्षम थे; उन्होंने अपना अभियान शुरू किया और 'कांस्टेंटिनोपल' (रोमन साम्राज्य का मुख्य नगर) में अपने साम्राज्य की स्थापना की। ई. 997 में महमूद (एक तुर्की सरदार) ने भारत पर आक्रमण किया। 'मूर्तिभंजक' की उसकी उपाधि उस व्यक्ति के बारे में सब कुछ बता देती है। साल दर साल उसने भारत के मैदानी हिस्सों को निशाना बनाना शुरू किया। शहरों, किलों पर कब्जा किया। मंदिरों को तोड़ा। मूर्तियों को नष्ट किया। मूर्तिपूजकों का कत्लेआम किया और मोहम्मद के मत को स्थापित किया। हर वर्ष वह भारी लूट के साथ अपने गृह अफगानिस्तान लौट जाता था।
>
> '1000 ई. से 500 वर्षों तक लगातार उग्र और लालची तुर्कों, अफगानों और मंगोलों के झुंडों ने हरेक को अपने पैरों से कुचला और भारत में अपने प्रभुत्व की लड़ाई लड़ी। उस दौर के अंत में तुर्क बाबर ने 1526 में मुगल साम्राज्य की स्थापना की और उसके बाद दो सौ साल तक उसके सक्षम उत्तराधिकारियों के संरक्षण में भारत में अन्य बाहरी हमलावरों के आने के रास्ते बंद हो गए थे।'

होल्डरनेस एक अन्य जगह लिखते हैं– [3]

'मुगल साम्राज्य एक सामान्य किस्म की एशियाई तानाशाही थी। यह एक गैर-जिम्मेदार निजी सरकार थी। भारत के लिए इसका अर्थ उन विजेताओं के नए गुटों का प्रतिस्थापन था, जो पहले से ही कब्जे में थे। किन्तु, ये नव आगन्तुक अपने साथ उत्तर की ताकत लाए थे। वे काबुल की पहाड़ियों के बाहर ऑक्सस के मैदानों से आए थे और उन्होंने एशिया की श्रेष्ठ लड़ाकू नस्लों से रंगरूटों की असीमित भर्ती की थी। वे शारीरिक बल और परिश्रम में यूरोप के 'नॉर्समैन' और 'नॉरमंस' की तरह थे।'

दक्षिण की ओर इस्लामिक बाढ़ के प्रवाह को रोकने के लिए, विजयनगर साम्राज्य के रूप में विख्यात हिंदू सत्ता ने तमिलों को आगे कर दिया। उसके शासक भव्य नगर बनाकर अपार ऐश्वर्य के साथ रहते थे। किन्तु, यहां भी शेष भारत की तरह ही साधारण लोगों के दुःखों ने ही राजाओं और अमीरों को धन मुहैया कराया है और केवल उनकी घोर विनम्रता ने ही राज्य के अस्तित्व को संभव बनाया है। मगर, हिंदू दुर्ग के गौरव को अब शीघ्र ही ग्रहण लगने वाला था। वर्ष 1565 में आसपास के छोटे राज्यों के सुल्तानों द्वारा प्रदत्त एक मुस्लिम सेना ने उसके लोगों का कत्लेआम करके पूरे नगर को पत्थरों के ढेर में बदल दिया था।

अभी तक महान मुगल सम्राटों से पहले के शासकों ने पुराने धर्म को चलने दिया था। उनके मुख्य प्रतिपादक अकबर ने भी एक देशी हिंदू स्त्री से विवाह कर लिया था और राजपूत सरदारों तथा ब्राह्मण विद्वानों को अपने राज्य में स्थान और पद दिया था। किन्तु, मुगलों ने हमेशा एक विजेता विदेशियों के रूप में शासन किया। यद्यपि, उन्होंने प्रतिभाशाली और योग्य हिंदुओं का उपयोग किया था, परंतु पहाड़ी पार के अपने स्रोत से मुस्लिम हाथ को मजबूत करने का भी बराबर खयाल रखा था।

उसके बाद 1659 में सम्राट औरंगजेब ने पुन: मुगल ताज को इस्लामी रूप दिया, जो हिंदुओं की मूर्तिपूजा का समर्थक नहीं था। उसके कठोर हाथों ने मंदिरों और मूर्तियों को ध्वस्त करते हुए राजपूतों की निष्ठा को तोड़ दिया; जिससे दक्कन यानी महाराष्ट्र के हिंदू निम्न जातियों के किसानों में क्रोध भर गया। इसलिए, जब औरंगजेब ने अधिक सत्ता और अधिक धन की लालसा में दक्कन के छोटे मुस्लिम राजाओं पर भी आक्रमण किया, तो उसके विरुद्ध मराठे छापामार गिरोह के रूप में उठ खड़े हुए और सामान्य गड़बड़ी की आड़ में उन्होंने अपना बदला लेने के लिए लूटमार की, कत्लेआम किया और पूरे क्षेत्र को बर्बाद कर दिया। औरंगजेब के आधी सदी के अव्यवस्थित शासन ने मुगल साम्राज्य को इतना कमजोर कर दिया था कि वह उसकी मृत्यु पर बिखर गया और मराठा सेना को—जो अब अपने दस्यु सरदारों के अधीन हमले और हत्याएं करने में माहिर हो गए थे—भारत में मजबूत सहायक की भूमिका निभाने के लिए छोड़ दिया था।

उसके बाद वही हुआ, जो ऐतिहासिक रूप से अपरिहार्य था। क्योंकि, जब भी उत्तर के रक्षक कमजोर होते हैं, यही होता है। मुगल साम्राज्य के पतन ने मध्य एशिया के लिए दरवाजे खोल दिए और मध्य एशिया उसमें बह गया। सबसे पहले पारसी आए। फिर खूंखार अफगान आए, जिन्होंने 1761 में हुई अंतिम लड़ाई में मराठों का बड़े पैमाने पर कत्लेआम के साथ उनको दक्कन की पहाड़ियों में वापस भेज दिया।

अब इन सभी अशांत सदियों के थोड़े से सरकारी अभिलेखों में वास्तव में सामान्य लोगों के बारे में बहुत कम कहा गया है। ये इतिहास छोटे राजाओं और जनजातीय सरदारों के इतिहास हैं; जिनमें उनकी निजी जिंदगियों, महत्वाकांक्षाओं, समृद्धियों, षड्यंत्रों, युद्धों और पराजयों के विवरण दर्ज हैं। लेकिन, फिर भी प्रकट रूप में इस तरह की झलकियां यह दर्शाती हैं कि सामान्य रूप से निम्नवर्ग अपने हिंदू या मुसलमान मालिकों के लालच का शिकार होकर कितना उपेक्षित था। भूखे, नंगे, गरीबी से तंग, सैनिकों की निरंकुश भीड़ द्वारा निरंतर कुचली जाती उनकी अल्प उपज। अकाल और महामारी के द्वारा होता उनका विनाश। इन सबके बारे में हमारा स्पष्ट ज्ञान उन्हीं विदेशियों के इतिहासों से मिलता है, जिन्होंने समय-समय पर इस देश की यात्रा की थी।

बहुत से पश्चिमी यात्री फ्रांस, डच, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों से आए थे; जिन्होंने देश के उत्तर और दक्षिण की यात्रा की थी। क्योंकि, यह अकबर के दौरान और उसके बाद का समय था। वे सभी इन मुख्य बिंदुओं पर सहमत हैं।

वे कहते हैं– 'गरीब हर जगह बेतहाशा गरीब थे और धनी हमेशा अपनी संपत्ति के मामले में असुरक्षित थे। साधारण लुटेरों और राजाओं की वसूली के बीच अगले दिन कोई भी शिकायत करने की हिम्मत नहीं करता था। हिंदू जनता उन दोनों के आगे दंडवत थी। कुछ संख्या में प्राय: रईस और सरकारी अधिकारी—चाहे तुर्क हों या फारसी—सभी विदेशी थे। एक तरफ उनमें कामुक सुख के लिए विलासिता की लालची भूख बढ़ गई थी और दूसरी तरफ राजदरबार में उनकी स्वीकार्यता नहीं रह गई थी। सारे मुकाम और लाभ महंगी रिश्वत देकर खरीदे जाते थे। यद्यपि जीवन की फिजूलखर्ची बढ़ गई थी, परंतु उस बिना पर उत्तर भारत में कम-से-कम जो कुछ भी धनी व्यक्ति के पास होता था, वह उसे अपनी मृत्यु के समय शाही खजाने को लौटा देता था।

राज्य को भव्य बनाने का साधन अपनाने के लिए उनके अधिकारी, व्यापार बढ़ाने के बजाय एक ही तरीका अपनाते थे—किसानों को निचोड़ना। और उन्होंने निचोड़ा भी।'

1580 से 1590 के दशक में देश का भ्रमण करने वाले वेन लिंसकोटेन ने लिखा था– 'मद्रास में किसान इतने अभागे हैं कि उन्हें एक-एक पैसे के लिए भी कोड़ों की मार खानी पड़ती हैं और वे इतना कम खाते हैं कि लगता है वे मात्र हवा पर जीवित हैं। उनमें बहुत-से लोग छोटे और उनके हाथ-पैर कमजोर हैं।' [4]

जब बारिश नहीं होती थी, तब वे और भी विपत्ति में पड़ जाते थे। वे जंगली जानवरों की तरह खाने की तलाश में घूमते थे और कुछ न मिलने पर अंतिम विकल्प के रूप में अपने बच्चों को एक रुपए से भी कम में बेच देते थे। जबकि, गुलाम-बाजार में बहुतायत में ऐसे लोगों को भर्ती किया जाता था, जो भुखमरी से बचने के लिए अपने शरीर बेच देते थे। और आदमी को खाना—जो अकाल की सामान्य विशेषता थी—एक विकल्प था।

अब्द अल हमीद लाहवरी (अब्दुल हमीद लाहौरी) का बादशाहनामा बताता है– 'दक्कन में 1631 के अकाल के दौरान 'मृतकों की हड्डियां पीसकर उसे आटे में मिलाकर बेचा गया था। विपन्नता का आलम इस मुकाम पर पहुंच गया था कि इंसानों ने एक-दूसरे को खाना शुरू कर दिया था और बेटे से प्यारा उसका मांस हो गया था। मरने वालों की संख्या इतनी ज्यादा हो गई थी कि सड़कों पर चलना मुश्किल हो गया था।' उसी वर्ष 'डच ईस्ट इंडिया कंपनी' के प्रतिनिधि ने लिखा था– 'सूरत में अकाल इतना बड़ा था कि लोग और जानवर भूख से मर गए थे और मांएं भूख में अपने बच्चों को खा रही थीं।' उसके दो साल बाद क्रिस्टोफर रीड ने ब्रिटिश इंडिया कंपनी को सूचना दी कि मेसुलपाटम और अरमागांव पूरी तरह अकाल से पीड़ित हैं, जिंदा रहने के लिए लोग मृतकों को खा रहे हैं और लोग इस आशंका से देश में यात्रा करने की हिम्मत नहीं करते कि उन्हें मारकर खा लिया जाएगा। उसी दौर में गुजरात से पीटर मुण्डी ने लिखा– 'अकाल के कारण एक लाख से भी ज्यादा आम या गरीब लोग स्वत: ही मौत के मुंह में चले गए हैं, जिसके बाद धनी और गरीबों में मृत्यु दर पहले से और भी अधिक हो गई है। औरतें अपने बच्चों को भूनते हुए देखी गई थीं। वे उस स्त्री-पुरुष को भी, जो जल्दी नहीं मरते थे, अपने खाने के लिए टुकड़ों में काट देते थे।' ये

सभी साक्ष्य विस्तार से 'ट्रेवल्स ऑफ पीटर मुण्डी' के हेक्लूत सोसायटी के संस्करण के मूल पाठ और परिशिष्ठ में मिल जाएंगे। कई दूसरे प्राचीन इतिहास भी इसकी पुष्टि करते हैं।

दासों को रखने के लिए कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता था। इसलिए, प्रत्येक अमीर के घर में बहुत-से दास होते थे; जहां उनकी जरा भी कद्र नहीं थी और फिर भी वे उन मनहूसों (अमीरों) की सुरक्षा करते थे। उन अमीरों के हाथी सोने-चांदी के आभूषणों से सजे होते थे। जबकि एक समकालीन समीक्षक 'द लाये' के अनुसार, 'जनता के पास सर्द मौसम में पहनने के लिए गरम कपड़े तक नहीं होते थे।' [5]

धनी व्यापारी आराम से नहीं रह सकते थे। अच्छा भोजन करने का साहस नहीं कर सकते थे और अपनी चांदी को भी जमीन के अंदर दबाकर रखते थे। क्योंकि, उनके धन का छोटा-सा दिखावा भी उनको यातना देकर उनके सारे गड़े धन को छीनने का कारण बन जाता था। गांव की जनता ही व्यावहारिक रूप से देश में उत्पादक वर्ग थी। पर, उनके जीवन-निर्वाह के अल्प साधनों को छोड़कर समस्त उत्पादनों पर राज्य कब्जा कर लेता था। जहां तक कि उसके पुनर्वितरण की बात है, यह सीधे मुट्ठी भर विदेशी शासक वर्ग की जेब में चला जाता था। उसका कुछ भी हिस्सा लोगों को वापस नहीं मिलता था और न ही उसका लाभ किसी संप्रदाय को होता था।

बहुत थोड़े पुल और ऐसी सड़कें थीं, जो धूल-कीचड़ में बैलों के चलने के लिए बनाए गए थे और इन्हीं में देश के संचार मार्ग भी शामिल थे। (यहां) न तो शिक्षा की कोई लोकप्रिय व्यवस्था काम करती थी, न चिकित्सा की कोई सुविधा उपलब्ध थी और न किसी को कानूनी सुरक्षा प्राप्त थी। कभी-कभी शासकों और उनके मंत्रियों के द्वारा कुछ अच्छी योजनाएं कागज पर बनाई जाती थीं। पर व्यावहारिक रूप से देश के आर्थिक विकास के लिए कुछ भी हकीकत में नहीं किया जाता था। क्योंकि, यदि कोई एक शासक काम शुरू करता भी था, तो उसका उत्तराधिकारी उसे नष्ट कर देता था अथवा उसे रोक देता था। [6]

अकबर के निधन के 15 वर्ष बाद, अर्थात् 1620 ईस्वी में डच फ्रांसिस्को पेलसार्ट ने सात साल भारत में रहकर एक अत्यंत मूल्यवान और विशिष्ट दस्तावेज तैयार किया था। अपने उस वृत्तांत में पेलसार्ट लिखता है– [7]

> 'अगर किसानों पर इतनी क्रूरता और निर्दयता से जुल्म नहीं किया जाता था, तो इसलिए कि वे उन्हें भरपूर मात्रा में जमीन और यहां तक कि असाधारण उपज भी देते थे। उन गांवों के किसानों के लिए, जो उपज की कमी के कारण लगान की पूरी राशि चुकाने में असमर्थ होते हैं; उनको इतना बोलने के लिए कि उन्होंने अपनी पत्नियों और बच्चों को बेचा; उनके मालिकों या गवर्नरों के द्वारा इनाम दिया जाता है। कुछ किसान उनके अत्याचारों से छुटकारा पाने के लिए फरार हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप खेत खाली हो जाते हैं और उनमें बुआई न होने से वे बंजर हो जाते हैं। जहां तक कानूनों का सवाल है, उनका शायद ही पालन होता है। क्योंकि, प्रशासन पूरी तरह तानाशाही है। उनके कानून इस तरह के हैं, जैसे— हाथ के बदले हाथ, आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत। पर कौन है, जो पोप का बहिष्कार करने का साहस करे? कौन है, जो गवर्नर से यह पूछने का साहस करे कि इस तरह से आप हम पर शासन क्यों करते हो? क्यों हमारा कानून इस तरह का आदेश देता है? प्रत्येक नगर में न्याय की शाही अदालत है। पर वे लोग सचमुच दया के पात्र हैं, जिन्हें न्याय पाने के लिए उनके पास जाना पड़ता है, जो 'अन्यायी' हैं। परंतु वास्तव में हर वह व्यक्ति, जो न्याय के लिए इन विधर्मी 'अन्यायाधीशों' के सामने जाता है, दुःखी होता है। लालच ने उनकी आंखों को धुंधला कर दिया है और वे अपने मुंह ऐसे खोलते हैं, जैसे शिकार के लिए भेड़िये खोलते हैं और उनके पेट गरीब की रोटी के भूखे होते हैं। वहां हर कोई लेने के लिए हाथ खोले खड़ा होता है। क्योंकि, बिना नकद के न तो दया मिलती है और न करुणा। यह दोष सिर्फ जजों या अधिकारियों पर ही नहीं लगाया जा सकता, बल्कि यह एक सर्वव्यापी महामारी है। इससे सभी—छोटे से लेकर बड़े तक और स्वयं राजा तक हर व्यक्ति—अदम्य लोभ से ग्रस्त है।'
>
> 'यह जानना बहुत महत्वपूर्ण है कि (राजा जहांगीर) को केवल मैदानों और खुली सड़कों के राजा के रूप में माना जाता है। क्योंकि, बहुत-से स्थानों पर आप या तो केवल मजबूत शरीर वाले मनुष्यों के साथ या बागियों को भारी धन देकर ही यात्रा कर सकते हैं। और यहां लगभग उतने ही बागी हैं, जितने नागरिक। उदाहरण के लिए, मुख्य नगरों को लीजिए। सूरत में राजा पीपल की सेनाएं आकर लूटमार करती हैं और नगर के भीतर लोगों का कत्लेआम करती हैं। गांवों को जलाती हैं और इसी तरह अहमदाबाद, बुरहानपुर, आगरा, दिल्ली, लाहौर और बहुत से दूसरे नगरों में चोरों और डाकुओं के दल—दिन हो या रात—खुलेआम दुश्मन की तरह आते हैं। चोर गवर्नरों को निष्क्रिय बने रहने के लिए रिश्वत देते हैं। क्योंकि, धन का लालच पुरुषोचित गरिमा पर हावी हो जाता है। और इसीलिए वे सेनाओं को रखने की बजाय अपने महलों में खूबसूरत स्त्रियों को रखते हैं और उन दीवारों के भीतर पूरी दुनिया की खुशियां भरी होती हैं।'

तेज नजर डच यात्री [8] बार-बार अमीरों की अत्यधिक और पूर्ण शक्ति की जीवन शैली और आम लोगों की निरी अधीनता और गरीबी के बीच के विनाशकारी अंतर का जिक्र करता है। गरीबी इतनी अधिक और भयानक थी कि उसका वर्णन सिर्फ संपूर्ण अभाव के घर और कटु संताप के डेरे के रूप में ही किया जा सकता है।

फिर भी वह भाग्य और जाति के सिद्धांतों के स्तब्ध कर देने वाले प्रभाव का पता लगाते हुए लिखता है– [9]

> 'लोग अपनी दयनीय स्थिति को पूरे धैर्य के साथ सहन करते हैं और यह मानकर चलते हैं कि वे किसी भी बेहतर स्थिति के लायक नहीं हैं। और शायद इसीलिए कोई भी अपनी स्थिति से ऊपर उठने के लिए प्रयास नहीं करेगा। उसे वह सीढ़ी मिलना ही कठिन है, जिसके द्वारा वह ऊपर चढ़ सकता है। क्योंकि, कामदारों के बच्चे अपने पिता के पेशे के सिवा दूसरों का पेशा नहीं अपना सकते और न ही वे दूसरी जातियों में विवाह कर सकते हैं। कामदारों के दो गंभीर संकट हैं, जिनमें पहला उन्हें कम मजदूरी मिलने का है और दूसरा उनके उत्पीड़न का है। जो गवर्नर, रईस, दीवान और दूसरे शाही अधिकारियों द्वारा किया जाता है। यदि इनमें से किसी भी व्यक्ति को काम कराने के लिए मजदूर की जरूरत होती है, तो वह उसके लिए आदमी से पूछेगा नहीं कि उसे काम करना है कि नहीं; बल्कि उसे उसके घर से या सड़क पर से पकड़ लिया जाता है। अगर वह काम करने से मना करेगा, तो उसे मारा जाएगा। और काम कराने के बाद शाम को उसे बहुत हुआ, तो आधी मजदूरी या कुछ भी नहीं दिया जाएगा।'

पेलसार्ट के भारत से जाने के 40 साल बाद फ्रेंच यात्री फ्रोंस्वा बर्नियर आया, जो सन 1656 से 1668 तक भारत में रहा था। उसका वृत्तांत भी दूसरे विदेशी यात्रियों के वर्णन से पूरी तरह मेल खाता है। उसने अपने इतिहास में मुगल साम्राज्य के महान बादशाहों- शाहजहां तथा औरंगजेब के शासन में स्त्री-पुरुषों और समाज का आंखों देखा वर्णन किया है। जमीन की पट्टेदारी और कर (टैक्स) लगाने के विषय पर वह लिखता है– [10]

> 'भूस्वामी के रूप में राजा सेना के लोगों को उनके वेतन के बराबर साधन के रूप में एक निश्चित मात्रा में जमीन का पट्टा दे देता है। इसी तरह की जागीरें गवर्नरों को उनके वेतन के बदले में दी जाती थीं और उनके सैनिकों की मदद के लिए भी इस शर्त पर जमीनें दी जाती थीं कि वे प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम राजा को भुगतान करेंगे। शेष भूमि, जो देने से बच गई, उसे राजा अपने घर की खास जागीर के रूप में रख लेता था; जिसे वह ठेकेदार को दे देता था और वे (ठेकेदार) उसे इसके बदले उसका वार्षिक किराया चुकाते थे।'

बंगाल के बारे में उसका मानना है कि वह दुनिया का बेहतरीन और सबसे ज्यादा लाभदायक देश है। किन्तु, दूसरे इलाकों के बारे में वह लिखता है– [11]

> "जमीन पर कभी-कभी या मजबूरी में ही खेती की जाती है और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जो पानी की सुविधा के लिए नहरों की मरम्मत करने को तैयार और सक्षम हो। इससे यह होता है कि पूरे देश में खराब खेती की जाती है और बहुत बड़ा भाग सिंचाई के अभाव से बिना पैदावार के ही रह जाता है। किसान खुद यह सोचते हैं—'मैं उस तानाशाह के लिए अपना पसीना क्यों बहाऊं, जो कल को आकर मेरी समस्त कमाई पर अपना लालची हाथ रख सकता है।' गवर्नर और राजस्व ठेकेदार अपने पक्ष में इस तरीके से सोचते हैं– 'हमें देश के इस उपेक्षित राज्य को लेकर इतना परेशान होने की क्या जरूरत है? और हमें उसे लाभदायक बनाने के लिए अपना धन और समय क्यों खर्च करना चाहिए? हमें एक ही पल में इन सबसे वंचित किया जा सकता है और हमारे परिश्रम करने से न खुद हमें और न ही हमारे बच्चों को लाभ होगा। इस जमीन से जितना धन निकाल सकते हैं, हमें निकाल लेना चाहिए। हालांकि, किसान भूखा मरेगा या पलायन कर जाएगा और हमें भी जब छोड़ने को कहा जाएगा, तो हम इस सुनसान जंगल को छोड़कर चले

जाएंगे।' यह सब सरकार की इस दुःखद प्रणाली का ही परिणाम है कि कोई भी नगर और उपनगर ऐसा नहीं है, जो बर्बाद होने की कगार पर न पहुंच गया हो और वह पहले से ही बर्बाद और सुनसान न हो।''

'देश की बर्बादी न्यायालय की अनेक भव्यताओं को कायम रखने में और जनता को अपनी अधीनता में रखने के लिए सेना पर भारी भरकम खर्च करने की वजह से हुई है।'

अब थोड़ी चर्चा भारत में यूरोपीय शक्तियों के इतिहास पर करते हैं। अकबर के राज्यारोहण के समय (1556) तक पुर्तगालियों की जड़ें पहले ही जम चुकी थीं और वे गोवा में प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर, उस घेरे हुए क्षेत्र पर डटे हुए थे, जिसे उन्होंने दक्कन के मुस्लिम रजवाड़ों से लिया था। उधर से वे अरब सागर और फारस की खाड़ी के व्यापारिक यातायात पर नियंत्रण रखते थे। देश में अभी तक किसी अन्य यूरोपीय शक्ति का आधार सुरक्षित नहीं हुआ था और न अभी तक किसी अंग्रेज के कदम भारत की धरती पर पड़े थे। [12]

पुर्तगाली शीघ्र ही भ्रष्टाचार और क्रूरता के रास्ते पर चलकर कमजोर हो गए। इस प्रकार उनका पतन 1600 के आरंभ में ही हो गया था और केवल गोवा को छोड़कर सारी पुर्तगाली बस्तियां डचों के हाथों में आ गई थीं।

उस काल में डच और अंग्रेज व्यापारी समान रूप से पूरब से व्यापार करने के इच्छुक थे। किन्तु, डच लोगों की मुख्य रुचि जावा और स्पाइस द्वीपों (17वीं सदी में स्पाइस संघर्ष में कई द्वीप समाप्त हो गए थे) के साथ व्यापार करने की थी, जबकि उनके अंग्रेज प्रतिद्वंद्वी भारत में व्यावहारिक रूप से अकेले पड़ गए।

साहसी अंग्रेज व्यापारियों को रानी ऐलिजाबेथ और मुगल साम्राज्य द्वारा विशेष अधिकार और सुविधाएं प्रदान की गई थीं और अब उन्होंने समय-समय पर पश्चिमी समुद्र तट के पास व्यापार के केंद्र स्थापित कर लिए थे। बंगाल की खाड़ी में उनकी तैनाती प्यूरिटनों के द्वारा बोस्टन के निपटारे से पांच साल पहले तक रही थी। नौ साल बाद भारत में अंग्रेजों को ईस्ट इंडीज के साथ व्यापार करने के लिए संपत्ति रखने का पहला मालिकाना अधिकार स्थानीय हिंदू राजा, गवर्नर और लंदन की 'कंपनी ऑफ मर्चेंट्स' के बीच हुई संधि के तहत मिला था। इस सन्धि के द्वारा 'कंपनी ऑफ मर्चेंट्स' को किराया लेने और मद्रास शहर के समुद्रतट को व्यापारिक चौकी के रूप में मजबूत करने की अनुमति दी गई थी। यहां वर्तमान में, कंपनी की ओर से मेसाचुसेट्स में बोस्टन के ऐलीहू येल गवर्नर के रूप में आए थे, जहां कनेक्टिकट विश्वविद्यालय को लाभ पहुंचाने के लिए आज भी उनका नाम इससे जुड़ा है। और यहां उस पुराने मकान में, जहां मद्रास के अंग्रेज गवर्नर अभी भी रहते हैं, ऐलीहू येल का चित्र टंगा हुआ है; जिसमें वह घटनास्थल पर अपने मजदूरों को गंभीरतापूर्वक देख रहे हैं। 17वीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसी व्यापारी भी भारत से व्यापार के इच्छुक थे; जिनके कई छोटे-छोटे आधार केंद्र दक्षिणी तट के पास सुरक्षित थे। उनका व्यवसाय अंग्रेजों के बराबर का कभी नहीं था। परंतु, उनकी आकांक्षाओं और यूरोप में राष्ट्रीय संघर्ष ने उनको समान रूप से छोटे भारतीय राजाओं की अंग्रेज-विरोधी साजिश के नेतृत्व के साथ मिला दिया था; जिसका परिणाम अलग-अलग युद्धों में हुआ। इसलिए, जब न्यू इंग्लैंड और न्यूयॉर्क के अंग्रेज उपनिवेशवादी भारतीय सहयोगी दलों की मदद से भविष्य को नियंत्रित करने के लिए 'फ्रांसीसी और भारतीय' युद्ध में लड़ रहे थे, तो विश्व के दूसरी तरफ अंग्रेज उपनिवेशवादी भी इसी उद्देश्य के लिए भारतीय सहयोगी दलों की मदद से फ्रांसीसी और भारतीय युद्ध में लड़ रहे थे। [13]

जो संघर्ष 1746 में खुलेआम शुरू हुआ था—जब फ्रांस ने मद्रास को कब्जे में ले लिया था—वह 1761 में तब समाप्त हुआ; जब फ्रांस ने बिना शर्त अपना मुख्यालय पांडिचेरी को सौंप दिया और इस प्रकार भारत में उनके प्रभाव का अंत हो गया।

18वीं सदी में भारत में अंग्रेजी संपत्तियां मद्रास में कुछ वर्ग मील तक बंबई द्वीप में और तीन या चार अन्य जगहों पर सीमित थीं। इस दौरान अंग्रेज प्रतिनिधियों ने भारत में स्थानीय लड़ाइयों और राजनीति से दूर रहते हुए खुद को सिर्फ व्यापार तक सीमित रखा था। किन्तु, सम्राट औरंगजेब की मृत्यु और मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही लूट एवं अराजकता देश भर में फैल गई। तब कंपनी ने अपने उपनिवेशों की सुरक्षा के लिए भारतीय सहायकों की मदद से यूरोपीय सेना को नियुक्त किया था।

उसी समय से वह शासकीय निगम का दर्जा पाने की ओर बढ़ी। 1784 में संसद के कानून से ब्रिटिश सरकार ने कंपनी की कार्यप्रणाली पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस तरह के अधिकार के साथ अब कंपनी अपनी गतिविधियों का विस्तार कर सकती थी और अराजकता से भरे देश में शांति स्थापित करने की दिशा में आगे बढ़ सकती थी।

इसका अर्थ दस्यु गिरोहों, उनके सरदारों और प्राचीन मुगल शासन के कप्तानों की लूट की व्यवस्था को कम करना था, जो अब बेरोजगार होकर पलायन करने वाली मधुमक्खियों की तरह झुंड बनाए हुए नए राज्यों और लूट के नए क्षेत्रों की तलाश में घूम रहे थे। इसका अर्थ छोटे राज्यों के राजाओं को भी—भाड़े के गिरोहों को भर्ती करने और अपने पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध करने के—उनके आनुवंशिक व्यवसाय से रोकना था। इन कदमों का आग्रह इस देश के रजवाड़े खुद करते थे और इनके कारण ज्यादा भू-भाग ब्रिटिश प्रभाव में आ जाते थे और इस वजह से इस देश में एकता की स्थिति बनी।

एक बार शांति-स्थापना का काम अच्छी तरह हाथ में लेने के बाद उन्होंने नागरिक संस्थाओं और जन-सुविधाओं के निर्माण का प्रयास किया और कानून की उस न्यायपूर्ण व्यवस्था को स्थापित करने का काम शुरू किया, जिससे यह देश हजारों वर्षों से अपरिचित था। कंपनी अभी भी व्यापार की मुख्य व्यस्तता के साथ व्यापार ही कर रही थी। पर, अब उसने जनता के कल्याण के लिए इस जिम्मेदारी को भी स्वीकार कर लिया था।

मानव प्रगति की दो सदियों की दरार को पाटने वाले मानवीय उपक्रम—ईस्ट इंडिया कंपनी का नाम—कभी-कभी गलत अनुमानों या अयोग्य दलालों की वजह से धुंधला हो गया था। इनमें से कुछ दबंग थे। कुछ उद्दंड, कुछ ढुलमुल, उनमें एक या दो घटिया थे। कुछ ने भ्रष्टाचार के आगे घुटने टेक दिए थे। किन्तु,उनके दोष भी कम मूर्खता भरे नहीं हैं।

कंपनी के लिए सम्मान की बात यह थी कि उसके पास ईमानदार अधिकारी थे। जैसे-जैसे समय गुजरा, एक ज्यादा संवेदनशील आम विवेक ने उसे आलोचनात्मक विचारों के प्रति तेजी से सचेत कर दिया। उसके मामलों पर संसद में चर्चा होने लगी और विश्व-मानकों में सामान्य वृद्धि के साथ उसके प्रशासन के मानक भी ऊंचे हो गए। उसकी समावेशी उपलब्धि साहसिक, कठिन और देश के उद्धार की दिशा में आवश्यक थी। उसने गलतियों को स्वीकार किया और प्रगति के लिए उन्हें दूर किया। उसने आशा की पहली किरण जगाई, जिसने भारत की गरीब फटेहाल जनता के लिए नया सवेरा ला दिया था।

कंपनी को जिन प्राचीन देशी आतंक के उन्मूलन का श्रेय जाता है, उनमें गला घोंटकर मारने वाले पेशेवर जनजातियों, ठगों के समृद्ध व्यापार का उन्मूलन, विधवाओं को जिंदा जलाने और कुष्ठ रोगियों को जिंदा दफनाने की प्रथा का उन्मूलन उल्लेखनीय है। उसकी चिंता के

युगान्तरकारी तत्त्वों का जो संक्षिप्त वर्णन संसदीय अधिनियम-1784 के भाग-87 में उल्लिखित है, उसकी विफलता के किसी भी अंश को माफ नहीं किया जा सकता। जो कहता है–

> 'पूर्वकथित प्रदेशों के किसी नागरिक को और महामहिम की प्रजा के किसी जन्मजात नागरिक को केवल उसके धर्म, जन्मस्थान, वंश, रंग आदि के कारण कंपनी में कोई स्थान, पद या रोजगार देने से अक्षम करार नहीं दिया जाएगा।'

यह सचमुच जाति-बंधनों, दुश्मनी भरे झगड़ों और तानाशाहों से कुचले गए भारत पर एक बम गिराने जैसा था। मुक्त पश्चिमी विचारों का यह झटका आवश्यक रूप से परेशान कर देने वाले प्रभावों से रहित भी नहीं था। 1845 में सिख विद्रोह और 1857 में भारतीय गदर उसी प्रभाव के प्रत्यक्ष परिणाम थे, जो छोटे नहीं थे। भारतीय गदर के निष्कर्ष से ही इंग्लैंड ने यह अनुभव किया था कि अब समय आ गया है कि सरकार के अनुपयुक्त कंपनी-संसदीय ढांचे को हटाकर और व्यावसायिक हित के द्वारा विशाल राज्य के नियंत्रण को समाप्त करके भारत का प्रशासन सीधे ताज के अधीन लाकर ही हितों को सुरक्षित रखा जा सकता है।

यह कदम वर्ष 1858 में उठाया गया था। आखिरकार जीर्णशीर्ण, बीमार और गरीब बूढ़ी भारत माता एक दूसरी दुनिया के कगार पर खड़ी हो गई और उसने अपने सिर पर रखे गए एकदम ही नए झंडे को नजरअंदाज किया। उसने उस दिन भी वह शपथ ली थी, जो शपथ उसने आज ले रखी है और जो उसके लिए आज भी विशिष्ट है। समय के इतिहास में एक पीड़ित और एक गुलाम के रूप में उसे यह उम्मीद कैसे हो सकती है या वह यह कैसे विश्वास कर सकता है कि उसका नवीनतम भाग्यविधाता उसके लिए रचनात्मक सेवा, लोकतंत्र और आम जनता की भलाई का उपहार लाया है?

---

[1] चन्द्रगुप्त का शासन 322-298 ईसा पूर्व था।
[2] विलियम्स एंड नोरगेट, लंदन, पृष्ठ-48, 50
[3] पीपुल्स एंड प्रॉब्लम्स ऑफ इंडिया, पृष्ठ-53
[4] दि वोयज ऑफ जॉन हुजिन वैन लिंसकॉटिन टू दि ईस्ट इंडिया, एडिटेड फॉर दि हक्लुइट सोसायटी, 1884.
[5] डि इंपेरियो मैग्नि मोगोलिस, जे. डि लीट, लाइडन, 1631.
[6] इंडिया एट दि डेथ ऑफ अकबर, डब्ल्यू. एच. मोरलैंड, मैकमिलन एंड को., लंदन, 1920, इस आम विषय पर समकालीन सत्ता का विस्तृत दस्तावेजी विवरण प्रस्तुत करता है।
[7] रिमानस्ट्रन्टी ऑफ फ्रांसिस्को पेलसार्ट, डच से अनूदित, अनुवादक : डब्ल्यू. एच. मोरलैंड तथा पी. जेयल हेफर्स, कैंब्रिज, 1925, पृष्ठ-47 से 59
[8] वही, पृष्ठ-60
[9] वही।
[10] ट्रेवल्स इन दि मुगल इम्पायर, फ्रोंस्वा बर्नियर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1916, पृष्ठ-224
[11] वही, पृष्ठ-226 से 230
[12] ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ-348
[13] अमेरिकियों के रूप में, हमें यह कहने में गुरेज नहीं है कि हमने अपने आदिम निवासी भारतीयों को समाप्त करने के लिए काफी कुछ किया है और उन पर अपना अभिभावकत्व कायम रखते हुए उन्हें अभी 1924 में ही नागरिकता दी है (यूनाइटेड स्टेट्स बनाम नाइस, 241 यूएस, 598, 1916), जबकि हमारे ब्रिटिश भाइयों ने अपनी संख्या में काफी वृद्धि की है और बड़ी एवं बढ़ती संख्या में स्व-शासन के पथ पर ले गए हैं।

अध्याय **22**

सुधार

पिछली शताब्दियों में रोपी गई सरकार की जड़ें अब धीरे-धीरे ब्रिटिश भारत की लगातार प्रगति में अपना असर दिखा रही हैं। इस पुस्तक के उद्देश्य के लिए इनके उल्लेख को छोड़ा जा सकता है, ताकि वर्तमान विकासवादी चरण की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके।

आज भारत की सर्वोच्च शक्ति ग्रेट ब्रिटेन की जनता है, जो ब्रिटिश ताज और संसद का प्रतिनिधित्व करती है। वह (ब्रिटिश ताज) भारतीय परिषद में विदेश मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) के माध्यम से कार्य करता है और लंदन स्थित इंडिया ऑफिस में बैठता है। भारत में सर्वोच्च सरकार 'गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल' है। इसी को सामान्यत: 'भारत सरकार' कहा जाता है। गवर्नर-जनरल या वायसराय की नियुक्ति ब्रिटिश ताज के द्वारा की जाती है। इसी तरह उसकी परिषद नियुक्त की जाती है, जिसमें सात विभाग-प्रमुख होते हैं–सेना का मुख्य कमांडर, गृह सदस्य, वित्त सदस्य, रेलवे और वाणिज्य सदस्य, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा भूमि का सदस्य, उद्योग एवं श्रम सदस्य और विधि सदस्य। इन सात कैबिनेट सदस्यों में अंतिम तीन सदस्य भारतीय होते हैं।

केंद्र सरकार का अगला ढांचा 'भारतीय विधायिका' है, जिसका उच्च सदन 'राज्य परिषद' और निचला सदन 'विधानसभा' है।

राज्य परिषद का गठन 60 सदस्यों से होता है, जिनमें 34 चुने जाते हैं और बाकी 26 वायसराय द्वारा मनोनीत किए जाते हैं; जिनमें 20 सदस्य सरकार के अधिकारी हो सकते हैं।

विधानसभा में 144 सदस्य होते हैं, जिनमें से 103 का चुनाव किया जाता है। शेष 41 सदस्यों में, जो सभी वायसराय द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। इनमें 26 सदस्य सरकारी प्रतिनिधि होते हैं और शेष देश में अल्पसंख्यक समुदायों के हित में भारतीय ईसाई आबादी से मनोनीत किए जाते हैं। इन दोनों सदनों में सर्वाधिक संख्या भारतीयों की होती है और दोनों का गठन प्रशासन के उद्देश्यों के लिए गठित प्रांतों को प्रतिनिधित्व देने के लिए किया जाता है।

इस तरह ब्रिटिश भारत 15 प्रांतों में बंटा हुआ है, जिनमें हर प्रांत का अपना अलग प्रशासन है। इनमें नौ बड़े प्रांत हैं– मद्रास, बंगाल, बंबई प्रेसीडेंसी, संयुक्त प्रांत, पंजाब, बिहार व उड़ीसा, मध्य प्रांत, बर्मा और आसाम। इनका नियंत्रण एक-एक के लिए नियुक्त गवर्नर करता है, जिसका अपना काउंसिल है। ये प्रांतीय विधान परिषद के साथ मिलकर काम करते हैं और एक विधान परिषद में कम-से-कम 70 प्रतिशत (बर्मा में 60 प्रतिशत) का चुनाव लोगों के द्वारा होना जरूरी होता है।

निर्वाचन क्षेत्रों में विभिन्न जातियों, समुदायों और विशेष वर्गों के हितों के लिए काफी संतुलित पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। बदलती स्थानीय स्थितियों के साथ, प्रांत से प्रांत का मानदंड भी बदलता रहता है। उदाहरण के लिए, मद्रास में यह इस प्रकार है–

वर्गीय निर्वाचन क्षेत्र	निर्वाचित सदस्यों की संख्या
गैर-मुस्लिम (हिंदू, जैन, बौद्ध आदि)	65
मुस्लिम	13
भारतीय ईसाई	05
यूरोपियन (ब्रिटिश सहित)	01
एंगलो-इंडियन	01
भूस्वामी (जमींदार)	06
विश्वविद्यालय	01
व्यापार/उद्योग	06

कुछ प्रांतों में मतदाताओं की योग्यता भी बदलती रहती है। किन्तु, सामान्य रूप से मताधिकार न्यूनतम संपत्ति की योग्यता पर ही आधारित है। अब तक कानून ने 75 लाख लोगों को मताधिकार दिया है। [1] और सभी बड़े प्रांतों ने अपनी स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार दिया है। [2]

अपने स्वयं के मामलों को संभालने के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित और प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से प्रांतीय सरकारों की जिम्मेदारियों को बढ़ाने के लिए विकेंद्रीकरण का प्रयास वर्तमान योजना में सर्वोत्तम है। जैसा कि इसे आंशिक रूप से नौ प्रमुख मंडलों में लागू किया गया, यह प्रांतीय सरकार को दो शाखाओं का तंत्र बना देता है, जिसका संचालन गवर्नर ऑफिस करता है। इसकी पहली शाखा में राजा द्वारा नियुक्त गवर्नर और उसकी कार्यकारी परिषद है। परिषद के सदस्य भी सामान्यत: ब्रिटिश और भारतीयों में विभाजित हैं। इसकी दूसरी शाखा में गवर्नर और उसके विभागीय मंत्री आते हैं। इनकी नियुक्ति विधायिका के निर्वाचित सदस्यों से गवर्नर द्वारा की जाती है और ये ही विधायिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सभी मंत्री भारतीय हैं। दोनों शाखाओं के बीच सरकार के बहुत से कार्य, जो पहले एक हाथ से हो जाते थे, अब 'आरक्षित' और 'हस्तांतरित' विषयों के मुखियाओं के अधीन विभाजित हो गए हैं।

आरक्षित विषय केंद्र सरकार की अनंतिम शक्ति के अलावा काउंसिल के प्रांतीय गवर्नर के हाथों में होते हैं। हस्तांतरित विषय प्रांतीय विधान मंडलों को सौंपे गए हैं, जिन्हें मंत्री संचालित करते हैं।

हस्तांतरित विषयों की सूची भारत के लोगों के पक्ष में ब्रिटिश लोगों द्वारा छोड़े गए अधिकारों का प्रतिनिधित्व करती है। यदि प्रयोग सफल होता है, तो इस योजना में हस्तांतरित विषयों में और भी वृद्धि करने की मंशा है। दूसरी ओर, जहां मंत्रीमंडल अपने कार्य में विफल होता है,

वहां गवर्नर्स-इन-काउंसिल हस्तांतरित विषय को फिर से अपने नियंत्रण में ले सकता है। वर्तमान में जो विषय हस्तांतरित किए गए हैं, वे हैं– शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सिंचाई और रेलवे के अलावा सार्वजनिक कार्य प्रबंध, औद्योगिक विकास, आबकारी, कृषि, स्थानीय स्वायत्त निकाय आदि। आरक्षित विषयों में कानून व्यवस्था, रक्षा, वित्त और भूराजस्व इत्यादि शामिल हैं।

प्रांतीय विधायिका—जिन्हें विधान परिषदों के नाम से जाना जाता है—के बारे में हाल में एक अधिकारी कहता है– [3]

> 'परिषदों के पास कानून-निर्माण की व्यापक शक्तियां हैं और वार्षिक प्रांतीय बजट प्रस्तुत करने का अधिकार भी उनको मिला हुआ है। किन्तु, गवर्नर हस्तांतरित किए गए विभागों के हित में अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करने के लिए परिषद द्वारा नामंजूर अनुदान को यदि दिया जाना जरूरी समझता है, तो वह उस धन को फिर से बहाल कर सकता है। वह किसी भी अधिनियम को अस्वीकार कर सकता है अथवा गवर्नर जनरल के समक्ष विचार के लिए सुरक्षित रख सकता है और उस विषय पर (बशर्ते कि वह आरक्षित विषय के अंतर्गत हो) अपनी ही शक्ति से कानून बनाने का भी असाधारण अधिकार रखता है, जिसे वह अपने उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए आवश्यक समझता है। इस विशेष शक्ति का उपयोग अभी तक केवल एक बार हुआ है।'

प्रांतीय परिषदों से केंद्र सरकार पर आते हुए वही लेखक लिखता है– [4]

> 'संसद की शक्तियों के संरक्षण के अधीन भारतीय विधान मंडल 'ब्रिटिश भारत में सभी व्यक्तियों, सभी अदालतों और सभी स्थानों एवं वस्तुओं के लिए', भारतीय राज्यों में ब्रिटिश अधिकारियों तथा प्रजा के लिए, ब्रिटिश भारत के बाहर 'राजाओं की भारतीय प्रजा के लिए' और भारतीय सेना के अधिकारियों, सैनिकों और सेवकों के लिए—चाहे वे कहीं भी काम करते हों—कानून बनाने की शक्ति रखता है। किन्तु, इसके लिए प्रांतीय सरकारों को सौंपे गए विषयों तथा सार्वजनिक ऋण या राजस्व, धर्म, सैन्य अनुशासन और विदेश मामलों को प्रभावित करने वाले उपायों को सुनिश्चित करने के लिए गवर्नर जनरल के अनुमोदन की आवश्यकता होती है।
>
> 'धन आवंटन की शक्ति बहुत बड़े पैमाने पर विधानसभा को सौंपी गई है। वार्षिक बजट दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है और अधिकांश मामलों में आवश्यक अनुदान के लिए विधानसभा की सहमति मांगी जाती है। हालांकि, व्यय की कुछ मदें 'गैर-मतदेय' के रूप में बंद हो जाती हैं।'

वायसराय और क्राउन के पास अधिकृत रूप से मना करने की शक्ति (वीटो) होती है और क्राउन की पाबंदी के अधीन वायसराय किसी भी सदन की सहमति के बिना किसी भी बिल को कानून का रूप दे सकता है। आपातकालीन उपाय का ऐसा कदम केवल गंभीर मामलों में ही उठाया जाता है। यहां ब्रिटिश भारत की वर्तमान सरकार की कार्यप्रणाली पर कुछ और प्रकाश डालना आवश्यक है।

सामान्यत: 'द्विशासन' अथवा 'सुधार' मानी जाने वाली इस प्रणाली में सारत: कोई नई चीज नहीं है। परंतु, इस ब्रिटिश प्रणाली का केवल एक स्पष्ट मूलभाव है—सरकार में भारतीयों की भागीदारी को उत्तरदायी बनाना। विश्वयुद्ध में भारत की वफादारी ने—जिसमें, बंगाल को छोड़कर उसके हर प्रांत और राज्य से मनुष्यों और साधनों का पूरे दिल से योगदान था—ब्रिटेनवासियों में भावना का उत्तरदायी सैलाब प्रवाहित कर दिया था; जिसे उन्होंने किसी अन्य रूप में विश्वास और सहानुभूति के प्रदर्शन के साथ लौटाया। किन्तु, संसद वास्तव में 1858 में महारानी विक्टोरिया की घोषणा में सन्निहित मूल सिद्धांत का पुनर्सृजन था। जो कि 1909 के भारतीय काउंसिल एक्ट का लक्ष्य था; जब वर्तमान में कार्यरत 1919 के एक्ट की प्रस्तावना में यह घोषित किया गया था कि उसकी नीति–

> 'भारतीय प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों की संख्या को बढ़ाने और स्वशासी संस्थाओं के क्रमिक विकास के लिए ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार के प्रगतिशील अहसास को साम्राज्य के एक अभिन्न अंग के रूप में देखने की है।' [5]

आज यह योजना जिस रूप में है, उसमें उतनी स्थिरता भी नहीं है, जितनी कि धीमी गति से बढ़ने वाले देवदार के वृक्ष और उसकी जड़ में होती है। बल्कि, यह अपनी मिट्टी में एक विदेशी और अजनबी पौधशाला है, जो उदार और अविवेकी भावना की गर्मी से उसकी निहित शक्ति के बाहर जबरन आगे बढ़ाई जा रही है। भारतीय विधायिकाओं के सत्रों को—चाहे वे केंद्रीय हों या प्रांतीय—अगर कोई एक दर्शक के रूप में देखता है, तो उसको लगता है कि ये ऐसे छोटे शरारती बच्चों से भरा है; जिनके हाथ में गलती से एक सुंदर घड़ी लग गई है। और वे बच्चे उसे अपनी उंगलियों से छूने के लिए उसकी बड़ी कमानी के साथ खेलने के लिए और उसके रत्नों को बाहर निकालने के लिए आपस में लड़ते हुए हाथापाई करते हैं। उनमें कलपुर्जों के महत्व को समझने की कोई योग्यता नहीं है और अभी समय के मूल्य को भी नहीं जानते हैं। जब शिक्षक उनको समझाता है कि वे कैसे अपने खिलौनों में चाबी भरें, तो वे बेचैनी में चिड़चिड़ाकर चीखते हैं और अपने बटर स्कॉच को हड़बड़ी में उसमें डाल देते हैं।

जहां तक इन लोगों का इनके खयाली काम से संबंध है, आज इसकी सबसे बड़ी खासियत उसकी कृत्रिमता है। लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की शब्दावली में माहिर ये लोग वास्तव में इस शब्दावली के पीछे के विचार से गहनता से अनजान हैं। यहां राजतंत्रों ने कोई नागरिक भावना विकसित नहीं की थी। और भारत के लोग अंग्रेजों के आने तक राजतंत्रों के तानाशाही कानून ही जानते थे; और कोई कानून नहीं। ब्रिटेन ने अपने शैक्षिक प्रयासों से धीरे-धीरे एक नए वर्ग—मध्यवर्ग को पैदा किया, जो इससे पहले भारत में नहीं था। किन्तु, इस मध्य वर्ग का—जिसमें वकील और पेशेवर लोग आते हैं—आज उतना ही प्रभुत्व है, जितना जाति और पुनर्जन्म के नियम की आड़ में आज से पांच सौ साल पहले उनके पूर्वजों का था। ये आज भी लोकतंत्र के संपूर्ण विरोधी हैं। वे लोगों या जनता की बात इसलिए करते हैं, क्योंकि यह शब्द उस पश्चिम मूल के सरकारी प्रतिनिधि के शब्दकोश का है; जिसे वे बोलने का प्रयास करते हैं।

गांव का प्रधान सरकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के प्रति इन चुने हुए प्रतिनिधियों के काम को अच्छी तरह जानता और समझता है। एक भारतीय राजा को शासन करने की पुश्तैनी आदत होती है। और उसकी जो भी विफलताएं हों, जो भी उसका उद्देश्य हो; पर वह कहीं न कहीं अपनी जनता का ध्यान रखता है। और अपने आध्यात्मिक अथवा रक्त संबंधी पूर्वजों के नागरिक ऋण से अनजान एक अमेरिकी, प्लायमाउथ रॉक (अमेरिकी मूल का एक पक्षी) से रुनीमेड (थॉमस नदी के दक्षिण तट का मैदान) तक अगर भारत के इन बेसहारा डूबते-उतराते विधायकों का कुछ दिनों तक अवलोकन करें, तो वे पूर्ण विनम्र हो जाएंगे।

दिल्ली में 1926 के शीतकालीन सत्र के दौरान मैंने यदा-कदा विधानसभा की बहसों को सुना था। घंटा-दर-घंटा, दिन-प्रति-दिन, स्वराजवादी नेताओं ने अपनी ऊर्जा अनुपयोगी और अवरोधक रणनीति में खर्च की थी। जबकि शेष सदन इस दौरान अधिकांश समय तक उदासीन बैठा रहा। सिर्फ कभी-कभी उत्तर से आने वाले एक सदस्य की तिरस्कारपूर्ण अभिव्यक्ति बीच में इसकी नीरवता भंग कर रही थी। पार्टी नेताओं से कुछ भी रचनात्मक हासिल नहीं हुआ। सरकार द्वारा प्रस्तावित आवश्यक कानून के सरलतम खंड की भी स्वराजवादी वक्ताओं ने भयावह मंशा से शानदार व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। उनकी सारी गंभीर चिंताएं केवल एक तुच्छ और अपमानजनक बकवास का पागलखाना थीं। वे बार-बार कहते थे– 'हमें आप पर भरोसा नहीं है। हमें पता है, आपके उद्देश्य अच्छे नहीं हैं। हमें आपकी तीन बार की घृणित विदेशी सरकार से कुछ भी अच्छा होने की उम्मीद नहीं है।' वे विशिष्ट आक्षेप लगाने के लिए नीचे गिरते हुए सत्यनिष्ठ से इस तरह के सिद्धांतों को प्रस्तुत कर सकते थे।

जैसा कि संयुक्त राज्य का सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णय में ब्रिटिश ताज की वसीयत का पालन करता है। [6]

सहनशील, शांत और हमेशा विनम्र सरकारी सदस्यों ने जब उनको पलटकर जवाब दिया, तो एक बार भी उसमें क्रोध, झुंझलाहट या हार का चिह्न नहीं था। वे अपने ऊपर हमले से तनिक भी निराश नहीं हुए थे।

एक दिन मैंने असेंबली के एक अत्यंत प्रसिद्ध और बेहतर क्षमता वाले भारतीय सदस्य से इस विषय पर बात की, जिनका ब्रिटेन-द्वेष कदाचित उतना ही गंभीर है, जितना सदन के इस पटल पर हमला करने वाले दूसरे लोगों का।

मैंने कहा– 'विपक्ष के आपके साथी सदस्य सरकार की नेकनीयत के विरुद्ध भी बहुत भद्दे आरोप लगाते हैं। वे उसकी ईमानदारी का खंडन करते हैं। वे आरोप लगाते हैं कि वह (सरकार) 'फूट डालो और राज करो' के सिद्धांत पर हिंदू-मुसलमानों को भड़काने का प्रयास करती है। वे आरोप लगाते हैं कि वह भारतीयों के हितों को कुचलती है। वह भारतीय लोगों के साथ अनादर से पेश आती है और वह अपने निजी स्वार्थों के लिए देश के संसाधनों का दोहन करती है।'

उसने उत्तर दिया– 'हां, ये सारी बातें और इससे अधिक भी, वे कहते हैं।'

मैंने पूछा– 'क्या वे इसका मतलब जानते हैं?'

उसने उत्तर दिया– 'कैसे समझ सकते हैं? सदन में बैठा कोई व्यक्ति इनमें थोड़ा भी विश्वास नहीं करता।'

एक अमेरिकी के लिए, जिसके दिमाग में अमेरिका के फिलीपींस का ताजा अनुभव हो, इतिहास की यह पुनरावृत्ति अत्यंत दुःखद थी। 'सुधार अधिनियम' के तहत भारतीय विधानसभा और परिषदों के प्रथम सत्र के उद्घाटन पर सम्राट का दिया गया यह संदेश याद कीजिए–

> 'इन नई परिषदों में जनता के प्रथम प्रतिनिधियों के रूप में आप पर बहुत ही विशेष जिम्मेदारी है। इसलिए, यह आप पर निर्भर है कि आप अपने पेशे के आचरण और न्यायसंगत फैसले से इस विशाल संवैधानिक परिवर्तन के प्रबुद्ध संसार को विश्वास में लें। किन्तु, यह भी आप पर ही निर्भर है कि आप अपने लाखों देशवासियों—जो अभी राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने की योग्यता नहीं रखते हैं—के उत्थान के लिए काम करें और खुद की तरह उनके हितों को भी अपनी चिंता में लाएं।'

क्या ये शब्द उनके कानों में पड़े, जिनके लिए यह संदेश दिया गया था? उन्होंने स्वयं के और गरीब भारत माता के बीच क्या संबंध महसूस किया? क्या उनमें अपने उद्देश्य के लिए अपनी क्षमता दिखाने और उसके द्वारा आगे की सुविधाओं के योग्य होने के लिए कर्तव्य भावना है?

भारत के ब्रिटिश प्रशासन का इतिहास बताता है कि प्रतिक्रियावादी अव्यवस्थाएं तीव्र प्रगति के प्रयासों पर प्रहार करती हैं। पूरब के असंतोष भी सुधारों को रोक रहे हैं। यह शायद द्विशासन के लिए विशेष रूप से दुर्भाग्यपूर्ण था। क्योंकि, इसकी सालगिरह राजनीति में मि. गांधी के दुर्भाग्यपूर्ण प्रवेश के समय में पड़ी थी, जब वह उस पर अपने असहयोग आंदोलन की आग भरी बंदूकें चला सकते थे। उस समय बंगाल और मध्य प्रांतों में उनका प्रभाव उस प्रयोग को पूरी तरह रोकने के लिए पर्याप्त था। और यद्यपि उसका प्रभाव अब हर कहीं एक राजनीतिक कारण के रूप में अपेक्षित हो चुका है। पर, जो कमजोर और कड़वाहट भरे प्रभाव उसने छोड़े हैं, वो अभी भी उसकी प्रगति के पहियों को रोकते हैं।

अपने ऊपर भरोसा किए बिना सुधार अधिनियम की आलोचना करने की कोशिश से यह प्रतीत होता है कि इसकी मुख्य बाधा शत्रुता से ज्यादा उन चीजों की जड़ों में निहित हैं, जिन तक पहुंचा जा सकता है। सुधारों का संपूर्ण ढांचा सामान्य निर्वाचन मंडल की बुनियाद पर खड़ा किया गया है, जो अपने प्रत्यक्ष निर्वाचित विधायकों के माध्यम से हर प्रांत में जनता के सरोकारों से जुड़े मंत्रियों पर नियंत्रण करता है। मुश्किल यह है कि यह ढांचा आकाश में लटकता है। इसे बनाए रखने के लिए जो आधार बनाया गया है, वह अभी अंतिम चरण में है। इसलिए, वास्तव में अस्तित्व में नहीं है। निर्वाचन शब्द का जो व्यावहारिक अर्थ है, उस अर्थ में भारत में कोई निर्वाचन मंडल नहीं है और न ही वर्तमान आधार पर वह आने वाली बहुत-सी पीढ़ियों के लिए आ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत के चुने हुए प्रतिनिधि अभी तक अपने पद के कर्तव्यों से गंभीर रूप से अनजान हैं।

निर्वाचन मंडल के गैर-अस्तित्व के कारणों को इस पुस्तक के अगले पृष्ठों पर प्रस्तुत किया जाएगा। उनमें से एक मुख्य कारण यह है कि यहां मुश्किल से आठ प्रतिशत लोग ही पढ़ सकते हैं। और ये साक्षर लोग पूरी तरह से नगरों और महानगरों तक सीमित हैं। जबकि देश के विशाल भू-भाग पर फैले हुए विशाल जनसमूह अक्षर-ज्ञान की पहुंच से दूर है।

इन निरक्षर देहाती लोगों और काश्तकारों की राजनीतिक खेल में न कोई रुचि है और न पहुंच है। और न उसके परे किसी क्षितिज पर उनकी रोजाना की नजरें रहती हैं। शहर का राजनीतिज्ञ, विधायक वास्तविक या पद की लालसा रखने वाला शायद ही उनके पास आता है। अगर आता भी है, तो तब, जब चुनाव होते हैं या जब अहिंसा का आंदोलन शुरू होता है। तब वह उन्हें गलत-सलत खबरों के साथ एक अंध-विद्रोह के लिए उत्तेजित करता है। अभी हाल में जब विधान परिषदों के स्वराजवादी सदस्यों ने बहिर्गमन कर सरकार का चक्का जाम करने का निर्णय लिया तो—जहां तक मुझे पता है—उनमें से एक ने भी अपने निर्वाचन क्षेत्र में जाकर लोगों से सलाह लेने का कदम नहीं उठाया था। निर्वाचन क्षेत्र अभी भी एक धुंधली कल्पना, एक अमूर्त सिद्धांत और एक गैर-प्राच्य अवधारणा बना हुआ है; जो उनके दिमाग को अभी तक प्रभावित नहीं कर पाया है।

केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के पिछले छह वर्षों के घटनाक्रमों का अध्ययन करने के बाद कोई भी इस निष्कर्ष से नहीं बच सकता कि ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों ने नए कानूनों को कामयाब बनाने के लिए अपने प्रशासन में पूरी ईमानदारी, सच्चाई और निष्ठाभाव से मेहनत की है। वे अनुभव और विकास के विशाल शून्य को पाटने के लिए अपने विश्वास और शक्ति तथा धैर्य से भी ज्यादा विपरीत कठिनाइयों में काम करते हैं। कभी-कभी उनकी सफलता धीमी और थोड़ी दिखाई पड़ती है। किन्तु, उन सबमें सबसे बेहतरीन अधिकारियों में से एक को मैंने यह कहते सुना–

> 'मैं सिर्फ यह कहूंगा कि हमें अकेला छोड़ दो। हमेशा की तरह दोबारा जांच-पड़ताल मत करो। उसकी जड़ देखने के लिए पौधे को मत उखाड़ो। हमारा हर वर्ष लोगों के लिए शांति, जनता के कार्यों की सुरक्षा और प्रगति एवं न्याय का वर्ष होता है; जो एक उपलब्धि है। बिना किसी बड़े तूफान के हम जितनी दूरी तक चल सकेंगे, वह हमारे काउंसिल और मंत्रियों को यह बताने में उतना ही बेहतर होगा कि जब हम उनका विरोध करते हैं, तो उसकी वजह होती है—अपने कानून की संकल्पना के प्रति हमारी उच्चतर आज्ञाकारिता। न कि किसी महात्वाकांक्षा या समुदाय के लाभ के लिए हम ऐसा करते हैं।'

इस उद्धरण के अंतिम पद में भारत और पश्चिम के बीच सहानुभूति और सही निर्णय के रास्ते में बड़ी बाधाओं में से एक का आधा खुलासा हुआ है। हमें मूल रूप से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सरकारी अधिकारियों के कृत्यों के इरादों के रूप में व्यक्तिगत लाभ और भाई-भतीजावाद

दुनियाभर में शर्म और अपयश का कारण हो सकता है। इसलिए, यह सुझाव कि भारतीयों को उस विचार को साझा करने में कठिनाई होती है, हमारे कानों के लिए नैतिक पाखंड लगता है। और इसलिए हम किसी निश्चित घटना की दूसरी व्याख्याओं की खोज अपने दिमागों में करते हैं, जो भारत में सरकार को स्वायत्त बनाने का अनुसरण करती हैं।

पर जब हम इस मामले पर गौर करते हैं, तो हमें भारतीयों और खुद के प्रति ईमानदार होना पड़ेगा। तभी जाकर हम जान पाएंगे कि कार्यालयों में औसतन भारतीय जिस तरह की बाध्यताओं में बंधकर काम करते हैं, वैसी बाध्यता इन गोरे लोगों के साथ नहीं होती है। फिर, भारतीयों की सार्वजनिक सेवाओं के प्रयास जितने विफल होने को अभिशप्त होते हैं; उतने गोरों के नहीं।

हिंदू के लिए पहले परिवार-कबीले का प्राचीन धार्मिक कानून आता है। इस व्यवस्था के कारण वह सार्वजनिक पदाधिकारी, जो अपने परिजनों का घर संवारने में असफल रहता है; उसे दुनिया न केवल मूर्ख करार देती है, बल्कि पाखंडी होने का भी दाग उस पर चस्पा कर देती है। और फिर उसे न तो घर में शांति मिलती है और न ही बाहर सम्मान। उसे जनता भी सहारा नहीं देती।

दूसरा, परिवार के दायरे के परे जाति का चक्र आता है। वह हिंदू पदाधिकारी, जिसे उस दायरे के बाहर के हितों के लिए अपनी जाति के हितों को भूल जाना चाहिए; अपनी जाति के रूढ़िवादी साथियों के तिरस्कार तथा दंड के भय के आगे अपना सिर झुका लेता है। और यह न केवल उसको इहलौकिक, बल्कि पारलौकिक दंड का भी भागी बनाता है और अगले जन्म में भी उसे इसका दंड भोगना पड़ता है।

तीसरा, जैसा कि हम आगे के अध्यायों में पढ़ेंगे कि हिंदू और मुसलमानों के बीच राजनीतिक संघर्ष की वजह से, दोनों खेमों की ओर से सरकारी अधिकारियों को भयानक दबाव झेलना होता है। और व्यावहारिक रूप से उसे इस तरह का संरक्षण देने के लिए बाध्य किया जाता है; जैसा कि वह केवल अपने सहधर्मियों में ही उठाता है।

इन स्थितियों को ध्यान में रखकर कोई भी ज्यादा उदार और समझ के आधार पर पश्चिमी आदर्शों के प्रति निष्ठा के इस लोप को समझ सकता है कि सामान्यत: भारतीय सरकारी अधिकारियों में भी कट्टरता होती है। जब वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी ने सामान्य हित के स्वतंत्र कार्य में उसका सुख-दु:ख में समर्थन किया, तो उसे हटाकर उसकी जगह भारतीय को रख दिया गया; जबकि वह स्वयं प्राचीन कानून के अधीन होता है।

हरेक को अपने लोगों के बीच इस विदेशी मानक को बनाए रखना एक कठिन काम है।

अभी तक अपने सभी बढ़ते खर्चों और कम क्षमता के साथ किसी तरह नया संविधान भाग्य बदल रहा है। थोड़ा ही सही, पर इसने नौकरियों में भारतीयों की स्थिति को सुधारा है। इसने उनके लिए अनेक क्षेत्रों में उच्च पद खोले हैं। इसने मुखर भारत की कल्पना के लिए सरकार को प्रत्यक्ष रूप से ज्यादा उत्तरदायी बनाया है। सचमुच इस हद तक कि दर्शक यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि क्या सरकार की समानुपात की भावना कमजोर तो नहीं है? क्या वह अपने कानों को बचाने के लिए अपने अंत:करण का बलपूर्वक दम नहीं घोट रहा है? क्या यह अपने संपूर्ण बड़े, गूंगे, लाचार और जरूरतमंद परिवार की अत्यावश्यक चिंताओं की तुलना में उनसे मेल खाने के लिए बिगड़ैल बच्चे की चीखों पर ज्यादा ध्यान नहीं दे रही है?

भारत में एक लंबे समय से रह रहे, एक सख्त विचार वाले प्रतिष्ठित अमेरिकी ने मुझे यह घटना बताई–

> 'अभी एक प्रधान स्वराजवादी नेता ने वायसराय के विरुद्ध एक उग्र आक्षेप लगाते हुए भाषण दिया था।'
>
> इस अमेरिकन ने निजी तौर पर उनसे पूछा– 'पंडित! यह बताओ कि आप इस तरह कैसे चिल्ला सकते हो? क्या आपको यह ध्यान नहीं कि कुछ ही हफ्ते पहले इन्हीं वायसराय ने आपके प्रति विनम्र होकर दस्तूर के विरुद्ध जाकर आपकी सहायता की है और आपको वह सब दिया, जो आप चाहते थे?'
>
> उस भारतीय नेता ने हंसकर कहा– 'मैं इस तरह क्यों नहीं चिल्ला सकता? मुझे क्यों नहीं चिल्लाना चाहिए? बेशक, मैं चिल्लाता हूं। पर जितनी बार भी मैं चिल्लाता हूं, वह हमें कुछ देते हैं।'

इस प्रकार घर या विदेश में एक भारतीय से जानकारी लेने में एक महत्वपूर्ण प्रारंभिक कदम की सराहना करने के लिए उसके द्वारा बताए गए सत्य को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

एक भारतीय व्यक्ति आध्यात्मिक साधना के अर्थ में सत्य की खोज का एक समर्पित साधक हो सकता है। वह आपके साथ बहस में अनेक विषयों पर शानदार ढंग से बोलने वाला एक स्पष्ट वक्ता हो सकता है। और इससे भी अधिक वह कभी-कभी अपने स्पष्ट भाषण और बयानों के बीच में आसानी से तथ्यों के साथ विवाद करते हुए भावुक भी हो सकता है।

बार-बार इस विशिष्टता से जूझते हुए मैंने भारतीय नेताओं में सबसे खुले विचारों के एक प्रतिष्ठित बंगाली के साथ उसकी जांच की, तो उसने कहा–

> "हमारा 'महाभारत' सबसे ज्यादा सत्य की शिक्षा देता है। अगर हम भटक गए हैं, तो उन प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, जिनमें हम लंबे समय से रहते आए हैं। यदि हम झूठ बोलते हैं तो इसलिए, क्योंकि हम परिणामों का सामना करने से डरते हैं।"

इसके बाद मैंने एक महान रहस्यवादी और आध्यात्मिक गुरु से इस विषय पर बात की, जिसने मुझे एक महान आध्यात्मिक प्रवचन दे डाला। उनका कहना था–

> 'सत्य क्या है? सत्य और असत्य- ये सापेक्ष शब्द हैं। आपके पास एक निश्चित मानदंड है। अगर चीजें आपकी सहायता करती हैं, तो आप कहेंगे कि वे अच्छी हैं। कुछ अच्छा करने के लिए जो आवश्यक है, उसको कहना झूठ बोलना नहीं है। मैं गुणों में भेद नहीं करता हूं। हर चीज अच्छी है। कुछ भी स्वयं में बुरा नहीं है। न सिर्फ कर्म, बल्कि उद्देश्य भी अपना महत्व रखते हैं।'

अंत में मैंने इस विषय पर भारत में लंबे समय से रह रहे एक यूरोपियन से बात की, जिसे भारतीय दर्शन से गहरी सहानुभूति है।

मैंने पूछा– 'उच्च प्रतिष्ठा वाले लोग झूठा बयान क्यों देते हैं? और उसके बाद जब मैं उसकी पुष्टि में उन ग्रंथों को खोजती हूं, जिन्हें वे उद्धृत करते हैं; तो या तो वे मुझे मिलते ही नहीं या मिलते हैं, तो वे भी मिथ्या होते हैं।

उसने उत्तर दिया– 'क्योंकि एक हिंदू के लिए—जिसमें वह विश्वास करना चाहता है—वह असत्य नहीं हो सकता। यानी सारे पदार्थ मिथ्या हैं, तो उससे संबंधित सारे बयान भी मिथ्या हैं। इसलिए वह निर्दोष भाव से अपने उद्देश्य के लिए झूठ का सहारा लेता है। इसके अलावा जब वह

आपको वही दृश्य पेश करता है, जो उसे उपयुक्त लगता है; तो उसे यह बिलकुल नहीं लगता है कि अगर आपने उसके शब्दों की जांच-पड़ताल करने में उसके स्रोत को झूठा पाया, तो आपको कितना कष्ट हो सकता है?'

इसी क्रम में न्यूयॉर्क के एक जानकार पत्रकार ने 1926-27 की सर्दियों में सार्वजनिक रूप से शहर में प्रवचन देने वाले भारतीयों से पूछा था– 'आप भारत की स्थितियों के बारे में इस तरह के घोर झूठे आरोप क्यों लगाते हैं?'

उनमें से एक व्यक्ति ने इसके जवाब में कहा– 'क्योंकि आप अमेरिका के लोग भारत के बारे में कुछ नहीं जानते हैं। और आपके मिशनरी लोग जब और अधिक धन के लिए वापस आते हैं, तो सच्ची कहता हूं—हमारे गौरव को चोट पहुंचती है। इसलिए हमें उस पर संतुलन के लिए झूठ बोलना पड़ता है।'

जैसे ही हिंदू का अध्यात्म-विज्ञान पूरा होता है, उसे इस बात की कोई शर्म नहीं होती है कि उसका झूठ पकड़ा जाएगा। इसलिए, उसे पकड़कर भी आप उसे नीचा नहीं दिखा सकते। शतरंज के खेल की तुलना में इस विषय में उसकी नैतिकता कोई मायने नहीं रखती।

निष्पक्ष व्यवहार के नाम पर अब इस बात पर भी ज्यादा जोर नहीं दिया जा सकता कि यह लक्षण निश्चित तौर पर हीनता का बोध कराते हों। जैसे कि त्वचा का रंग। इस नजरिये से यह भिन्न मूल्यांकन है। अभी तक मानवीय विमर्श के केंद्र में विचार-भिन्नता रहती है। इसे लगातार माना और समझा जाना चाहिए। वरना, मानवीय व्यवहार भी अनावश्यक रूप से नष्ट हो जाएगा।

---

[1] दि इंडिया ऑफिस, सर मैल्कम सी.सी. सेटन, पूतनैम, लंदन, 1926, पृष्ठ-59
[2] देखिए परिशिष्ट-II
[3] दि इंडिया ऑफिस, पृष्ठ- 50 से 60
[4] वही, पृष्ठ-60 से 62
[5] पूर्व में उद्धृत , पृष्ठ-193, 194 एवं 287
[6] लेजिसलेटिव असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम-VII, पृष्ठ-278

अध्याय **23**

भारत के राजे-महाराजे

अभी तक हमने ब्रिटिश भारत की चर्चा की है, जो भारतीय साम्राज्य से अलग है और जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें दोनों शामिल हैं। भारतीय साम्राज्य के कुल क्षेत्रफल 18,05,332 वर्ग मील का 39 प्रतिशत क्षेत्र भारतीय रियासतों का है। साम्राज्य की कुल जनसंख्या 31,89,42,480 है, जिसमें से 23 प्रतिशत जनसंख्या यानी 7,20,00,000 लोग भारतीय रियासतों में रहते हैं। [1] व्यक्तिगत रूप से रियासतों के क्षेत्रफल 20 वर्गमील या उससे भी कम हैं, तो कई इटली जैसे बड़े हैं। हर रियासत पर उसके राजा का शासन होता है। यदि राजा अल्पवयस्क है, तो उस पर उसके रीजेंट या प्रशासक का शासन होता है। कुछ शासक हिंदू हैं। कुछ मुस्लिम, कुछ सिख अथवा अपने इतिहास के अनुरूप हैं।

क्षेत्रीय अखंडता और रियासतों में राजाओं के संप्रभुत्व अधिकारों को 1858 के महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में वृहत्तम शक्ति प्राप्त करने के बाद विशेष शपथ का विषय बनाया गया था। उसमें यह नियम स्थापित किया गया था कि ब्रिटेन अपने क्षेत्र का विस्तार करने की कोई इच्छा नहीं रखता है। लेकिन, भारतीय रियासतों पर किसी अन्य को भी आक्रमण करने की अनुमति नहीं देगा। महारानी ने कहा था–

> 'हम देशी राजाओं को अपना मानते हुए उनके अधिकारों, उनकी गरिमा और मान-मर्यादा का सम्मान करते हैं। और हम चाहते हैं कि वे और साथ ही हमारी प्रजा भी उस समृद्धि और सामाजिक उन्नति का उपयोग करें, जिसे केवल आंतरिक शांति और अच्छी सरकार से ही सुरक्षित रखा जा सकता है।'

ब्रिटिश सरकार और सत्तारूढ़ शासकों के बीच का संबंध संधि का संबंध है; न कि पराजित और विजेता का संबंध। यह संधि राजाओं को अपने तरीके से सरकार चलाने की स्वतंत्रता देती है। अपने तरीके से कर लगाने और अपने राज्यों में जीवन एवं मृत्यु के अधिकार को नियंत्रित करने की स्वतंत्रता देती है। ब्रिटेन की ओर से इस संधि का आधार– (क) चतुराई की मांग के अनुरूप प्रगतिकामी प्रभावों को लागू करने के दौरान—गंभीर जरूरतों को छोड़कर—रियासतों के अंदरूनी मामलों में कोई दखल नहीं देना और (ख) साम्राज्यीय चरित्र के रूप में संपूर्ण देश के हितों की रक्षा करना। हालांकि, राज्य और राज्य के बीच विदेश संबंध और वार्ताएं अनिवार्य रूप से सर्वोपरि सत्ता के अधीन होनी चाहिए। प्रत्येक बड़े राज्य में सत्तारूढ़ राजा को सलाह देने के लिए एक ब्रिटिश राजनीतिक अधिकारी तैनात किया गया है, जो रेजिडेंट कहलाता है। इसी तरह के छोटे राज्यों के लिए ब्रिटिश सलाहकारों की नियुक्ति की गई है, जो वायसराय सरकार की राजनीतिक शाखा के सदस्य होते हैं।

वर्ष में एक बार दिल्ली में वायसराय की अध्यक्षता में राजाओं को सामान्य नीतियों पर चर्चा करने के लिए बुलाया जाता है। यह सभा एक वैभवपूर्ण, भव्य और गरिमामय समारोह होता है। और यदि इस आम समय में प्रतिनिधि तत्त्वों के आत्मनिहित स्वभाव के कारण कोई महत्वपूर्ण पेशेवर बात सामने नहीं आती है, तो भी उसकी संसद अपने सही उद्देश्य को पूरा करती है। क्योंकि, एक अनुकूल तत्वावधान में व्यक्तिगत परिचय के माध्यम से यह रजवाड़ों के बीच संबंधों को मैत्रीपूर्ण बनाता है। इसलिए, जरूरत के मामले में भी तेजी से आम कार्यवाही करने के लिए यह एक सही माध्यम है। फिर भी इस सभा में दो या तीन बड़े राजाओं ने यांत्रिक कारणों से कभी आना स्वीकार नहीं किया है।

भारतीय रियासतों का दौरा करने में प्रशासन के वास्तविक स्वरूप के एक विचार पर पहुंचना बहुत ही कठिन है। अगर कोई राजा का अतिथि होता है, तो वह भी भव्य आतिथ्य का आनंद लेता है। किसी व्यक्तिगत मेजबान की तरह राजा संपत्ति का दिखावा करता है, उसे उन भागों को दिखाता है, जो सबसे उल्लेखनीय होते हैं। प्राचीन महलों से आधुनिक सुधारों तक फैली सुंदरता किसी की भी आंखों को चौंधिया देती है। और शायद ही पूरब या पश्चिम का कोई मेजबान यह कहता हो– 'अब, तस्वीर के दोष कहां हैं?'

फिर भी यह निश्चित रूप से देखा जा सकता है कि कुछ रियासतों में शासन बहुत अच्छा है। या यह कहें कि अधिकांश ठीक से शासित हैं, जिनमें कुछ पिछड़ी हुई रियासतें भी शामिल हैं। लेकिन, कुछ रियासतों में शासन की बुरी स्थिति है। यह अंतिम भारत के 'स्वर्ण युग' को प्रदर्शित करता है और इसे वैसे ही सुरक्षित रखा गया है, जैसे—आग की लौ में मक्खी को। उनका दरबारी जीवन और लोगों का जीवन 'अरेबियन नाइट्स' के किस्से हैं। एक तरफ क्रोध का अजीब प्रकोप, ईर्ष्या और हिंसा, पसंदीदा वजीर का अचानक रातोंरात गायब होना, भयंकर सजा और जहर देना और औरतों के कभी खत्म न होने वाले नैतिक षड्यंत्र हैं। तो दूसरी तरफ बेजान निम्नवर्ग है, जो अपना दुःखड़ा सुनाने पर भी कुचल दिया जाता है।

पुराने जमाने में राजकुमारों का अपने लोगों के साथ वैसा ही संबंध होता था जैसा कि किसी हरे-भरे पेड़ का उसकी कमजोर और बेहद थकी हुई जड़ों से। वह उन्हें चूसकर खोखला कर देता और इसके बदले उसे बहुत कम या कुछ भी नहीं देता था। इस तरह के राजा के अधीन यदि वह बहुत ही ज्यादा बेरहम न हो, तो आज भी लोग संतुष्ट हो सकते हैं। क्योंकि, उनका अब तक का संपूर्ण इतिहास बताता है कि उनके अस्तित्व के दूसरे तरीके की संभावना या तो कम है या फिर कुछ नहीं है। उन्हें दिखावा बहुत पसंद है। इसलिए अपने राजकुमारों के जन्मदिन, विवाह और धार्मिक अनुष्ठानों के विशाल और शानदार समारोहों में—जो वे करते रहते हैं—इतना अधिक खर्च करते हैं कि इसके कारण करों का भारी बोझ जनता पर पड़ता है; जो शायद ही ब्रिटिश शासन के लिए वहन करने योग्य है।

हालांकि, कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि राज्य सरकार की प्रवृत्ति इसे समान बनाने की है। यह काफी हद तक अपनी संपत्तियों की स्थिति के लिए शासकों की बढ़ती महत्वाकांक्षा के कारण है। या फिर प्रगति तब होती है, जब एक अयोग्य शासक को हटाकर राज्य का प्रशासन राज्य-प्रतिनिधि अर्थात् रेजीडेंट के हाथों में सौंप दिया जाता है। ऐसा उत्तराधिकारी के अवयस्क होने की अवधि में भी हो सकता है। इसलिए, एक तुलनात्मकता स्थापित की जाती है; जो कि सक्रिय असंतोष को मदद करने वाली होती है—अगर कोई प्रतिगामी सरकार अपनी गुणवत्ता को नीचे से लागू करने की कोशिश करता है।

एक विशिष्ट उदाहरण के रूप में ऐसे उत्तराधिकारी राजकुमार का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसकी अल्पवयस्कता 20 वर्षों तक चली। इस अवधि में रियासत का प्रशासन ब्रिटिश रेजिडेंट के हाथों में रहा और उस राज्य के इतिहास में पहली बार जनता से प्राप्त राजस्व से जनता की सेवा की गई। अच्छी सड़कें और पुल बनाए गए। स्कूल खोले गए। एक आधुनिक अस्पताल स्थापित किया गया, जिसमें योग्य डॉक्टर और कर्मचारी रखे गए। कानून व्यवस्था को मजबूत किया गया। व्यापार और उत्पादन के कारखानों को बढ़ावा दिया गया। राजकोष को संपन्न बनाया गया। एक सुरक्षित आपात कोष का निर्माण किया गया और न्याय को सबके लिए सुलभ बनाया गया। इस अपूर्व सुख के वर्षों में लोग उस दिन को सोचकर विलाप करते थे कि जब उनकी आंखों का प्रिय और अनुष्ठानिक रूप से अर्धदिव्य राजकुमार बालिग होकर आएगा और

उन पर उसी तरह राज करेगा, जिस तरह उसके बाप-दादाओं ने उनके बाप-दादाओं पर किया था।

और वह दिन आया। जब उस लड़के (राजकुमार) ने कामकाज संभाला। एक बार फिर पत्नियां, रखैलें, राज-दरबारी, नर्तकियां और महत्वाकांक्षी रिश्तेदार उस पर हावी हो गए। उसे लुभाने वाले खेल शुरू हो गए, जिसमें उसकी ऊर्जा और इच्छाशक्ति लुप्त हो गई। पुरुषत्व क्षीण हो गया और उस पर नियंत्रण करना आसान हो गया। तीन वर्षों में ही पिछले 20 वर्षों का काम ध्वस्त हो गया। राजकोष खाली हो गया। कर (टैक्स) और भी बढ़ गए। जनसेवा के काम फीके पड़ गए। 500 डॉलर प्रतिमाह पाने वाला बढ़िया डॉक्टर 16 डॉलर पर आ गया। अस्पताल में योग्य कर्मचारियों की जगह बेकार के पिछलग्गुओं ने ले ली। खुद अस्पताल भी कुत्ता-घर में बदल गया और दूसरे विभागों की भी इसी तरह भारी दुर्दशा हो गई। न्याय नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। इंसाफ अब पैसे से खरीदा जाने लगा था और कोई भी उन फैसलों के खिलाफ अपील नहीं कर सकता था। सिवाय पैसे के कहीं कोई सुनवाई नहीं थी। हर जगह घूस का बोलबाला था और उनके युवा राजा के भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनों के लिए धन हासिल करने के लिए लोगों का खून निकाला जाने लगा था।

अंत में उन्होंने अपने पुराने मित्र रेजिडेंट के पास आकर फरियाद की–

> 'हम उनके बीच लंबे समय तक रहे हैं और उन्होंने हम पर शासन किया है। किन्तु, हमें नहीं पता था कि ऐसा हो जाएगा। हम अब और सहन नहीं कर सकते। साहब! वापस आ जाएं और हमें पहले की तरह शांति, न्याय और अच्छा जीवन दें।'

लोगों ने सोचना शुरू कर दिया था।

कुछ राजाओं की क्रूरताओं और राक्षसी कर्मों की शर्मनाक कहानियां सुनाई जाती हैं। और मूल जमीनी काम इस तरह की कहानियों के नीचे दबे रह जाते हैं। पर, बिना स्पष्ट प्रमाण के उनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, भारत का सरकार-विरोधी प्रेस बढ़ा-चढ़ाकर कही या लिखी गई ऐसी सामग्री के प्रसारण के हर सुझाव को जब्त कर लेता है। वह इस तरह की बातों की अनुमति देने में ढिलाई के लिए मजमून बनाकर देता है। यद्यपि जहां सरकार हस्तक्षेप करती है, वहां वही तत्त्व 'विदेशी तानाशाह' का क्रंदन बढ़ाने के लिए अक्सर शीघ्रता करते हैं।

सिंहासन के लिए पैदा हुआ लड़का एक भयभीत बाधा के साथ दुनिया में आता है। सब उसके कृपापात्र होना चाहते हैं और इसका सबसे बेहतर पुराना रास्ता बेलगाम वासना, अहंकार, फिजूलखर्ची और उच्छृंखलता है। किन्तु, कभी-कभी कोई दृढ़ और समझदार रानी मां अपने पुत्र को इस सबसे बचाती है। और कभी-कभी उस उत्तराधिकारी को पढ़ने के लिए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूल में भेज दिया जाता है। अथवा उसे कुछ वर्षों के लिए भारतीय सामंतों के चार कॉलेजों में से किसी एक में कुछ अच्छे प्रभाव प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाता है।

इन प्रभावों में एक प्रभाव अपने साथियों के बीच जीवन का आदान-प्रदान है। यह प्रभाव उसे अपने महल में नहीं मिल सकता। क्योंकि, वहां वह हमेशा मातहतों या बड़ों के साथ होता है। दूसरा प्रभाव शारीरिक और मानसिक सुस्ती से उसे निरंतर जागृत करने का प्रयास है, जिसके लिए उसे काम करना और खेलों में (विशेष रूप से टेनिस जैसे खेलों में) सक्रिय रहना होता है, जिसे वह अपने घर वापस जाकर भी जारी रख सकता है। इसका तनिक भी यह कारण नहीं है कि कॉलेज उनके पक्ष में चलता है, बल्कि इसका कारण ब्रिटिश प्रधानाध्यापक की समझदारी है; जिसका काम लड़के की वर्तमान और आने वाली कठिनाइयों को जानना और उसके राजसी गौरव के उस सक्रिय आदर्श की शिक्षा देना है, जिसका ध्येय सेवा करना है।

कुछ मामलों में शिक्षा का यह कर्म लड़के के बाद के जीवन में पूरी तरह से लुप्त दिखाई देता है। लेकिन, दूसरों में चरित्र का विकास निश्चित रूप से भारतीय राज्यों में सरकार के संपूर्ण मानक को ऊपर उठा रहा है।

इसका एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मैसूर स्टेट है, जिसकी रियासत का आकार लगभग छह मिलियन आबादी वाले स्कॉटलैंड के बराबर है। वर्तमान प्रिंस के पिता को उनके कर्तव्यों के लिए ब्रिटिश मार्गदर्शन में शिक्षित किया गया था। उनकी अल्पवयस्कता के दौरान सरकार का कार्यभार जब ब्रिटिश निगरानी में आया, तो उसके द्वारा नियुक्त एक अच्छे दीवान की सहायता से उन्होंने अपने लोगों के हित में एक बेहतर और विश्वसनीय प्रशासन चलाया था। जब 1894 में उनकी मृत्यु हुई, तो वह भी अपने पीछे एक अवयस्क उत्तराधिकारी छोड़ गए थे। तब, एक बार फिर से राज्य की बागडोर ब्रिटिश मार्गदर्शन में क्वीन रीजेंट के हाथों में आई और युवा राजकुमार को अपनी भावी जिम्मदारियों को संभालने की विधिवत शिक्षा दी गई। 1907 में इस राजकुमार का राज्याभिषेक हुआ। और उसी समय से उसने शासक के रूप में अपने कर्तव्यों के प्रति नि:स्वार्थ और समझदार समर्पण का उच्च उदाहरण पेश किया।

हाल ही में अपने राज्य की भलाई के लिए एक मुस्लिम पारसी मि. मिर्जा इस्माईल (सी.आई.ई., ओ.बी.ई.) को दीवान के रूप में पसंद करने के लिए एक धार्मिक रूढिवादी हिंदू को उसकी एकनिष्ठ इच्छा के प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है। मैसूर नगर अपने व्यापक, छायादार वृक्षों, अपने आधुनिक सार्वजनिक भवनों, अपने पार्कों तथा बगीचों और चारों ओर विद्युत प्रकाश से जगमगाता हुआ एक साफ-सुथरा आदर्श नगर है। उसका ध्यान आकर्षित करने वाली अनेक सुंदर इमारतों में से एक विशाल प्रौद्योगिकी कॉलेज, एक विशाल विश्वविद्यालय भवन- जिसका अपना अलग पुस्तकालय है; और एक बड़ा-सा अस्पताल है। एक बड़ी सिंचाई परियोजना लगभग पूरी होने को है। राज्य के खनिज संसाधनों में, उसके कृषि उद्योग और उत्पादन कार्यों में प्रगति हो रही है। कुशल और अकुशल मजदूरों की मजदूरी पिछले वर्षों में दोगुनी हो गई है। लोगों के प्रतिनिधियों को राज्य-प्रमुख के साथ नियतकालिक संवाद के लिए चुनाव के माध्यम से लाने की व्यवस्था सफलतापूर्वक चल रही है। और अंत में उस सुखद विषय की संक्षेप में चर्चा, जिससे वे दो लांछन भी दूर हो जाएंगे, जो लगाए जाते हैं।

पहला, एक राजाज्ञा हुई कि प्रशासनिक अधिकारी के लिए दो उम्मीदवार आए हैं, उनमें कार्यालय योग्यता के आधार पर जो बेहतर व्यक्ति होगा; उसका चयन किया जाएगा। किंतु, जाति के आधार पर उच्च जाति के व्यक्ति का चयन नहीं करेगा। और दूसरा, राज्य में स्वास्थ्य सेवाओं की गति धीमी होते हुए भी प्रिंस ने अपने दीवान के माध्यम से दुनिया की सर्वश्रेष्ठ सेवाओं के लिए खर्च को नहीं रोका है। उन्होंने रॉकफेलर फाउंडेशन की अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य परिषद से मैसूर को भारत का ध्रुवतारा बनाने के लिए सहायता करने को कहा है।

भारतीय साम्राज्य के किसी भी भाग से इस तरह का यह दूसरा अनुरोध [2] आया है, जिसका सहर्ष स्वागत किया गया है। परिणामत: इसका लाभ असाधारण होगा।

सारे राजा अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुसार सेनाएं रखते हैं। इस प्रकार हैदराबाद के निजाम 83,000 वर्गमील में फैले राज्य की रक्षा के लिए लगभग 20 हजार लोगों की सेना रखते हैं। जबकि, दतिया के महाराजा 911 वर्गमील क्षेत्र पर नियंत्रण करने के लिए पैदल सेना की एक

पूरी कंपनी और सात तोपों वाला एक तोपखाना रखते हैं। पैदल सेना, घुड़सवार सेना, तोपखाना और परिवहन दल इन सबको मिलाकर एक विशाल सेना बनती है।

यहां एक और कहानी है, जो मुझे ऐसे व्यक्ति ने सुनाई है; जिसकी सच्चाई पर संदेह नहीं किया जा सकता। वह 1920 का संकटपूर्ण समय था, जब नए सुधार अधिनियम के बारे में संदेह व्यक्त किए जा रहे थे और लगातार यह अफवाह फैलाई जा रही थी कि ब्रिटेन भारत छोड़ने वाला है। भारत का लंबा अनुभव रखने वाले मेरे एक अमेरिकी सूचना अधिकारी ने एक आकर्षक व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण प्रिंस के राज्य की कृषि और सेना को देखा था, जिसका अपने राज्य के लिए प्रथम श्रेणी का कार्य था। प्रिंस का दीवान भी वहां उपस्थित था और तीन-तीन सज्जन आराम से ऐसे बात कर रहे थे, जैसे कि वे पुराने मित्र हों।

दीवान ने कहा– 'हिज हाईनेस (राजा साहब) इस बात को नहीं मानते कि अंग्रेज भारत को छोड़कर जा रहे हैं। पर, फिर भी इंग्लैंड की नई सरकार द्वारा उन्हें भारत छोड़ने की गलत सलाह दी जा सकती है। इसीलिए, हिज हाईनेस अपनी सेना को आकार दे रहे हैं। हथियारों में वृद्धि कर रहे हैं और चांदी के सिक्के ढलवा रहे हैं। यदि अंग्रेज जाते हैं, तो उसके तीन महीने बाद सारे बंगाल में एक भी रुपया और एक भी कुंवारी नहीं मिलेगी।'

'इसके लिए राजा साहब ने भारत के विस्तार के द्वारा बंगाल से दूर अपनी राजधानी में बैठते हुए मन से सहमति व्यक्त की है। उनके पुरखे लंबे समय से लुटेरे मराठा सरदार थे।'

लगता है स्वराजवादी नेता यह भूल जाते हैं कि जिस क्षण यह सरकार उनके हाथों में आ गई, इस देश में राज इन राजकुमारों का हो जाएगा। राष्ट्रों के रूप में राजा ही चमकेंगे और उसी तरह अलग-अलग जगह राज करेंगे, जिस तरह वे एक सदी पहले तक करते थे। और वह भारतीय सेना, जिसे यदि एक साथ रखा गया, तो विधानसभा के आदेशों को मानने की बजाय इन्हीं राजकुमारों में से किसी एक के पीछे हो लेगी; इसकी संभावना ज्यादा हो सकती है।

भारतीय मन एक निरंकुश अभिजात वर्ग के सांचे में ढला होता है। इसलिए, एक स्वाभाविक युद्ध का मतलब है, एक राजकुमार का नेतृत्व और असीमित लूट। यदि प्रिंस ने बंगाल के लिए प्रस्थान किया होता, तो ग्रामीण क्षेत्रों की जनशक्ति ब्रिटेन का साथ छोड़कर उसके पीछे खड़ी होती।

किन्तु, राजकुमार लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि यदि ब्रिटेन भारत से चला गया, तो उनमें से हरेक अपने लिए भू-भागों को तुरंत हड़पना शुरू कर देगा। और वे सब अपनी-अपनी सीमाओं की रक्षा करते हुए हथियारबंद होने के लिए बाध्य हो जाएंगे और अंतत: आज के राजनेता तो शुरुआत में ही इस तरह खत्म हो जाएंगे। जैसे—आग की लपटों में फूस नष्ट हो जाता है।

किन्तु, राजे-महाराजे ऐसा कोई मुद्दा नहीं चाहते हैं। वे खुलकर कहते हैं कि वे 'पैक्स ब्रिटानिका' (ब्रिटिश शांति) में बहुत प्रसन्न हैं। क्योंकि, यह उनको न केवल भारी भरकम सेना रखने के खर्चों से बचाती है, बल्कि उनको रेलमार्ग, अच्छी सड़कें, बंदरगाह, बाजार, डाक और तार सेवा जैसी सार्वजनिक सुविधाएं भी उपलब्ध कराती है। और साथ ही उन्हें शांति से अपनी संपत्तियों का विकास करने की भी अनुमति देती है।

युद्ध के समय में उनका व्यवहार पूरी तरह राजभक्ति वाला था। उन्होंने साम्राज्य के इस कार्य के लिए पूरी उदारता से धन, जनशक्ति और सामग्री उपलब्ध कराई थी। एक शब्द में वे एक अति-उत्साही, युद्धप्रिय अभिजात जमात हैं; जिनकी जबरदस्त रुचि इस बात में रहती है कि ब्रिटिश ताज भारत में अधिपति के रूप में बना रहे। पर, 'सुधारवादी सरकार' के भारतीय नेताओं को उनके दरबारों में नियुक्त करने से मना कर दे।

इस वर्ग को जो यह तीव्र घृणा है, उसमें इस बात का क्रोध भी शामिल है कि ऐसी ताकत जिसे वे स्वामी-भक्ति समझते हैं। वह उन आम लोगों से भी संवाद करती है, जिसको वे ढीठ और हास्यास्पद मानते हैं।

उनमें से एक ने तेज आवाज में मुझसे कहा– 'हमने इंग्लैंड के ताज के साथ संधियां की हैं। भारत के राजकुमारों ने उस सरकार से संधि नहीं की है, जिसमें बंगाली बाबू शामिल हैं। हम सत्ता में इन नए दुष्टों के साथ कभी काम नहीं करेंगे। जब तक ब्रिटेन बना रहता है, तब तक ब्रिटेन हमें सम्राट से बात करने के लिए अंग्रेज सज्जनों को भेज देगा और सब कुछ वही होगा, जो मित्रों के बीच होना चाहिए। किन्तु, यदि ब्रिटेन देश छोड़ता है, तो भारत को कैसे सीधा करना है, यह हम राजकुमारों को आता है। और यह भी कि राजकुमारों को क्या करना चाहिए?'

इसके बाद मुझे दिल्ली में अपने एक भारतीय मित्र द्वारा दी गई एक छोटी-सी पार्टी की याद आती है, जिसमें मुझे 'होम रूल' नेताओं के विचारों को सुनने का अवसर मिला था। वहां अधिकांश मेहमान मेरे मेजबान की तरह ही बंगाली हिंदू थे, जो पश्चिमी शिक्षित पेशेवर वर्ग से थे। वे ब्रिटेन के भारत छोड़ने पर लंबी-लंबी बातें कर रहे थे और इस बात पर भी चर्चा कर रहे थे कि भविष्य में वे देश में किस तरह राज करेंगे?

'और राजकुमारों के लिए आपकी क्या योजना है?' –मैंने पूछा।

'हम उनका सफाया कर देंगे!' –एक नेता ने पूरे विश्वास के साथ कहा। और बाकी सबने सहमति में सिर हिलाया।

---

[1] देखिए, स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया फ्रॉम 1914-15 टू 1923-24, पृष्ठ-3 से 5

[2] भारत में सरकार की सहायता के लिए रॉकफेलर फाउंडेशन को पहला अनुरोध मद्रास प्रेसीडेंसी से आया था। वहां अब उसका एक अधिकारी तैनात है।

भाग – 5

https://ebooks.hindiyug.com

उत्तर क्षेत्र में

उत्तर-पश्चिम सीमांत की रक्षा के लिए कोहाट केवल एक छोटी-सी चौकी है, जो कोहाट दर्रे के मुहाने की रक्षक है। पूरी तरह कठोर चौकसी के लिए यहां उपर्युक्त सघन और चुस्त व्यवस्था है। इसकी सड़कों पर नीली-बैंगनी क्यारियां हैं। उद्यानों में भी नीले फूलों की क्यारियां हैं। आप जहां भी अंग्रेजों को छोड़ेंगे, अंग्रेज उस जगह को किसी भी तरह फूलों से सुशोभित कर देंगे। कांटेदार तार शहर को घेरे हुए हैं। हर 100 कदम पर लाइट्स और भारी शस्त्रों से लैस संतरी (पहरेदार) हैं। हर मकान के कोने पर बड़ी-बड़ी खोजी लाइट्स लगी हुई हैं, जो गोधूलि बेला को भी उजाले से भर देती हैं। घात लगाने वालों को न किसी झाड़ी, न किसी पेड़ और न किसी आवास के पास छिपने की अनुमति है। दिन का उजाला खत्म होने के बाद किसी भी गोरी महिला को तारों के बाहर जाने की अनुमति नहीं है। डर की वजह से नहीं; बल्कि उन घटनाओं की वजह से, जो पहले घट चुकी हैं। वहां कोहाट में कुछ गोरी महिलाएं सेना के अधिकारियों की पत्नियां हैं, जो शांत सखियों की तरह पूरा खेल खत्म होने तक खेलती हैं। और दिन या रात, किसी भी क्षण यह या कोई भी सीमांत चौकी घातक हमले से मुक्त नहीं है।

इस चौकी के आसपास एक भारतीय शहर चारों ओर से ऊंची मिट्टी की दीवारों से घिरा हुआ है। बाजार, मस्जिदें, मंदिर और टेढ़े-मेढ़े कठिन रास्तों में अंधे मुंह वाले घर हैं; जहां चमड़े के कोट पहने ऊंची नाक वाले पुरुष अपने हाथों को मोड़कर कंधों पर राइफलें लिटाए हुए गुजरते हैं। देहाती मेले में बूथ जैसे 100 छोटे स्टाल, अफगान सीमा का आभास कराते हैं। इस मेले में मुस्लिम महिलाओं के छोटे पैरों के लिए बढ़िया चमकदार हीललेस चप्पलें, फारसी पलंग के पाये, बढ़िया रोगन, खूबसूरत जालियां, ठप्पों की छपाई वाले रेशमी और सूती कपड़े, टिन, पीतल या तांबे के जड़ाऊ वर्तन, मोर मिट्टी के बर्तन, पहाड़ी लोमड़ियों की उम्दा खालें, बुखारा के लाल गलीचे और मांस आदि (क्योंकि यह एक मुस्लिम देश है) मौजूद है।

यहां चीनी और चावल भी मिलते हैं, क्योंकि कुछ हिंदू भी यहां अपना कारोबार करने के लिए पहुंचे हैं। अमीर भी हो रहे हैं और थोड़ा ज्यादा आत्मविश्वास भी उनको हो गया है। भले ही चमड़े के बड़े कोट में वह ऊंची नाक वाला आदमी उनके साथ धन के लेन-देन में उनकी बराबरी नहीं कर सकता है। पर, वह मजाक-मजाक में घात लगाकर वार करने की क्षमता बाज जैसी ही रखता है, जो दुष्टों के लिए चेतावनी होनी चाहिए।

इसके आलावा अपने इस देश में बाज जैसी ऊंची नाक और बाज जैसी आंखों वाला नागरिक (पहरेदार) है। जो रिवॉल्वर की गोली जहां तक जा सकती है, उतनी ही दूरी पर निकट ही पहाड़ियों की ढलान है, जहां इस धूसर में उसके मुस्लिम भाई घात लगाकर बैठे रहते हैं।

जंगली जनजातियां, न किसी मनुष्य को राजा मानती हैं, न मालिक। ये जनजातियां लूटमार करने के अलावा कोई और कारोबार नहीं जानती हैं। सालभर का उनका सबसे पसंदीदा खेल हिंदू सूदखोरों को अगवा करना होता है। ऐसा करने के दौरान जो वे विचित्र आवाज निकालते हैं, उसको सुनना बहुत ही मनोरंजक होता है।

इस संपूर्ण विश्व में जो लोग दिन-रात, साल-दर-साल भारत की सरहद की रक्षा करते हैं; कहते हैं कि इस संपूर्ण विश्व में इन जनजातियों से बेहतर योद्धा कोई नहीं है। यह भी कि इसके पीछे स्थित है अफगानिस्तान। चीते की तरह घात लगाए उसकी हरी, चमकीली आंखें भारत पर टिकी हुई हैं। और अफगानिस्तान के पीछे नहीं, काबुल में ही छिपा है वह आदमी; जो भालू की तरह चलता है और सोने को संभालते हुए बिना रुके सीमा पर होने वाले व्यापार से पैदा हुए वैभवों के बारे में बिना थके बोलता है कि वह पंजाब में मुस्लिमों को मजबूत कर इस्लाम की स्थापना कर देगा। इसके लिए वह और दक्षिण के मुसलमान हिंदुओं को दोनों तरफ से ज्वार-भाटे की तरह घेर लेंगे।

'क्यों नहीं?' भालू (अफगानी) पूछता है– 'क्या तुम अपने पुरखों की तुलना में कमजोर मर्द हो? तुमको कौन रोकता है? अंग्रेज? किन्तु देखो! मुझे उनकी चिंता दूसरे रूप में है। उत्तर और दक्षिण के मूर्ख हिंदुओं को उनके विरुद्ध भड़काना। चूंकि उनके गृह प्रदेश में परिषदें कमजोर हो रही हैं। अंग्रेजों ने अपनी पकड़ ढीली कर दी है और मैं—भालू, तुम्हारे पीछे खड़ा हूं। जरा इन लूट और हत्याओं को देखो! अपना अस्त्र चलाओ! प्रहार करो!'

अध्याय **24**

पुआल की लपटें

अगर मोटे तौर पर 6,00,00,000 अछूतों की हिंदुओं के साथ गणना की जाए, तो ब्रिटिश भारत की तीन-चौथाई आबादी हिंदुओं की है। [1] इसी तरह मोटे तौर पर ब्रिटिश भारत की एक-चौथाई आबादी मुसलमानों की है। इन दोनों के बीच हमेशा एक बड़ी खाई रहती है। और वहां से एक सतत धमकी वाले मुद्दे गंधक और आग के विनाशकारी विस्फोट के साथ उठते रहते हैं।

यह खाई वर्तमान भारतीय परिस्थिति में सबसे बड़े कारकों में एक है।

इसी वातावरण ने उस समस्या को पैदा किया, जो 1858 में भारत में ब्रिटिश ताज के आने का कारण बना। किन्तु, यदि आज ब्रिटिश ताज के राज की पहली आधी सदी बीत जाने के बाद भी ये समस्याएं बड़े स्तर पर बनी हुई हैं, तो इसका कारण समझना मुश्किल नहीं है। इस अर्धशताब्दी के दौरान—प्रशासन और न्यायिक दोनों क्षेत्रों में—सरकार का संचालन सिविल सेवाओं के ब्रिटिश अधिकारियों के द्वारा किया गया था। इन अधिकारियों ने अपने कर्तव्यों के निर्वहन में हिंदुओं और मुसलमानों में कोई भेद नहीं किया था, बल्कि सभी के हित में समान काम किया था। इसलिए हर आदमी दिन-प्रति-दिन और उस बाहरी अधिकारी वर्ग से—जिसे न हिंदू चुनौती दे सकते थे और न मुसलमान—न्याय और सरपरस्ती हासिल कर रहा था। किसी भी पक्ष को उससे ईर्ष्या नहीं थी और शायद ही कोई धार्मिक सांप्रदायिक सवाल उठता था। किन्तु, 1909 में हवा ने तूफानी शक्ल अख्तियार कर ली। संसद द्वारा 'मिन्टो-मॉर्ले' योजना को 'इंडियन काउंसिल एक्ट' के रूप में लागू कर दिया गया।

इस उपाय का तत्काल प्रभाव मुस्लिम तत्त्व को सावधान करने और उसमें विशिष्ट तथा पृथक संस्था के रूप में उठ खड़े होने का आत्मज्ञान पैदा करने के लिए था। जो असंगठित, पर संदिग्ध भावना में लड़ाकू तथा अपने अधिकारों के बारे में परेशान था। क्योंकि, संसद ने यह काफी स्पष्ट देखा था कि किसी भी निर्वाचित विधायिका में और उसके द्वारा मिलने वाले किसी भी लाभ में हिंदू व्यावहारिक रूप से मुसलमानों को रास्ते से बाहर करने के लिए दृढ़ थे।

यह समझने के लिए कि यह स्थिति कैसे घटित हुई? यह याद रखना जरूरी है कि मुस्लिमवाद भारत में पहली बार विजेता के धर्म के रूप में आया था और 500 वर्षों तक उसने भारत के विशाल भाग पर शासन किया था। उस काल के दौरान फारसी ही कचहरी की भाषा थी। फारसी ही साहित्य की भाषा थी और फारसी ही कविता और कानून की भाषा थी। किन्तु, वह मुसलमान यद्यपि अपने कुरान और अपनी फारसी कविता से वाकिफ था; पर कायदे से एक बाहरी आदमी ही था। जिसने अगर कभी कलम और किताबों के साथ अपने दिमाग को परेशान किया होता, तो उसे अपने लिए दूसरा काम करने को मिल सकता था। इसलिए, जब भी किसी ब्राह्मण ने अपने तेज दिमाग और सुगम स्मृति के साथ फारसी का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो उसके द्वारा मालिक के उपयोग के लिए उसने अपना ज्ञान भंडार इतना बढ़ा लिया कि वह सरकारी सेवा में वांछनीय जगह पाने के लिए योग्य हो गया।

परिणामत: पांच या इससे ज्यादा सदियों तक, ब्राह्मणों ने काफी हद तक दफ्तर का काम किया; जबकि मुसलमानों ने देश पर राज किया।

इस्लाम के प्रभावशाली प्रभुत्व और ब्रिटिश ताज के प्रत्यक्ष प्रशासन के मध्य के अंतराल का इतिहास कहीं और रेखांकित किया गया है। बाद की घटना को 21 वर्ष हो गए। ईस्ट इंडिया कंपनी के पुराने दिनों में जो एक छोटा-सा बीज बोया गया था, आज हम सब उसी के फल के साथ जी रहे हैं।

यह ऐसा परिवर्तन था, जिसने न्यायालयों की भाषा को फारसी से बदलकर अंग्रेजी कर दिया था।

यह परिवर्तन भारतीय शिक्षा के पश्चिमीकरण के एक तर्कसंगत हिस्से के रूप में हुआ था। इसके नतीजे भी कुल्हाड़ी के शुद्ध प्रहार की तरह आसान किए गए हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग इसकी आरंभिक प्रक्रिया पर इस प्रकार सुझाव देता है– [2]

> '1837 के अधिनियम के प्रभाव और 1844 के प्रस्ताव को, जिसमें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता देने की बात कही गई है; उस हिंदू 'भद्रलोक' के लिए—जिसमें से सभी छोटे अधिकारियों को लंबे समय तक निकाल दिया गया था—निर्णायक होना ही था। उन्हें सार्वजनिक रोजगार की एक शर्त के रूप में लंबे समय से फारसी सीखने की आदत हो गई थी। लेकिन, अब वे उसकी जगह अंग्रेजी सीख गए थे। सचमुच ये हिंदू ही थे, जिन्होंने किसी भी बड़ी संख्या में सार्वजनिक शिक्षा में नए अवसरों का लाभ उठाया था। स्वाभाविक है कि मुसलमानों ने इस परिवर्तन का दृढ़ता से विरोध किया, जो उनके लिए सचमुच विनाशकारी था। अब तक उन्हें फारसी के ज्ञान ने ही काफी लाभ दिया था। इसलिए उन्होंने इसे पढ़ना छोड़ने से इनकार कर दिया। उनके लिए यह उनकी संस्कृति की भाषा थी। ऊपर से अंग्रेजी भी लेना उनके लिए बहुत भारी बोझ भी था। इसके अलावा अंग्रेजी के बारे में उनकी सोच यह थी कि वे इससे मिशनरियों की गतिविधि के कारण ईसाइयत की शिक्षा से जुड़ जाएंगे। इसलिए, वे हिंदुओं के मुकाबले ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में अपने बेटों को डालने के लिए बहुत कम इच्छुक थे। उनके अभिमान और उनकी धार्मिक भक्ति ने विद्रोह कर दिया और वे परिवर्तन के आंदोलन से अलग खड़े हो गए।'

मुसलमान शिक्षित हो या अशिक्षित, एक भावुक एकेश्वरवादी होता है। 'ईश्वर है, पर वह एक ही है।' उसकी मस्जिदें मूर्तियों से मुक्त हैं। वहां वह अदृश्य सर्वशक्तिमान की बार-बार और रोज इबादत (नमाज अता) करता है। और यद्यपि वह आसमानी धर्म के रूप में ईसाइयत का सम्मान करता है और ईसा मसीह को एक प्रेरक पैगम्बर मानता है। पर ट्रिनिटी (पिता, पुत्र और पवित्रात्मा) का सिद्धांत उसके लिए एक असंभव विश्वास है। उसका ईमान उसकी सर्वोच्च संपत्ति है। इसलिए, वह स्वेच्छा से उस अंग्रेजी भाषा के लिए दरवाजा नहीं खोलेगा, जिसे वह अपवित्र धर्म का माध्यम मानता है।

इन विकल्पों से हुए गहरे आघात से बाध्य होकर इस बात की कल्पना किए बिना कि इसका अंजाम क्या होगा? इस्लाम पीछे हट गया।

जब तक ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत के नगरों और गांवों में प्रशासनिक कार्यों को अंजाम दिया। इसकी वजह से बनी स्थितियों पर परदा पड़ा रहा। किन्तु, 'मिन्टो-मोर्ले सुधारों' की पहली गोली ने उस पर्दे को फाड़ दिया। मुस्लिम नेताओं में डर समा गया। उनकी मुट्ठियां म्यान में पड़ी जंग लगी तलवारों की मूंठ पर कस गईं। उनींदी आंखों से उन्होंने उस दुनिया को देखा, जिसमें उनको अपने लिए अपशकुन ही दिखे।

इस प्रकार बहुत ही प्रतिकूल परिस्थिति में मुसलमान एक राजनीतिक अस्तित्व के रूप में फिर से मैदान में प्रकट हो गए। अभी तक देश भर में व्यापक गांवों और बस्तियों में शायद ही यह हलचल पहुंची थी। वहां अभी भी अकेले ब्रिटिश अधिकारी ही सरकार का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और कंधे से कंधा मिलाकर शांति से रह रहे मुसलमान और हिंदू—दोनों के साथ न्याय और सहायता का व्यवहार कर रहे थे।

फिर आया 1919 का वह कानून, जो 1909 के 'सुधारों' का विस्तार था और जिसमें अंग्रेजों से भारतीयों को ज्यादा अधिकार, स्थान और संरक्षण मिलने वाले थे। और 10 साल के अंत में क्षेत्र की समीक्षा करके और भी कुछ दिए जाने का वादा शामिल था।

उसी क्षण से देश में- आंदोलनकारियों की पहुंच से दूर इलाकों को छोड़कर -इन दोनों तत्त्वों के बीच शांति सिर्फ नाम की रह गई थी। ब्रिटिश अधिकारी एक कृत्रिम शांति पूरी तरह बनाए हुए थे और अब जैसे-जैसे 1929 करीब आ रहा है, रोज ही तनाव बढ़ता जाता है। जबकि दोनों प्रतिद्वंद्वी (हिंदू-मुस्लिम) हलकों (इलाकों) में एक-दूसरे के आसपास चहल-कदमी करते हैं और जो पहले शिकार पकड़ में आता है, उसे काट डालते हैं।

एक समय इस राजनीतिक अशांति के दौरान—जिसका नतीजा युद्ध था—आज के नेताओं ने एकता का एक संक्षिप्त प्रहसन खेला था। मि. गांधी ने 'खिलाफत' [3] आंदोलन को गले लगा लिया था। जो उन अली बंधुओं में अवतीर्ण हुआ था, जिसके द्वारा यदि मुस्लिम शक्ति उनके साथ आ जाती, तो ब्रिटिश प्रशासन को नीचा दिखाया जा सकता था। लेकिन खिलाफत आंदोलन अपने ही कारणों से जल्दी अपनी मौत मर गया। और गांधी-अली गठबंधन की यही इकलौती घटना है, जिसका उदाहरण घोषित किए गए बंधुत्व की वास्तविक गहनता का वर्णन करने के लिए दिया जा सकता है।

मालाबार तट की अनदेखी करते पहाड़ों के ऊपर लगभग दो मिलियन हिंदुओं की आबादी के बीच मोपला रहते हैं, जो प्राचीन अरब व्यापारियों और इस देश की स्त्रियों के वंशज हैं। ये मोपला—जिनकी संख्या लगभग एक मिलियन है—असाधारण रूप से स्वच्छ और बढ़िया रखरखाव वाले घरों में रहते हैं। अक्सर बुद्धिमान पाए जाते हैं। खुरदरे चेहरे वाले और मेरे अपने अनुभव के अनुसार, दिलचस्प और स्नेही आदिम लोग हैं।

किन्तु कट्टरपंथी मुसलमान, जिन्हें हमेशा धार्मिक जुनून का विस्फोट करने के लिए तैयार किया गया है; जिसमें उनकी एक इच्छा यह है कि उन्हें गोली या चाकू से स्वर्ग भेजा जा रहा है। इस पहली इच्छा में काफिरों को लंबे समय तक अपने हाथों से मारने की संभावित सूची बना रहे हैं।

उपरोक्त वर्णित 1921 की राजनीतिक गुटबंदी की अव्यवस्थाओं के वर्ष में इन भोले-भाले प्राणियों के बीच उन्होंने अपने विशेष सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए दूत भेजे थे। उन्होंने घोषणा की कि इस्लाम के पवित्र स्थलों के खिलाफ कार्यवाही में सरकार का हाथ है। यह इस्लाम की दुश्मन 'शैतान' सरकार है। इस सरकार को भारत से शीघ्र ही खदेड़ना होगा, तभी स्वराज स्थापित होगा।

मस्जिद-मस्जिद, बस्ती-बस्ती और गली-गली में ये उग्र विचार फैलते चले गए। और उन भोले-भाले मोपलाओं के लिए उन दुःखद वर्षों में अपने निराकार दार्शनिक के लिए, उनका एक ही अर्थ था—पूरे देश में लाखों मासूम हिंदुओं के साथ युद्ध।

लेकिन, मुद्दा यह है कि मि. गांधी ने इस विषय में जिंदादिल अली बंधु को याद किया और इस विषय में उसने जो विचार रखा, वह स्वराज था। जिसका मोपला के लिए अर्थ था—इस्लाम का राज्य आना। उसमें सफलता मिले या न मिले, पर किसी भी मूर्तिपूजक हिंदू को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा।

अत: मोपलाओं ने गुप्त रूप से—जितना वे कर सकते थे—भारी मात्रा में चाकू, भाले और बरछी जैसे हथियार इकट्ठे कर लिए। पर, 20 अगस्त 1921 को बात बेकाबू हो गई। जैसे कि शुरू में ही एक यूरोपीय बागान मालिक की हत्या करके प्रायोजकों के लिए एक आरंभिक संकेत दे दिया गया। किन्तु, इसके बाद क्रोधित लोगों ने अपनी ताकत को कहीं और नष्ट किए बिना सांप्रदायिक युद्ध के अनुकूल कार्य पर ज्यादा ध्यान दिया। पहले उन्होंने सड़कों को जाम किया, टेलिग्राफ के तार काटे और रेल की पटरियों को उखाड़ा। इससे पहाड़ों में दूर तक फैले हुए छोटे पुलिस स्टेशनों को अलग-थलग करके मुस्लिम राज्य स्थापित करने और उसके बाद अपने अनुकूल स्वराज की घोषणा करने के लिए उन्होंने गंभीर और विस्तृत काम करना आरंभ कर दिया।

उनके हिंदू पड़ोसियों को, जो उनको दो से एक करना चाहते हैं, उनके विरुद्ध कोई अवसर मिलता दिखाई नहीं दे रहा है। आमतौर पर हिंदू औरतों का पहले खतना किया जाता था– इस प्रक्रिया को 'जबरन धर्मांतरण' कहा जाता है, जिसके बाद उन्हें मोपला परिवारों में शामिल कर लिया जाता था। हिंदू पुरुषों को कभी-कभी मृत्यु या धर्म परिवर्तन में से किसी एक को चुनने का विकल्प दिया जाता था। कभी-कभी उनको जिंदा गाड़ दिया जाता था। कभी-कभी एकाएक उन्हें तलवार से काटकर उनके ही कुओं में फेंक देते थे। एर्नाड तालुक जिले में 900 से ज्यादा पुरुषों का जबरन धर्म परिवर्तन कराया गया था और उस काम को पहाड़ी ढलानों के पार तक फैलाया।

जितनी जल्दी हो सकता था पुलिस और सेना को देश के अंदर सक्रिय कर दिया गया, जिसने छह महीने में अपनी कोशिश से उपद्रव को दबा दिया। परंतु, इस काम में लगभग तीन हजार मोपलाओं को अपना जीवन गंवाना पड़ा। बहुत-सी संपत्ति नष्ट हुई और काफी परिवार बर्बाद हुए। और अपराध साबित होने के इंतजार में कैदियों की सूची लंबी होती चली गई। पर, इसके लिए जिम्मेदार हिंदुओं की गणना ही नहीं की गई, जो निश्चित रूप से उनकी तुलना में अधिक संख्या में थे।

इसी बीच खतना किए हुए हिंदू ऊपर भटकते रहे थे और नीचे लोग अपने भाइयों को सावधान होने के लिए चिल्ला रहे थे।

यूनाइटेड स्टेट्स गवर्नमेंट के एक प्रशिक्षित अमेरिकी एजेंट को उस दौरान उस क्षेत्र में जाने का अवसर मिला था। उसने अपना विवरण इस प्रकार दिया था–

> 'मैंने उन्हें मद्रास प्रेसीडेंसी के दक्षिण और पूरब के गांव-गांव में देखा। उनका बहुत-ही दर्दनाक तरीके से खतना किया गया था और अब बहुत से मामलों में वे रक्त के विषाक्त हो जाने से पीड़ित थे। वे अपना दुःख सुना रहे थे और अपने देवताओं से स्वराज को शाप देने तथा देश में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने की प्रार्थना कर रहे थे—हमारे दुःखी शरीरों को गौर से देखो! हम अशुद्ध, धर्मभ्रष्ट और अपवित्र हो गए हैं। क्योंकि, उन नागों ने हमारे अंदर स्वराज का जहर भर दिया है। एक बार ब्रिटिश को देश छोड़ने दो। जो शर्मनाक कांड हमारे साथ हुआ है; विश्वास करिए, वह आप सभी हिंदू स्त्री और पुरुषों के साथ होगा।'
>
> 'सचमुच उन पर नरक का आतंक था।'
>
> 'और ब्राह्मण पुरोहित हमारा शुद्धि-अनुष्ठान कराने के लिए—जिसके द्वारा हम गरीब प्राणियों की आत्माओं की रक्षा हो सकती थी—प्रति व्यक्ति 100 से 150 रुपए मांग रहे थे।'
>
> 'यह अनुष्ठान आंख, कान, मुंह और नाक में गाय का मुलायम गोबर भरकर किया जाता है; जिसे बाद में गाय के मूत्र से धोया जाता है। फिर उसके बाद घी, दूध और दही लगाया जाता है। यह अनुष्ठान आसान लगता है। पर, इसे केवल ब्राह्मण ही उचित संस्कार और धार्मिक मंत्रों के साथ करा सकता है। और दक्षिणा, जिसे ब्राह्मण अपनी सेवाओं के लिए तय करते हैं, इन जरूरतमंदों के लिए बहुत ज्यादा थी; जिसे वे नहीं दे सकते थे। वे अपनी दरिद्रता से इतने मायूस थे कि ब्रिटिश अधिकारियों ने बड़ी संख्या में पीड़ितों को देखते हुए एक बार फिर धार्मिक मामले में हस्तक्षेप करते हुए उनके और ब्राह्मणों के बीच मध्यस्थता करके ब्राह्मणों को प्रति व्यक्ति 12 रुपए में सबका सामूहिक अनुष्ठान कराने के लिए

राजी किया।'

मैंने इस विवरण में अंतिम बात की सत्यता को जांचा नहीं है। फिर भी मुझे सूचना देने वाला वह व्यक्ति उस समय घटना-स्थल पर होने के अलावा, पेशेवर रूप से भी इस बारे में आलोचनात्मक राय रखता है।

यदि इस विद्रोह में कोई बात विशेष रूप से मुसलमानी थी, तो वह सामान्य बर्बरता की बजाय 'जबरन धर्म परिवर्तन' की शक्ल में थी। मोपला घटना से कम-से-कम छह महीने पहले मालाबार से बहुत दूर संयुक्त प्रांत में 'चौरी चौरा' कांड हुआ था।

थोड़े दिन हुए, अधिक या कम वेतन के तहत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के फैसलों को लागू कराने के लिए एक नागरिक सेना के रूप में 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक' नाम से एक संगठन का निर्माण हुआ था। यह कांग्रेस पूर्ण रूप से राजनीतिक संगठन है और उस समय यह मि. गांधी के नियंत्रण में था।

4 फरवरी 1921 को सरकार विरोधी अभियान से जुड़े राष्ट्रीय स्वयं सेवकों की एक उत्तेजक भीड़ ने चौरी चौरा में पुलिस चौकी पर हमला कर दिया था। उस समय उसके अंदर 21 सिपाही और गांव के चौकीदार मौजूद थे, जो गांव में शांति के संरक्षक थे। देहाती जनता और उन स्वयं सेवकों को मिलाकर पुलिस चौकी के आसपास लगभग 3,000 लोग जमा थे, जिनमें से कुछ तो गोली लगने से तुरंत मर गए थे; शेष घायल हो गए थे। उस भीड़ ने उन घायलों को एक जगह इकट्ठा करके उन पर तेल डालकर उन्हें जिंदा जला दिया था।

यह हिंदू के लिए हिंदू जैसा था।

इसी तरह 1919 के उपद्रव के दौरान पंजाब में सरकार-विरोधी कार्यकर्ताओं ने विदेशी महिलाओं का बलात्कार करने के लिए विशेष अभियान चलाया था।

इसकी सार्वजनिक घोषणा पोस्टरों में इस तरह की गई थी– 'धन्य हो महात्मा गांधी! हम भारत के बेटे हैं... गांधी! हम भारतीय तुम्हारे नाम पर मौत के लिए लड़ेंगे।' और 'अब आप किस समय का इंतजार कर रहे हो? यहां बेइज्जत करने के लिए बहुत सारी औरतें हैं। भारत में सब तरफ फैल जाओ, देश से सफाया कर दो इन औरतों का।' ...आदि-आदि। [4]

यह था गोरे आदमी के विरुद्ध भारतीयों का विरोध।

इस तरह की भाषा एक ऐसी जनता के लिए, जो न उसका अर्थ समझ सकती थी और न उसका दूसरा महत्व। यदि उसे उसका काम करने के लिए समय दिया गया था, तो पंजाब की पतवार पकड़ने वाला वह हाथ कमजोर था और भारत के इतिहास में एक असहनीय कथा लिखी गई थी।

और अगर ये तीनों उदाहरण यहां एक जैसी समकालीन समानताओं की गंभीरता को प्रस्तुत करते हैं, जिनके साथ उनको विविधता और दृढ़ता दी जा सकती है; तो यह भारतीय लोगों को शर्मसार करने के मकसद के लिए नहीं है। बल्कि जंगली, आदिम और लोगों की भीषण विस्फोटक प्रवृत्ति पर ध्यान देने के लिए उन राजनीतिक लोगों और सिद्धांतकारियों को नियंत्रित करने के लिए है; जो लोगों की भावनाएं भड़काते हैं।

अब भी बहुत से ग्रामीण इलाकों में इस हिंदू-मुस्लिम दुश्मनी की आग नहीं फैली है। और अगर उन्हें बाहरी राजनीतिक दलालों ने न भड़काया, तो ये दोनों तत्त्व पर्याप्त सौहार्दपूर्ण ढंग से दो पड़ोसियों की तरह रह सकते हैं।

वर्ष 1924 में दिल्ली के निकट बुलंदशहर जिले में जब गंगा में बाढ़ आई थी, यकीनन इस तरह की घटनाएं हुईं थीं। वह एक विनाशकारी बाढ़ थी, जिसमें मनुष्य और जानवर समेत गांव के गांव बह गए थे। वहां कुछ हिंदू मल्लाहों और मछुआरों पर ही—जिनके पास अपनी नावें थीं—बचाव का पहला काम निर्भर करता था। और उन लोगों ने इस अवसर पर एक भी मुसलमान को पानी से बाहर निकालने से इनकार कर दिया था।

लेकिन, दूसरी तरफ मैंने गांव में एक ऐसे रात्रि-स्कूल को देखा, जिसे मुसलमानों ने अपने बच्चों के लिए स्थापित किया था। और जिसमें उनके हिंदू पड़ोसियों ने भी चंदा दिया था। यह बंगाल का नादिया जनपद था, जहां दोनों धर्मों के ग्रामीणों में किसी भी तरह की कोई आपसी दुर्भावना नहीं दिखती थी। वहां किसी समय एक डिप्टी कमिश्नर उनका विश्वासपात्र था, जिसे उन्होंने अपने सभी मामलों में सलाहकार चुना था।

इसके सिवाय ऐसा ही कुछ लखनऊ शहर के लिए बनाए गए एक पार्क के इतिहास से जाना जा सकता है। जब पार्क के लिए जमीन का मुआयना हुआ, तो पता चला कि उस जमीन के एक कोने पर एक हिंदू मंदिर खड़ा है। ऐसे मामलों में अपनी तयशुदा नीतियों का पालन करते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने उस मंदिर को बिना कुछ किए, वैसे ही रहने दिया।

इसके बाद शहर के मुसलमान आए और बोले– 'इस नए पार्क में हमें भी नमाज पढ़ने के लिए एक जगह चाहिए।' तब नगर पालिका प्रशासकों ने मुसलमानों के लिए भी उस पार्क के दूसरे सिरे पर एक उपयुक्त खुला स्थल छोड़ दिया। इस तरह एक-दूसरे से लड़े बिना खुशी से हिंदू अपने मंदिर में पूजा करते थे और मुसलमान अपने खुले स्थल पर नमाज पढ़ते थे। पर, केवल आठ वर्षों तक।

इसी बीच 'सुधार' कानून आया। सुधारों का नतीजा आया। तनाव आया और वह तेजी से कठोर होता गया।

चूंकि, लखनऊ एक मुस्लिम शहर है। इस अर्थ में कि सभी महत्वपूर्ण लोग, सभी पुराने परिवार, सभी बड़ी इमारतें और स्मारक अवध के प्राचीन मुस्लिम सल्तनत के समय से हैं। उस वजह से मुसलमानों ने समझा कि अगर भारत का नियंत्रण भारतीयों के हाथों में आने वाला है, तो उनका लखनऊ शहर भी उनके हाथों में आना चाहिए।

हालांकि, लखनऊ का इतिहास और कुलीन तबका अब पक्के तौर पर मुस्लिम है। पर, लखनऊ की जनसंख्या में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से तीन-एक से बढ़ती है। इस कारण से हिंदुओं में अचानक भविष्य का डर समा गया है, जिससे वे एक-दूसरे से पूछते हैं– 'अगर यह स्वराज सचमुच आ रहा है, तो वह लखनऊ के हम हिंदुओं को कहां रखेगा? क्या मुस्लिम मालिकों के अधीन? इससे बेहतर होता हम सब मर जाते।'

अत: उन्होंने अपना दावा जताने के लिए सूर्यास्त के समय और विशेष रूप से हर शाम पार्क के उस छोटे से पुराने मंदिर में आक्रामक तरीके से संगठित होना शुरू कर दिया।

अब तक सूर्यास्त में ही एक घंटा मुसलमानों की नमाज के लिए भी नियत (तय) था। आठ वर्षों तक मुसलमानों की नमाज सूर्यास्त से पांच मिनट पहले ही उस छोटे-से पार्क में होती थी। अब उन्हें हिंदुओं की आरती के शोर से व्यवधान न हो, इसलिए उन्होंने एक फरमान जारी किया कि आगे से हिंदुओं को अपने मंदिर में आने का ऐसा समय चुनना होगा, जो मुसलमानों की शाम की नमाज में विघ्न पैदा न करे।

मुसलमानों के इस फरमान से हिंदू नाराज हो गए। हिंदुओं की नाराजगी से मुसलमान भी नाराज हो गए। चकमक पत्थर ने दोनों तरफ आग लगा दी। और इस समय पार्क में प्रत्येक धर्म के लोगों के बड़े गिरोह एक घंटे में और एक ही वक्त पर बात खत्म करने के लिए लड़ने के लिए इकट्ठे हो गए।

इस मामले में मुसलमान ज्यादा होशियार प्रतीत होते हैं। क्योंकि, उन्होंने जल्दी ही मैदान से मानवीय बाधाओं को हटाने के लिए उस आपत्तिजनक मंदिर को नष्ट करने का विचार किया। पर, ब्रिटिश पुलिस की टुकड़ी ने हस्तक्षेप करके उसे बचा लिया।

अपने ही घरों को तबाह कर देने के काबिल ये झगड़ालू अपने-अपने घरों में वापस चले गए और इस तरह यह विशेष घटना टल गई। किन्तु, माहौल में लड़ाई, भय और ईर्ष्या की भावना खतरनाक रूप से बनी रही। यदि दूसरे पक्ष की एक छोटी गुप्त टोली सड़क पर चलते हिंदू या मुसलमान को देखती थी, तो वह टोली तुरंत उन्हें पकड़कर पीट देती। इसलिए, लोगों में विश्वास बहाल करने के लिए दो-तीन दिनों तक ब्रिटिश घुड़सवार पुलिस का सड़कों पर गश्त करना जरूरी था।

इसके बाद ब्रिटिश जिला कमिश्नर ने नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों में अपने कमिश्नरों को भेज दिया। और अवश्य ही कमिश्नर को हालात ठीक करने होंगे। क्योंकि, झगड़ा सचमुच शहर को बर्बाद कर रहा था। व्यापारी परेशान थे। छोटी दुकानें बंद हो रही थीं। लोग एक-दूसरे का बहिष्कार कर रहे थे। और नई झड़पों और हिंसा से प्रतिदिन किसी-न-किसी विस्फोट की अनहोनी बनी रहती थी।

अत: कमिश्नर ने दोनों पक्षों के नेताओं को इस मुद्दे पर वार्ता के लिए अपने आवास पर बुलाया। क्योंकि, उसका आवास ही एक जगह थी, जहां वे शांति से मिल सकते थे। वे आए, बैठे और बातचीत की। वे दोबारा फिर आए, बैठे और फिर से बातचीत की। पर, दोनों में से एक भी पक्ष, एक इंच भी टस-से-मस नहीं हुआ।

हिंदुओं ने इस बात पर जोर दिया कि वे अपनी आरती का घंटा सूर्यास्त से पांच मिनट पहले बजाना शुरू करेंगे। लेकिन, मुसलमान अपनी इस बात पर अडिग थे कि सूर्यास्त से ठीक पांच मिनट पहले हमारी नमाज का समय शुरू होता है; लिहाजा उस समय हमें हिंदुओं का विघ्न मंजूर नहीं होगा।

किन्तु, अंत में कमिश्नर ने उनको मना लिया। इसके लिए उसने हिंदुओं से पांच मिनट की छूट हासिल कर ली और उसी तरह पांच मिनट की छूट मुसलमानों से भी। इसके बाद उसने अपनी इस संयुक्त जीत को अपने नियंत्रण में सुरक्षित करते हुए हिंदुओं से यह वचन लिया कि सूर्यास्त से पहले पिछले 10 मिनट के दौरान वे अपने मंदिर में गाना-बजाना नहीं करेंगे। और मुसलमानों से यह वादा लिया कि वे उन खामोश 10 मिनटों में अपनी 10 मिनट की नमाज पढ़ लेंगे।

चूंकि, कमिश्नर की बैठक में बातचीत के दौरान यह तथ्य उजागर हो गया था कि मुसलमानों की आपत्ति हिंदुओं की पूजा पर नहीं थी; बल्कि उनके द्वारा मंदिर में घंटा-घड़ियाल बजाने से होने वाले शोर पर थी।

कमिश्नर की बैठक में यह संयुक्त बातचीत कुल मिलाकर 15 घंटे में समाप्त हुई। जैसे ही 15वां घंटा समाप्त होने को हुआ, उस सभाकक्ष में कमिश्नर के रात्रि-भोजन की घंटी बजी। यह सुनकर एक हिंदू जोर से बोला- 'हमारे मंदिर में घंटे की आवाज इतनी दूर तक नहीं पहुंचेगी।'

कमिश्नर ने तुरंत पूछा– 'क्या आप कोशिश करेंगे और देखेंगे?' और उस दिन से लखनऊ के उस मंदिर के वे हिंदू उसी मंद और मधुर आवाज के साथ पूजा करते हैं; जैसी कमिश्नर के रात्रि-भोजन की घंटी की आवाज थी।

किन्तु, उस अनुभवी अधिकारी ने खुद को इस धोखे में नहीं रखा कि अब वह आराम से सो सकता है।

---

[1] 1921 की भारत की जनगणना बताती है कि लगभग 32.5 लाख सिख तथा 11.66 लाख जैन हैं। और इन दोनों संप्रदायों के अनेक सदस्य अपने आपको हिंदू कहते हैं। बौद्ध, जो संख्या में 1.15 करोड़ हैं; भारतीय प्रायद्वीप के बाहर बड़ी संख्या में बर्मा प्रांत में सीमित हैं।

[2] रिपोर्ट, वॉल्यूम-I, पृष्ठ-37, 38

[3] एक इस्लामी आंदोलन, जिसका मकसद युद्ध-स्थिति पूर्व की तुर्की की बहाली था, जिसमें स्वतंत्र आर्मीनियाई और अरबों से उसकी पुनर्विजय तथा फिलस्तीन, सीरिया, ग्रेस और डेडानेलिया की उसकी वसूली भी शामिल थी।

[4] देखिए, डिसऑर्डर्स इन्क्वायरी कमेटी, 1919-20, रिपोर्ट, चैप्टर-VII, अप्रैल 1919 में लायलपुर में लगाए गए पोस्टर।

अध्याय **25**

पैगम्बर के बेटे

दिसंबर 1916 में एक राजनीतिक पार्टी ऑल इंडिया मुस्लिम लीग ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मुसलमानों की अस्मिता और हिंदू हितों के प्रचार में तथा स्वराज के लिए अपने समान दावे के लिए हाथ मिलाया।

मोपला विद्रोह की सफेद रोशनी अभी भी भावी घटनाओं में छिपी हुई है। परंतु, इन दोनों संगठनों के एक साथ आ जाने से मुसलमानों में आत्मरक्षा की मूल प्रवृत्ति भारत में दूर-दूर तक खतरे की घंटी बजा गई। इसलिए, जब 1917 की शरद ऋतु में भारत के विदेश मंत्री मि. माण्टेग्यू भारतीय हितों को लेकर प्रस्तावित 'सुधारों' के विषय पर उनके विचार जानने के लिए दिल्ली में बैठे; तो एक के बाद एक समिति ने आकर—एकदम साफ शब्दों में—ऑल इंडिया मुस्लिम लीग की निंदा की और उसे सुधारों से अलग करने की बात कही। एक समिति 'यूनाइटेड प्रोविंसेस मुस्लिम डिफेंस एसोसिएशन' ने कहा– [1]

> 'स्वराज का कोई भी बड़ा उपाय, जो मध्यस्थता और ब्रिटिश सरकार के नियंत्रित करने वाले प्रभाव को कम कर सकता है; एक प्रलय से कम नहीं हो सकता है।'

बंगाल की 'इंडियन मुस्लिम एसोसिएशन' ने कहा– [2]

> 'बहुसंख्यक हिंदू-मुस्लिमों की मौजूदा पिछड़ी स्थिति में उनके अलग-अलग धर्मों, जातियों, संस्थाओं और टकराते हितों के साथ उनके मतभेद हिंदुओं को मुसलमानों से अलग कर सकते हैं। किन्तु वे, उनके व्यवहार और एक-दूसरे के साथ उनके संबंधों में परिलक्षित नहीं हो सकते। कोई भी जानकार प्रेक्षक राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग की इस बनावटी एकता से मोहित नहीं होगा।'
>
> 'इंडियन मुस्लिम एसोसिएशन भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व और उसकी स्थिरता को कमजोर करने की संभावना के किसी भी आपत्तिजनक परिवर्तन के विचार से सहमत नहीं हो सकता, जिसकी व्यापक बुनियादों पर हमारी सारी आशाएं तथा संवैधानिक और प्रशासनिक प्रगति की आकांक्षाएं टिकी हुई हैं।'

बिहार और उड़ीसा प्रांत की मुस्लिम हितों की रक्षक समिति ने कहा– [3]

> 'हम कांग्रेस के विचारों और दावों के समर्थन में अपने कुछ सहधर्मियों द्वारा दिखाई गई दूरदर्शिता के अभाव की भी जोरदार निंदा नहीं कर सकते। वहां पहले से ही कुछ मामलों में मुसलमानों को दबाने-धमकाने और उनके हितों की उपेक्षा करने की एक मजबूत प्रवृत्ति मौजूद है। अंग्रेजी राज का मार्गदर्शक सिद्धांत अब तक भारतीय साम्राज्य के मामलों में विविध धर्मों और उनकी राष्ट्रीयता की उपस्थिति में हमेशा से निष्पक्ष रहा है।'

दि साउथ इंडिया इस्लामिया लीग [4] ने अपनी दलील में मि. माण्टेग्यु को यह याद दिलाया कि एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में वे (लीग के सदस्य) इस देश में विभिन्न वर्गों के बीच हमेशा समान संतुलन बनाने के लिए ब्रिटिश सरकार के महत्व को समझते हैं और राजनीतिक पुनर्निर्माण की ऐसी किसी भी योजना का विरोध करते हैं, जिसका झुकाव भारत में ब्रिटिश सरकार की सत्ता को कमजोर करना हो। किन्तु, हम क्रमिक प्रगतिशील राजनीतिक विकास की दृढ़ता के पक्षधर हैं।

मद्रास की मुस्लिम शिक्षण समिति 'मुत्तियलपेट मुस्लिम अंजुमन' ने मि. माण्टेग्यु से सुधार कार्य को अपने हाथ में लेने की प्रार्थना की– [5]

> 'अकेले अंग्रेज ही विभिन्न समुदायों के बीच संतुलन बनाए रख सकते हैं। जब भी हमारे हित दूसरे समुदायों के हितों के साथ टकराते हैं, हम निष्पक्ष न्याय के अवतार के रूप में उसी की ओर देखते हैं। चाहे जो भी सुधार शुरू किए जाएंगे, हमें भरोसा है कि भारत में ब्रिटिश सरकार की सत्ता को कमजोर करने के लिए कुछ नहीं किया जाएगा।'

बंबई प्रेसीडेंसी के मुसलमानों ने जो चिंतित अपील की, उसका एक अंश यह है– [6]

> 'इस बात पर मुक्त रूप से जोर दिया जाता है कि वह दिन दूर नहीं, जब अंग्रेज नौकरशाही लुप्त हो जाएगी और काउंसिलों में उसका स्थान भारतीय बहुमत ले लेगा। आने वाले दिनों में उस अधिक बुरी नौकरशाही का कुछ भी दोष हो सकता है। परंतु, यह मानना होगा कि उसमें एक बड़ी योग्यता थी। यानी भारत में दो प्रधान समुदायों के बीच संतुलन कायम करने की योग्यता। ...और इस प्रकार ताकतवर से कमजोर की रक्षा करने की योग्यता उसमें थी।'

किन्तु, मुसलमानों की सोच की प्रकृति को देखते हुए इस सरल कथन में एक अत्यंत अशुभ संकेत भी मौजूद है। उलेमा—कुरान का अधिकृत व्याख्याकार—संदेह की स्थिति में जो फतवा देता है, वही मुस्लिम जगत को राह दिखाता है। भारत के ब्रिटिश विदेश मंत्री के समक्ष मद्रास के उलेमा का जो पवित्र फतवा रखा गया था, वह तीन एक-जैसे वाक्यों में व्यक्त किया गया था। जिसका एक वाक्य यह है– [7]

> 'असल में बहुदेववादी गंदे होते हैं। अगर ब्रिटिश सरकार को हिंदुओं की इच्छा से शासन सौंपना पड़ा, तो मुसलमानों का बहुदेववादियों के अधीन रहना, उनके पवित्र कानून (कुरान) के खिलाफ होगा।'
>
> सैयद मुहीउद्दीन
> ट्रस्टी, अमीर-उल-निसा, बेगम साहिबा मस्जिद,
> अल्लाह, जो क्षमाशील है!

ब्रिटिश भारत के बड़े प्रांतों में हिंदुओं और मुसलमानों की तुलनात्मक संख्या (प्रतिशत में) इस तालिका में देखी जा सकती है– [8]

प्रांत	हिंदू	मुसलमान
मद्रास	88.64	6.71
बंबई	76.58	19.74
बंगाल	43.27	53.99
संयुक्त प्रांत	85.09	14.28
बिहार और उड़ीसा	82.84	10.85
मध्य प्रांत और बरार	83.54	4.05
असम	54.34	28.96
पंजाब	31.80	55.33
उत्तर-पूर्व सीमांत प्रांत	06.66	91.62

अब इस्लामी आस्था से किसी भी मनुष्य में उग्रवाद के विकास को देखते हुए यह लगता है कि ब्रिटिश भारत का मुस्लिम तबका—यहां तक कि जहां यह सबसे कमजोर है, वहां भी—उपद्रव करने के लिए काफी मजबूत है। संपूर्ण भारत में एक राष्ट्रवादी होने की बजाय हमेशा एक अंतर्राष्ट्रीय बना रहने वाला मुसलमान आज कह रहा है– 'हम विदेशी हैं। विजेता हैं। लड़ाकू लोग हैं। क्या हुआ अगर हमारी संख्या कम है। पर संख्या नहीं, लोग मायने रखते हैं। जब अंग्रेज चले जाएंगे, तो भारत पर हम राज करेंगे। इसलिए, हमारे लिए यह वाजिब है कि हम जल्दी-से वह आधार हासिल कर लें, जो हम कर सकते हैं।'

हिंदू अपने पक्ष में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए कोई कदम उठाने से जान-बूझकर चूक जाते हैं। इसलिए, जहां कहीं भी भारतीय हाथों में विकल्प शेष है; वहां हर पद को भरे जाने के लिए धार्मिक व सांप्रदायिक आधार पर सभी निर्णय लिए गए और हर तरह का समायोजन किया गया। जबकि, दूसरा पक्ष उसके लिए जी-जान से लड़ता है। पर, इससे मामले की अच्छाई तस्वीर से गायब हो जाती है।

यह स्थिति सभी दिशाओं में सरकारी सेवाओं में भारी बाधा डालती है। इसलिए, कहीं भी इसका प्रभाव न्याय पालिका की तुलना में ज्यादा मूर्ख बना रहा है। हमेशा लड़ने को तैयार रहने वाले भारतीयों को अपने धार्मिक झगड़ों में कानूनी मुकदमेबाजी के लिए अंतहीन अवसर मिल जाते हैं। किन्तु, यदि मामला भारतीय जज के सामने सुनवाई के लिए लाने की कोशिश की जाती है, तो एक या दूसरा पक्ष निराश हो जाता है। क्योंकि, उससे अपने संप्रदाय के पक्ष में निर्णय देने की अपेक्षा की जाती है। जबकि, दूसरे धर्म के जज को ऐसा करने के लिए राजी नहीं किया जा सकता।

भारतीय न्यायालय में कुछ ऐसे देशी जजों ने भी उसकी शोभा बढ़ाई है, जो ईमानदारी की पहुंच से बाहर रहे हैं। अभी तक भारत की परंपरा उस जज की रही है, जो मुकदमे की सुनवाई के लिए दोनों पक्षों से अग्रिम शुल्क यह समझते हुए वसूल लेता है कि यदि पर्याप्त रूप से ईमानदारी पेश की गई, तो निर्णय के पश्चात हारे हुए का पैसा वापस कर दिया जाता है। गवाहों का खरीदा जाना भी मामूली बात है। आप इन गवाहों को अदालतों के सामने बैठे हुए देख सकते हैं। पश्चिम से शिक्षित मद्रास के एक बैरिस्टर ने कहा– 'सैद्धांतिक रूप से मैं जानता हूं कि यह गलत है। परंतु, व्यावहारिक रूप से मैं यह लाभ इसलिए नहीं छोड़ सकता, क्योंकि यह सारा लाभ फिर मेरे दुश्मनों को मिल जाएगा। यह हमारा दस्तूर है।'

किन्तु, जब हिंदू-मुस्लिम संघर्ष का मामला सामने आता है, तो एक नियम के रूप में सभी को रास्ता मिल जाता है। वह दुर्भाग्यपूर्ण विलाप करता है—'कोई भी जज अपने देवताओं के विरुद्ध कैसे निर्णय देगा? और क्या वह मेरे शत्रुओं के बीच में अदालत में नहीं रह सकता है? इसलिए, अंग्रेज जज के सामने मुझे ले जाते हैं, जो इन मामलों की जरा भी परवाह नहीं करता है। वह ईमानदार निर्णय देगा, भले ही मैं सही हूं या गलत।'

पिछले साल एक अजीब सनकी मामले का अनुभव संयुक्त प्रांत के एक मुस्लिम जिला मजिस्ट्रेट को हुआ था, जिनके समक्ष उनके जिले के कुछ पुलिस अधिकारियों को पेश किया गया था। ये अधिकारी धार्मिक दंगों में अपनी ड्यूटी निभाने में पूरी तरह फेल हो गए थे, जिसके कारण वे कई लोगों के मारे जाने के जिम्मेदार थे। वे बड़े पैमाने पर गंभीर सजा के हकदार थे। किन्तु, वे हिंदू थे। इसलिए जज ने धार्मिक दुश्मनी के आरोप के डर से उन्हें कुछ अनुचित अर्थदंड के साथ लोकसेवा के विरुद्ध अपराध से बरी कर दिया।

इसी तरह का एक अन्य भावात्मक मामला फरवरी 1926 में सामने आया था। एक मुस्लिम सहायक अभियंता—जिसने लंबे समय तक अंग्रेज वरिष्ठ अधिकारी के अधीन रहकर सिंचाई विभाग में काम किया था—अचानक एक हिंदू अधिकारी के अधीन आ गया। यह हिंदू अधिकारी अभी कॉलेज से पढ़कर बाहर आया था और नए विचारों का व्यक्ति था। वह अपने से बुजुर्ग को परेशान करने के लिए उसका तब तक उत्पीड़न करता था, जब तक कि उसका शिकार उसे सहन कर सकता था।

अत: उस मुस्लिम अभियंता ने अपने बेटे के साथ ब्रिटिश अधिकारी के पास जाकर पूरी बात बताई और कहा– 'साहब! क्या आप मेरे वालिद की मदद नहीं कर सकते? यह कितने शर्म की बात है कि इतने वर्षों की सर्विस के बाद भी उनके साथ ऐसा व्यवहार?'

वह अंग्रेज अपने हाथ से इस अवसर को जाने नहीं दे सकता था। उसने कहा– 'महमूद, तुम तो हमेशा ही स्वराज चाहते थे। अब देखिए, इसमें स्वराज तुम्हारे लिए क्या करता है? अब इस बारे में तुम्हें कैसा लगता है?'

'ओह!' नौजवान ने जवाब दिया– 'अभी मुझे डिप्टी कलेक्टर का पद मिला है। मुझे जल्दी ही चार्ज लेना है और जब मैं काम करूं, तो खुदा मेरे हाथों से हिंदुओं को बचाए।'

मुसलमान हिंदुओं के बराबर हैं। परंतु, ब्रिटिश भारत की आबादी में उनकी संख्या एक-चौथाई है। पर उनका प्रतिशत बढ़ रहा है। उनकी यह

वृद्धि उनकी जन-शक्ति और जीवन-शक्ति दोनों के बढ़ने का संकेत देती है। उनका दिमाग तेज नहीं है। पर, बहुधा उनके पास व्यावहारिक बुद्धि का उपहार है। उन्होंने यह समझना शुरू कर दिया है कि उन्हें स्कूल जाना चाहिए। वे समय, अवसर और सुरक्षा की भावना पाकर अपनी सारी बाधाएं हटा सकते हैं। और देश के प्रशासन में अपनी पूर्ण भागीदारी के लिए अपने आप को योग्य बना सकते हैं। आज वे रणभूमि में हैं और वहां उनका एक ही सहारा है- तलवार।

और यह एक क्षण को भी नहीं भूलना चाहिए कि जब भारत का मुसलमान तलवार खींचता है, तो वह सिर्फ एक पृथक गुट या संगठन के रूप में ही नहीं होगा। बल्कि, उस ऊर्जा की बढ़ती धारा के रूप में भी होगा, जिसके प्रवाह को आज उसी तरह रोक दिया गया है जिस तरह से सीमांत सुरक्षा सेना के द्वारा पानी का भंडार रोका गया है।

नक्शे पर नजर डालें, तो उसमें पंजाब की उत्तरी सीमा के साथ लगभग 350 मील लंबी और 20 से 50 मील तक चौड़ी पट्टी दिखाई देती है। यही पट्टी उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत है। इसके अलावा इसी तरह की और इतनी ही लंबी-चौड़ी एक समानांतर पट्टी का आदिवासी क्षेत्र है। जिस पर स्वतंत्र मुस्लिम कबीलों का—जो शानदार लड़ाकू हैं—कब्जा है। उनका शुरू से ही छापामार लड़ाई ही एकमात्र धंधा रहा है। इसके पीछे फिर वही मुसलमान अफगानिस्तान और मुसलमान एशिया है, जो एक बहुत ही प्राचीन इंजन के रूप में काम कर रहा है और जिसे लूट तथा धर्मयुद्ध शुरू करने के लिए सिर्फ एक भारी भरकम हथौड़े की चोट की जरूरत पड़ती है।

इस ताकत के प्रयोग के लिए किसी भी समय सिर्फ एक शब्द की जरूरत होती है। सीमांत की पतली फौलादी सीमा-रेखाओं के साथ उसका निरंतर दबाव, उसका तनाव, उसकी तड़क, चुभता हुआ विद्युत प्रवाह शायद ही कभी अनुभव हो; जब तक कि कोई खुद उसे देखकर अनुभव न करे।

कुछ हिंदू राजनेताओं ने इस बात को समझा है। वे अपने आजीवन सुरक्षित राज्य से अनजान, उदास आंखों से कहते हैं– 'अफगान ने हमें लंबे वर्षों से दूर रखा है। अब उसे किस वजह से आना चाहिए? वाह! क्या यह बच्चों का खेल है?' उसे सीपी के रूप में समुद्र की सतह पर कैसे लाया जाता है, जो नीचे के तूफान से अनजान है।

आज 95 प्रतिशत मुस्लिम आबादी वाला उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत शांत और अपनी सरकार से संतुष्ट लगता है। मध्यवर्ती राज्य के बीच एक ओर थोड़ा हिंदू पंजाब और विशाल नरम हिंदू दक्षिण हैं तथा दूसरी ओर भूखे पेट मुस्लिम लड़ाकू जत्थे हैं, जिनकी उंगलियां ठंड से ऐंठी हुई हैं और जिसके मुंह में पानी भरा हुआ है। किंतु, उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत की संतोषजनक चीजें भारत की शांति के लिए अमूल्य हैं।

मैंने उस प्रांत के अनेक प्रमुख लोगों से बातचीत की है। उन सबका इस विषय में एक ही नजरिया दिखाई दिया। इसलिए, यहां हम एक ही प्रतिनिधि के वास्तविक शब्दों को दे रहे हैं, जो कुछ पीढ़ियां पीछे का फारसी वंश का पहाड़ी नस्ल का व्यक्ति है। दुबला-पतला, बाज जैसी नाक और दृष्टि वाला, बहुतों का नेता और तब तक बोलते रहने वाला, जब तक कि कोई उसकी जुबान पर लगाम नहीं लगाता है। वह कहता है–

> 'इस वक्त सारा प्रांत संतुष्ट है और कोई परिवर्तन नहीं चाहता है। जहां तक दक्षिण के उन थोड़े से लोगों का संबंध है, तो हमने उन्हें कभी आदमी नहीं कहा। हमारे और अंग्रेजों के बीच में जितना अंतर है, उससे भी ज्यादा बड़ा अंतर हमारे और उनके बीच में है। यदि अंग्रेज यहां से वापस चले गए, तो ये सब तुरंत नरक में जाएंगे। बंगालियों और उनकी सारी जनजातियों को तो शुरू में ही उनकी जमीन से खदेड़ दिया जाएगा। मैं स्वयं कुछ के लिए खुशी से विचार कर सकता हूं। अंग्रेजों और हमारे बीच में सहयोग ही हमारी प्रगति का रास्ता है। उन्होंने हमें सड़कें दी हैं। टेलिफोन दिए हैं। अच्छा पानी दिया है, जो यहां पहले नहीं था। शांति और न्याय के साथ-साथ राजस्व दिया है; जिसे उनके द्वारा संरक्षित व्यापार ने ही संभव बनाया है। हमारे परिवारों की सुरक्षा, हमारे बीमार लोगों की देखभाल के लिए अस्पताल और हमारे बच्चों के लिए स्कूल दिए हैं। अगर वे नहीं आते, तो इनमें से कुछ भी हमें नहीं मिलता। मैं आपसे पूछता हूं- क्या यह ठीक होगा कि हम उन सबको इसलिए दूर फेंक दें कि डरपोक, कायर और हमारे अपने वंशागत दुश्मन बहिष्कार तथा असहयोग की मांग करते हैं? हमने इस मूर्खतापूर्ण असहयोग से खोया ज्यादा है। पाया कुछ भी नहीं है। भारत एक बड़ा देश है और इसके लिए हम सब संयुक्त रूप से संगठित होकर ही कुछ कर सकते हैं। मुसलमानों और अंग्रेजों तथा हिंदुओं को भी मिलकर चलने की आवश्यकता है। किन्तु, अंग्रेजों के बिना भारत में कोई हिंदू इस तरह नहीं रहेगा, जैसे हम गुलामों को रखते हैं।'

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और ऑल इंडिया मुस्लिम लीग की स्वराज के लिए की गई संयुक्त घोषणा के आठ साल बाद 26 दिसंबर 1925 को कांग्रेस यानी हिंदू पार्टी ने अपना वार्षिक अधिवेशन किया। उसकी महिला अध्यक्ष ने—जो यूरोपियन जीवन और शिक्षा की उपज हैं—अपने भाषण में दुःख प्रकट करते हुए कहा–

> 'मेरे मुस्लिम भाइयों की ओर से अलगाव की तेज और दुराग्रही भावना—जो हिंदू समुदाय की गहरी चिंता और नाराजगी का कारण है—उनके शैक्षिक, सरकारी, नागरिक और राजनीतिक जीवन में पृथक और विशेषाधिकारों के लिए उनकी बढ़ती हुई दबावपूर्ण मांग में स्वयं प्रकट होती है।'

इसके कुछ दिन बाद ऑल इंडिया मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ। उसके अध्यक्ष अब्दुर्रहीम ने कांग्रेस की टिप्पणी के जवाब में बहुत ही स्पष्ट और मारक जवाब दिया। जो भारतीय इतिहास में युगांतरकारी घटना है और इस विषय पर विस्तार से अध्ययन करता है– [9]

> 'हिंदू और मुसलमान इस तरह के दो धार्मिक संप्रदाय नहीं हैं, जैसे कि इंग्लैंड में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक संप्रदाय हैं। बल्कि, दो एकदम अलग समुदाय अथवा लोग हैं। जीवन के प्रति उनके अपने अलग-अलग विचार हैं। उनकी संस्कृति अलग-अलग है। उनकी सभ्यता और उनके सामाजिक व्यवहार, सब अलग-अलग हैं। उनकी परंपराएं और इतिहास, उनके धर्म सब अलग-अलग हैं। जो उनको इस कदर विभाजित करते हैं कि वे लगभग एक हजार वर्षों से एक ही देश में रहते हुए भी एक राष्ट्र बनने में कोई योगदान नहीं दे रहे हैं।'

अभी हाल में धर्मांतरित मुसलमानों को फुसलाने और हिंदुओं को आत्मरक्षा के लिए युद्धकला का प्रशिक्षण देने के लिए किए गए एक हिंदू आंदोलन का संदर्भ देते हुए उन्होंने कहा–

> 'मुसलमान इन आंदोलनों को अपने धर्म के लिए गंभीर चुनौती मानते हैं। यह चुनौती उन्हें सिवाय ईसाई धर्मयुद्ध के कहीं नहीं मिली थी, जिसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों से दोनों के साझे पवित्र स्थानों को वापस लेना था। असल में कुछ हिंदू नेताओं ने सार्वजनिक रूप से यह बात कही है कि जैसे स्पेनी लोगों ने मूरों को स्पेन से निकाल दिया था, उसी तरह हम भी मुसलमानों को भारत से खदेड़ देंगे। निस्संदेह हम अपने मित्रों के निगलने के लिए एक बड़ा निवाला बनेंगे। अर्थात वे हमें निगल नहीं पाएंगे।'
>
> 'हममें से किसी भी भारतीय मुसलमान को यात्रा में परेशानी नहीं आती है, चाहे वह जहां भी जाएगा। उदाहरण के लिए अफगानिस्तान, पेरिस, मध्य एशिया, चीनी मुस्लिमों, अरबों या तुर्कों में; वह तत्काल घुलमिल कर घर जैसा हो जाएगा। और ऐसा कुछ नहीं मिलेगा, जिसके हम आदी नहीं हैं। इसके विपरीत भारत में हम जैसे ही सड़क पार करके शहर के उस हिस्से में जाते हैं, जहां हमारे हिंदू हमशहरी रहते हैं; तो हम वहां सभी सामाजिक मामलों में अपने आपको पूरी तरह अजनबी पाते हैं।'
>
> 'यह सच नहीं है कि हमें स्वराज पसंद नहीं होगा। बशर्ते वह स्वराज मुसलमानों के प्रति भी उतना ही जिम्मेदार हो, जितना वह हिंदुओं के प्रति हो। अन्यथा हमें समस्त अस्पष्ट और भ्रामक चीजों, जैसे- स्वराज, राष्ट्रमंडल, होमरूल आदि में कोई आकर्षण नहीं है। किन्तु, पहले हमें अवश्य ही उन हिंदू राजनीतिक लोगों की घातक गतिविधियों की जांच करनी होगी, जो अंग्रेजों के संगीनों के संरक्षण में उनकी सहनशीलता और धीरता का लाभ ले रहे हैं और स्वराज पाने के लिए देश में मुश्किलें खड़ी कर रहे हैं। वे इसकी सारी उलझनों को न समझते हैं और न कभी समझेंगे।'

> ‘इस समस्या का वास्तविक समाधान ऐसी स्थितियों को पैदा करने में है, जिनमें संपूर्ण आबादी (हिंदू, मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई और किसानों, मजदूरों एवं हिंदू अछूतों के समग्र जीवन) के हालात आर्थिक और बौद्धिक रूप से इतने सुधार दिए जाएं और राजनीतिक शक्ति सामान्य जनता में इतनी वितरित कर दी जाए कि एकाधिकारवादियों और बुद्धिजीवियों के एक वर्ग का वर्चस्व समाप्त हो जाए। और उसके साथ ही विभिन्न समुदायों के बीच का संघर्ष भी।’
>
> ‘मेरा लगभग 35 साल तक एक बैरिस्टर और जज के रूप में और अंत में बंगाल की कार्यकारी परिषद के सदस्य के रूप में बहुत-से शिक्षित अंग्रेजों से रोजाना का नजदीक का संपर्क रहा है।’
>
> ‘मैं बिना संशय के स्वीकार करना चाहता हूं कि मुझे अपने पेशे के हर पड़ाव पर अपने अंग्रेज साथियों से बहुत कुछ सीखने को मिला है। सार्वजनिक कार्यों में भी मेरे बहुत-से प्रमुख देशवासियों के साथ संबंध रहे हैं। और मुझे विश्वास है कि वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि यहां अधिकांश प्रगतिशील सुधार अंग्रेजों के द्वारा ही शुरू किए गए हैं। मैं सरकार में ऐसा एक भी अवसर याद नहीं कर सकता, जब किसी सवाल पर हम भारतीयों में सहमति बनी हो और हमारा मत अमान्य कर दिया गया हो। मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानता, जिसने संजीदगी से सुझाव दिया हो कि हमने सरकार का खयाल इस देश के लोगों पर छोड़ दिया है, जो वर्तमान में अपनी खुद की सरकार स्थापित करने और उसकी बाहरी हमलों से रक्षा करने में सक्षम होंगे। हमारे लिए बेहतर होगा कि हम सब यह स्पष्ट रूप से समझ लें कि अंग्रेजों की मौजूदगी हमारी जरूरत है। इंग्लैंड भारत को एक महान नैतिक ऋण देता है और इस ऋण से वह एक ही तरीके से मुक्त हो सकता है कि उसे आत्मनिर्भर और मजबूत बनाने में उसकी सहायता करने के लिए सभी संभव उपाय किए जाएं। इंग्लैंड के सर्वश्रेष्ठ लोग इस नैतिक जिम्मेदारी को समझते हैं। मुझे नहीं पता कि कोई राजनीतिक कार्यक्रम क्रांतिकारियों के पास है। यदि है, तो उन्होंने उसका खुलासा नहीं किया है। उनका तात्कालिक उद्देश्य—स्पष्ट रूप से—ब्रिटिश शासन को और साथ ही सरकार की मौजूदा सारी प्रणाली को उखाड़ फेंकना है। किन्तु, हम इन क्रांतिकारियों को बर्खास्त कर सकते हैं। क्योंकि, उनके सफल होने की जरा भी संभावना नहीं है।’
>
> ‘हम मुसलमानों का 1300 वर्षों का इतिहास है। और हमने पूरे एशिया, अफ्रीका और यूरोप में निरंतर संघर्ष और युद्ध किए हैं। पर वह काम नहीं कर सकते, जो ये अत्यंत मूर्ख और पागल लोग करते हैं। जो सोचते हैं कि कभी भी कुछ बम फेंककर या पीछे से एक-दो अंग्रेजों को गोली मारकर या बेखबर और निस्सहाय भारतीय ग्रामीणों के घरों को तोड़कर और लूटकर तथा उन्हें मारकर और यातना देकर वे भारत में ब्रिटिश सत्ता की बुनियादों को हिलाने जा रहे हैं। हम मुसलमान हिस्टीरिया से पीड़ित ऐसे लड़कों या व्यक्तियों को गंभीर राजनीतिज्ञ नहीं मान सकते। और यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है कि एक भी मुसलमान उनके साथ नहीं है।’
>
> ‘राजनीतिक उपाय राष्ट्र निर्माण का एकमात्र साधन नहीं है। वर्तमान में हमारे पास भारत के लोगों के लिए—जिसमें हिंदू, मुस्लिम और अन्य सभी शामिल हैं—न तो कोई एक राष्ट्रीय नाम है और न कोई एक समान भाषा है। यह काम न तो अकेले अंग्रेज कर सकते हैं और न हिंदू या मुसलमान कर सकते हैं। बल्कि, यह काम तो भारत के 300 मिलियन लोगों के संयुक्त प्रयासों से ही हो सकता है।’

सर अब्दुर्रहीम के इन सीधे-सादे शब्दों ने हिंदू नेताओं और उनकी प्रेस से उठने वाले आरोपों के तूफान को कमजोर कर दिया, जबकि दोनों खेमों के बीच विद्वेष को मजबूत कर दिया।

इसी बीच गंभीर संभावनाओं के शुरू होने के आसार धुंधले दिखाई देने लगे थे। कलकत्ता में दंगे भड़क उठे थे। वर्ष 1926 की शुरुआत से ही मध्य-ग्रीष्म तक 31 जानलेवा विस्फोट हो चुके थे, जिनमें हताहतों की भारी संख्या थी। [10] यह पहले से ही स्पष्ट था कि हिंदू और मुस्लिम—दोनों पक्ष उस स्थिति को शांत कर रहे थे, जिसने उनके बीच आपसी भय पैदा कर दिया था। पुराना गांधीवादी आरोप कि हिंदू-मुसलमान के मतभेदों के पीछे ब्रिटेन का हाथ है; अभी भी उनके मुखपत्र में मिल जाता है। किन्तु, ये सामान्यत: गैर-जिम्मेदाराना और भड़काऊ किस्म के थे; जिनकी देश में कोई हिस्सेदारी नहीं थी। ऐसे में धुएं की आड़ में सबसे अच्छा काम किया जा सकता है। दोनों पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने इस विचार की असंगति और अतार्किकता को महसूस किया। किन्तु, अनिच्छा से एक मजबूत और निष्पक्ष अधिपति की आवश्यकता की घोषणा करने के लिए उन्हें पहले से ही प्राप्त अपने अधिकारों की सुरक्षा देने के लिए जिन फायदों को अब वे काफी स्पष्ट देख रहे थे, उनकी जड़ें ब्रिटिश उपस्थिति में ही थीं। और जिस दिन यह उपस्थिति नहीं रही, वे उनके खून में समा जाएंगी।

भारतीय विधानसभा का ग्रीष्म सत्र इसी विषय पर बात करने के लिए बुलाया गया। मुस्लिम सदस्य मौलवी मोहम्मद याकूब ने 24 अगस्त को कहा– [11]

> ‘मैं उनसे सहमत नहीं हूं, जो सांप्रदायिक दंगे और भावनाएं भड़काने में सरकार का हाथ समझते हैं। मैं यह भी सही नहीं मानता हूं कि भारत सरकार ने सांप्रदायिक मामलों को निपटाने में किसी समुदाय के साथ पक्षपात किया है।’
>
> ‘इसमें भी दो मत नहीं हो सकते कि सांप्रदायिक कटुता ने अब अखिल भारतीय महत्व ग्रहण कर लिया है।’
>
> ‘सर! हम इन सांप्रदायिक टकरावों से बहुत परेशान हैं। और स्थिति इतनी ज्यादा कठिन हो गई है कि हम अपने घर में भी खुशी से नहीं रह सकते और न हमारे त्योहार हमारे लिए कोई खुशी लाते हैं। क्या समय नहीं आ गया है, जब हमें सरकार से आगे आकर अपनी सहायता करने की मांग करनी चाहिए? क्योंकि, इस सवाल को हम खुद हल नहीं कर सकते।’

कुछ महीने पहले ऐसे शब्द बिना किसी खंडन के इस सदन में बोलने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। पर आज विरोध में आवाज नहीं आई। रूढ़िवादी हिंदू धर्म के राज-स्तम्भ को उखाड़ने की बजाय हमारे पुराने मित्र मद्रास के दीवान बहादुर टी. रंगाचारी ने—विदेशी सरकार की निंदा करने के लिए नहीं, न उस पर भारतीय मामलों में अनाड़ी या अहंकारी हस्तक्षेप करने का दोष लगाने के लिए, बल्कि—यह स्वीकार किया कि– [12]

> ‘तथ्य, तथ्य होते हैं और हमें मर्दों की तरह उनका सामना करना होगा। मैं ईमानदारी की भावना की प्रशंसा करता हूं, जिसके ओतप्रोत होकर मेरे माननीय मित्र मौलवी मोहम्मद याकूब आगे आए हैं। इस शर्मनाक स्थिति से जो पीड़ा वह महसूस करते हैं, उसी तरह इसे मैं भी महसूस करता हूं। मैं खुश हूं और पूरा देश खुश है कि महामहिम लॉर्ड इरविन ने इसे पूरे मन से अपने हाथ में ले लिया है। हम सरकारी, गैर-सरकारी सभी लोगों के समान सहयोग के बिना वह परिणाम हासिल नहीं कर सकते, जो हम चाहते हैं। मैं ऐसे लोगों का बहुमत चाहता हूं, जिनके मन वास्तव में स्थिति को बदलने पर आमादा हैं।’

वर्तमान सरकार के साथ असहयोग के सिद्धांत से—जैसा कि आज हम सब देखते हैं—हमारा कुछ भी भला नहीं हुआ। आध्यात्मिक युद्ध अर्थात आत्मबल के युद्ध का रहस्यवादी सिद्धांत नफरत की भाषा बोलता है। जबकि प्रेम के सिद्धांतों का विरोध करते हुए उसने स्वयं को तार्किक और आग्रहपूर्वक मनुष्यों की हत्या के रूप में भौतिक धरातल पर पेश किया। व्यक्ति, परिवार या कबीले के हितों को वश में करने के लिए और सामूहिक कार्य को एक साथ संभालने के लिए व्यक्तियों की अक्षमता का प्रदर्शन किया गया। और यह तथ्य पूरी तरह घर कर चुका था कि न हिंदू और न ही मुसलमान, सभी लोगों के बारे में नहीं सोच सकते थे।

अभी उनमें से कुछ लोग इसे समझते भी हैं। क्या वे इस सोच को बनाए रख सकते हैं? -इसका लाभ अभी देखना है।

---

[1] एड्रेसेस प्रजेंटेड इन इंडिया टू हिज एक्सीलेंसी दि वायसराय एंड दि राइट ऑनरेबल दि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया, लंदन, 1918, पृष्ठ-10
[2] वही, पृष्ठ-30
[3] वही, पृष्ठ-40
[4] वही, पृष्ठ-62, 63

https://ebooks.hindiyug.com

[5] वही, पृष्ठ-63
[6] वही, पृ- 78, 79
[7] वही, पृष्ठ-63, 64
[8] स्टेटिस्टिकल एब्सटेक्ट फॉर ब्रिटिश इंडिया, 1914-15 एवं 1923-24, पृष्ठ-14, 15
[9] सर अब्दुर्रहीम के इस भाषण को कलकत्ता के करीम बख्श ब्रदर्स ने पम्फलेट के रूप में प्रकाशित कराया था।
[10] सूची के लिए, देखिए, लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम-VIII, 18 अगस्त 1926, पृष्ठ-12
[11] वही, 24 अगस्त 1926, पृष्ठ-280 से 283
[12] वही, पृष्ठ-283, 284

अध्याय **26**

धार्मिक नगरी

एडविन आर्नाल्ड ने बनारस के बारे में बहुत सुंदर वर्णन किया है। सैकड़ों और लोग भी बनारस पर लिख चुके हैं। पर्यटकों ने नदी के सामने के दृश्यों से प्रफुल्लित होकर उसकी प्रशंसा में अपनी सारी शब्दावली खर्च कर दी है।

और थोड़ा आश्चर्य भी होता है उस सुंदर दृश्य के लिए, जो रंग और गौरव और आत्मोन्नति की भावना के साथ मानव जाति के किसी भाग की उच्च वेदी के चारों ओर दिखाई देता है।

बनारस हिंदू जगत का पवित्र शहर है। असंख्य मंदिर इसकी शोभा बढ़ाते हैं। जैसे मुकुटों की कतारों और गंगा से ऊपर आती चौड़ी सीढ़ियों के बीच स्थापित हों। पीले गेंदे के फूलों की मालाओं से गंगा माता का स्वागत होता है, जो पूरी नदी में फैली हुई हैं। और पुजारी कोमल और शानदार रंगों के लंबे वस्त्र पहने हुए अपने हाथों या कंधों पर जल-कमंडल लटकाए हुए सीढ़ियों पर भारी कदमों से चढ़ते-उतरते हुए उस इजराइल के नबी की तरह नजर आने वाली आकृतियों जैसे लगते हैं, जो लगभग एक ही गीत सुनता है। जो उन्होंने गाया– 'वे दीवार के उठने पर, दाऊद के शहर की सीढ़ियों से ऊपर चले गए।'

लेकिन, मेरा बनारस दौरा नगर पालिका के चिकित्सा अधिकारी के साथ हुआ; जो एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके पास सोचने के लिए कोई उपयुक्त कलाकार-आत्मा नहीं है।

यह वह भारतीय सज्जन हैं, जिन्होंने अपनी वर्तमान नौकरी में आने से पहले 'रॉकफेलर फाउंडेशन' की छात्रवृत्ति से सार्वजनिक स्वास्थ्य विषय में अमेरिका में पढ़ाई की थी। यहां उनकी सारी समस्या के विचार को बताने का प्रयास किए बिना उसके कुछ बिंदुओं को बताया जा सकता है।

बनारस की सामान्य स्थिर आबादी लगभग दो लाख है, जिसमें से 30,000 ब्राह्मण हैं; जो मंदिरों से जुड़े हुए हैं। इसके सिवा यहां दो से तीन लाख तीर्थयात्री प्रतिवर्ष अल्पवास के लिए आते हैं। और कुछ खास अवसरों पर, जैसे—ग्रहण वाले दिन चार लाख लोगों की बाढ़-सी शहर में आ जाती है और जितनी तेजी से यह बाढ़ आती है, उतनी ही तेजी से कुछ दिन बाद विदा भी हो जाती है। इन समस्त लोगों की देखभाल के लिए नगर पालिका अपने मुख्य चिकित्सा अधिकारी को लगभग 10,000 डॉलर के बराबर की धनराशि का बजट देती है। जिसे वह टीकाकरण में, जन्म और मृत्यु के पंजीकरण में तथा महामारी और संक्रामक रोगों को रोकने के कार्य में खर्च करते हैं।

उनका सर्वश्रेष्ठ कार्य तीर्थयात्रियों की निगरानी करने का है। वे रेलगाड़ियों से आने वाले तीर्थयात्रियों में से हैजा के मरीजों को शहर की भूलभुलैया में गायब हो जाने से पहले ही पकड़कर उतार लेते हैं। क्योंकि, अगर वे एक बार गायब हो गए, तो जब तक बीमारी महामारी का रूप नहीं ले लेगी, तब तक उसका पता ही नहीं चलेगा। यद्यपि, नगर पालिका सार्वजनिक स्वास्थ्य के अधिकारियों और कर्मचारियों को अच्छा वेतन देती है; परंतु वह निम्न श्रेणी के कर्मियों को बहुत कम वेतन देती है। जिसका परिणाम यह होता है कि संक्रामक रोग की सूचना मिलने पर जब उन्हें वहां जाकर इलाज करने का आदेश दिया जाता है, तो वे उन रोगियों से धन ऐंठकर उन्हें परेशान करते हैं।

बनारस एक प्राचीन शहर है। उसके कुछ नालों का निर्माण तो 16वीं और 17वीं शताब्दी में हुआ है। अब कोई नहीं जानता कि उनके जलमार्ग कहां से शुरू होते हैं। सिवाय इसके कि वे जहां से भी शुरू होते हैं, मगर गिरते नदी में ही हैं। पत्थर से बने हुए उनके स्थान कभी-कभी तब पता चलते हैं, जब इमारत या सड़क के नीचे पक्की चिनाई (चुनाई) की हुई गुफा निकल आती है। कभी-कभी गाद से भरे नालों के मुंह—बेमतलब या बिना सोचे-समझे—नदी के बांध की मरम्मत के दौरान बंद कर दिए गए हैं। कुछ नहीं, तो उनके घरों के सीवेज की मोटी धार [1] खुलकर नदी में गिर रही है। किन्तु, अधिकतर आधे-भरे संडास बारिश के मौसम का इंतजार करते हैं और जब बारिश होती है तो उनमें भरा मानव-मल बहने लगता है।

शहर एक कगार पर खड़ा है, जिसकी सड़कें नदी की सतह से लगभग 75 फीट ऊपर हैं। यह कगार नदी के आगे तीन मील या उससे अधिक की दूरी तक सीढ़ियों और पत्थर की ऊंची दीवारों का पुश्ता है। ये उनकी निरंतरता की वजह से सीवेज लाइन का गंदा पानी, जो समय-समय पर चिनाई फटने से उसके सभी प्रसिद्ध मंदिरों से होता हुआ नदी में रिसता रहता है। वहां आप उन मधुर सुंदर पूज्य पत्थरों के नीचे लंबी, टेढ़ी-मेढ़ी दरारों से रिसते हुए उस पानी को कुलीन महिला तीर्थयात्रियों, रंग-पुते धार्मिक पुरुषों, राख और भभूत मले साधुओं और योगियों को पीते और नहाते हुए देख सकते हैं।

1905 में अंग्रेजों ने कटु धार्मिक विरोध के बावजूद शहर में एक आंशिक सीवेज सिस्टम और पानी की पाइप लाइन बिछाने में सफलता हासिल कर ली थी। उसका मुख्य पंपिंग स्टेशन नगर के दक्षिण छोर पर बनाया गया है, जहां पर ज्यादा आबादी नहीं है। यहां एक टैंक में पानी भरा जाता है, फिर उसे फिल्टर करके पाइपों के द्वारा लोगों तक पहुंचाया जाता है। नगर पालिका के स्वास्थ्य अधिकारी स्वयं हर सप्ताह हर फिल्टर का रासायनिक और जीवाणु-विश्लेषण करते हैं। किन्तु, भक्त लोग इस साफ पानी को नहीं पीएंगे। इसकी बजाय वे रोज घाटों की सीढ़ियां उतरकर गंगा नदी में स्नान करने वालों के बीच में जाकर, जहां घाट की दरारों से नालों का पानी रिसता होता है; उसे पात्र में लेकर पीएंगे। और उसी पात्र में उसे भरकर परिजनों की प्यास बुझाने के लिए घर भी ले जाएंगे। स्वास्थ्य अधिकारी की तमाम चेतावनियों और विरोध की वे भारी उपेक्षा करते हैं।

वे दृढ़ता से जवाब देते हैं– 'गंगा को गंदा करना मनुष्य की शक्ति में नहीं है। और गंगा के पानी को फिल्टर करने से उसकी पवित्रता खत्म हो जाती है।'

अब जो भी बनारस की गंगा में नहाता है और गंगा का पानी पीता है, वह गंभीर बीमारियों का शिकार हो सकता है; जो उसके शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। यह सब कुछ पुरोहितों की जरूरतों की वजह से होता है। इसी के फलस्वरूप बनारस पर जान-बूझकर लाखों हिंदुओं की सारी बुराइयों पर ध्यान दिया जाता है। फिर, जो कोई भी बनारस में मरता है, वह सीधा स्वर्ग जाता है। इसलिए, असंख्य बीमार लोग इलाज से निराश होकर अपनी अंतिम सांस लेने के लिए यहां आते हैं। यदि संभव हुआ, तो नदी के तट पर जल-प्रवाह में अपने पांव (पैर) डालकर बैठते हैं।

इस सिद्धांत से जुड़ी अनेक घटनाएं भावना में सुंदर और महान हैं। किन्तु, सार्वजनिक स्वास्थ के लिए घातक हैं; जिस पर थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है। ऐसे ही अधिक बोझ श्मशान घाटों पर डाला गया है। मुख्य श्मशान घाट अधिक आबादी वाले तटों के मध्य में स्थित है। संचालक कहता है– 'इसे यहां से नहीं हटाया जा सकता है, क्योंकि पृथ्वी पर इस जगह की विशेष पवित्रता है। इसलिए जो काम मैं कर सकता हूं, उसमें यह देखने की कोशिश करता हूं कि सभी चिताएं पूरी तरह जल जाएं।'

किन्तु, चिता के पूरी तरह जलने में काफी लकड़ियां खर्च होती हैं। इस पर भारी खर्च आता है, जिसे हरेक वारिस न खर्च करेगा और न कर सकता है। अब तक भारतीयों द्वारा संचालित नगर पालिका ने भी पूर्ण दाह-क्रिया की आवश्यकता के लिए अतिरिक्त लकड़ियां देने के मामले में रुचि नहीं ली है।

चिता के पास कुछ कुत्तों को देखकर मैंने डॉक्टर से कहा– 'उन कुत्तों को देखिए, वे चिता की राख में से कुछ तलाश रहे हैं और वहां एक कुत्ते ने एक टुकड़ा भी उठा लिया है।'

'हां,' उसने उत्तर दिया– 'ऐसा तो यहां अक्सर होता रहता है। चूंकि लोग यहां दिन-रात सब समय शवों को जलाते हैं। इसलिए, कभी-कभी कोई शव अधजला रह जाता है। फिर भी यदि कुत्ता यह टुकड़ा नहीं पाता, तो यह नदी में मिल जाता; उसी जलधारा में जहां लोग स्नान करते हैं। हर स्थिति में यही मृतक शिशुओं के साथ किया जाता है। कोई भी हिंदू मृतक बच्चे को जलाता नहीं है। उसे बस नदी की धारा में फेंक दिया जाता है।'

यहां तटों के पास कोई शौचालय नहीं है। इसलिए, इस काम के लिए लोग पानी के किनारे नहाने की सीढ़ियों के बीच रेतीले स्थानों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार कोई भी अपने प्रवास के दौरान टाइफाइड या हैजा का रोगी हो सकता है, जो 10,000 लोगों को संक्रमित कर सकता है। नदी के तटों पर जो शुष्क मल होता है, जो नदी के पानी में बह जाता है। लाखों श्रद्धालु उसी पानी को पीते हैं। उसी में नहाते हैं और उसी में कपड़े धोकर दूसरी जगह सुखाने के लिए फैला देते हैं। उसके बाद वे रोगाणुयुक्त उस पानी को बड़ी मात्रा में बर्तनों में भरकर घर ले जाते हैं और पूरे भारत में वह बहुमूल्य पानी पूरे साल प्रयोग में लाया जाता है।

सुंदर और सुरम्य मंदिरों में भी यही पानी प्रयोग होता है। इसका एक संकेत एक प्रख्यात ब्राह्मण पैथोलॉजिस्ट—जिनकी शिक्षा यूरोपियन विश्वविद्यालयों में हुई है और जो प्रतिवर्ष लंदन तथा पेरिस की यात्रा करते हैं—के शब्दों में देना काफी होगा। वे गहरी भावना के साथ कहते हैं–

> 'बनारस के मंदिर उतने ही गंदे हैं, जितने गंदे नदी के तट हैं। मैं स्वयं उनको देखने के लिए उनके अंदर चला गया था। वहां पवित्रता की वजह से हर किसी को जूते उतारने के लिए बाध्य किया जाता है। मंदिरों के बाहर बढ़ती हुई कीचड़, इधर-उधर बिखरा हुआ भोजन और मानव-गंदगी का बुरा हाल है। मैं उसमें नहीं जा सकूंगा। मैंने कहा—नहीं। पर, हजारों लोग ऐसा करते हैं। अपने जूते उतारते हैं। अंदर जाते हैं। पूजा करते हैं। बाहर आते हैं और बिना पैर धोए ही अपने जूते पहन लेते हैं। और मैंने एक हिंदू और एक डॉक्टर के रूप में इसे देखा है।'

बनारस के जन स्वास्थ्य अधिकारी का पद अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस अधिकारी पर जितनी बड़ी जिम्मेदारी होती है और जितने कठिन कार्यभार को यह अंजाम देता है, उसके चलते यह सम्मान का पात्र हो जाता है। और जिस आदमी को यह कार्यभार सौंपा जाता है, वह एक विशिष्ट आदमी बन जाता है। बनारस के स्वास्थ्य का प्रश्न पूरे भारत के स्वास्थ्य के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इसलिए, यह वर्तमान अधिकारी अपना काम अच्छी भावना से करने के लिए आया है, जिसे उसने अपने कम साधनों से पूरा करने का निर्णय लिया है। किन्तु, मैंने एक भारतीय डॉक्टर के व्यवहार में भिन्न नजरिया पाया। उस व्यक्ति ने, जो खुद भी 'रॉकफेलर फाउंडेशन' का शोध छात्र रहा है, कहा– 'मेरे उस साथी को जो काम मिला है, वह बहुत ही बेकार है।'

'बेकार काम क्यों?' –मैंने हैरान होकर पूछा।

उसने उत्तर दिया– 'इसलिए कि यह बहुत कठिन है। किन्तु, मुख्यत: हमारा गुस्सा यह है कि उस 'रॉकफेलर विद्वान' को एक गोरे आदमी के अधीन अमर्यादित होकर काम करना पड़ रहा है। अवश्य ही स्वास्थ्य मंत्री भारतीय है, परंतु उच्च अधिकारी स्वास्थ्य निदेशक अंग्रेज है। यह एक दु:खद और शर्म की बात है।'

यह बहुत दिलचस्प है कि यह टिप्पणी उसने उस वक्त की थी, जब मैं एक भारतीय द्वारा अपनी सफाई खुद करने के प्रयास को देख रही थी। यह बढ़िया प्रयास नहीं था। पर, कम-से-कम यह एक शुरुआत थी। कर्मचारी सीधे-सादे, उत्सुक, थोड़े जनता के प्रोत्साहन के भूखे थे। उस भूख को देखकर हमारे 'रॉकफेलर विद्वान' ने—जो अब एक अधिकारी और उनके लिए महान प्रकाशपुंज हैं—धीरे-धीरे, पूरी तरह और सहानुभूति की एक किरण के बिना अपनी व्यंगात्मक घृणा के कांटे से उनको वेध दिया। भारत में कुछ दूसरे धार्मिक नगर भी हैं, जो तीर्थों के केंद्र हैं। उनमें प्रत्येक नगर में एक जलाशय है, जो रोग फैलाने का संभावित स्थल है। वहां अत्यंत सतर्कता और कुशलता से देखभाल करने की जरूरत है। लेकिन, एक साधारण भारतीय शहर भी सार्वजनिक स्वास्थ्य की जो समस्या पैदा करता है, वह काफी कठोर है। उदाहरण के लिए, लाहौर को लीजिए। शहर के जिस हिस्से में यूरोपियन रहते हैं, उनके मकान काफी साफ-सुथरे, बड़े और हवादार हैं। वहीं, कुछ पश्चिमी अमेरिकी शैली की भी अच्छी आधुनिक इमारतें हैं; जो पुराने पंजाबी सर गंगाराम के द्वारा बनाई गई हैं। किन्तु, इस पुरानी भारतीय बस्ती लाहौर में हमेशा भीड़ रहती है। खासकर उन बाजारों में, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से इतनी खतरनाक जगह हैं कि उसकी वजह से स्वास्थ्य निदेशक को रातभर जागना पड़ता है।

लगभग आठ फीट चौड़ी सड़कें इस तरह टेढ़ी-मेढ़ी घूमती हुई सीधे ऊपर कई रिहायशी उच्च मंजिला मकानों तक जाती हैं, जैसे—बारिश के बाद केंचुए। उनके तलों पर दोनों ओर कुछ छोटी-छोटी पंक्तिबद्ध दुकानें हैं; जिनकी दीवारों पर सूती कपड़े, रेशमी वस्त्र, पीतल-कांसे के सामान, धार्मिक तस्वीरें, कढ़ाई की हुई चीजें, आभूषण और फर्श पर अनाज के ढेर रखे हुए हैं। दुकान के सामने कई जर्जर लकड़ी के मंच थे, जो पटलों को ठोक-ठोककर सड़क की सतह से दुकान के फर्श के लिए बनाए गए थे। इन मंचों के ठीक पास सड़क के दोनों ओर लगभग एक फुट चौड़ा खुला गटर बह रहा है। इस गटर का खुला इस्तेमाल नियमित रूप से सार्वजनिक शौचालय के रूप में होता है। लकड़ी के इन पटलों पर गटर से थोड़ा बचकर ढेर सारे खाद्य पदार्थ—तली हुई मछली, चावल टिक्की, कढ़ी, चिपचिपी मिठाइयां और अन्य चीजें बेचने के लिए रखी हुई हैं। खाने की ये सारी चीजें वास्तव में जमीन पर रहती हैं और हर तरह की बीमारियों को दावत देती हैं। जैसे—मक्खियां, गंदे हाथ, कुत्तों, गायों, बैलों और भेंड़ों का मुंह डालकर सूंघना और लगातार दौड़ते हुए चूहे भी उनमें अपना योगदान करते रहते हैं; जो शिशुओं और बच्चों की आंखों में जख्म और त्वचा के रोग पैदा करते हैं। और इस सबके बीच वे (दुकानदार) धूल और कड़ुवे धुएं की धुंध में इन चीजों को कागज में

लपेटकर देते हुए हर तरह की बीमारी को फैलाते हैं।

आपको मकान की दीवार की सफाई करते हुए ही नहीं, बल्कि उधर से गुजरते हुए भी सतर्क रहना होगा। क्योंकि, ऊपरी मंजिल के शौचालयों और मकानों के बाहर नीचे जाते छतों के परनालों के रिसते हुए पाइपों में से या दीवारों में बने छोटे रोशनदानों से टपकता और रिसता हुआ पानी धीमे बहाव के साथ गटर में गिरता है। स्पष्ट है कि उसके छींटें तली हुई मछलियों और मिठाइयों को भी दूषित करते हैं। मि. गांधी ने—जिनका पूर्व में कुछ समय तक इंग्लैंड में रहना हुआ है—अनेक तरह से अपने सामान्य दृष्टिकोण से प्रभावित किया है। इस विषय पर उन्होंने अनेक अवसरों पर बार-बार लिखा है। उदाहरण के लिए, वह कहते हैं– [2]

> 'कुछ राष्ट्रीय (भारतीय) आदतें इतनी खराब हैं कि वर्णन से परे हैं। और वे अभी तक सारे मानव-प्रयास को चुनौती देने के लिए बनी हुई हैं। जहां भी मैं इस गंदगी को साफ करने जाता हूं, तो अपने आप मेरी नजर में उसके कई रूप आ जाते हैं। हम पंजाब और सिंध में स्वास्थ्य के प्राथमिक कानूनों की पूर्ण उपेक्षा के साथ अपने बरामदों और छतों को गंदा करते हैं, जहां बीमारियां पैदा करने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं और मक्खियों का बसेरा हो जाता है। दक्षिण में नीचे की ओर हम सड़कों पर भी गंदगी करने में संकोच नहीं करते हैं और सुबह तड़के में किसी भी भले व्यक्ति के लिए उन सड़कों पर चलना असंभव हो जाता है, जहां प्राकृतिक शौचकर्म के लिए लोग लाइन लगाकर बैठे होते हैं। आमतौर पर लोग वहां पैर रखने के लिए भी परेशान हो जाते हैं। यही कहानी कुछ बदलाव के साथ बंगाल के बारे में भी कही जा सकती है। वहां भी एक ही तालाब या पोखर में लोगों ने अपना मल धोया है। उसी में अपने बर्तन धोए हैं। उसी में जानवर भी पानी पीते हैं और उसी से पीने का भी पानी लेते हैं। लेकिन, ये अज्ञानी लोग नहीं हैं। ये अशिक्षित भी नहीं हैं। क्योंकि, अधिकांश ने भारत की सीमा के बाहर भी यात्राएं की हैं। बस यह परिपाटी है। नगर पालिकाओं की तुलना में कोई भी संस्था इस समस्या से बेहतर और अधिक तेजी से नहीं निपट सकती। उनके पास वे सारे अधिकार हैं, जिनकी इस कार्य में आवश्यकता पड़ती है और आवश्यक हुआ, तो उनको और भी अधिकार मिल सकते हैं। लेकिन, उनके पास केवल इच्छा-शक्ति का अभाव है।'

वह पुन: लिखते हैं– [3]

> 'सरकार के पास जवाब देने के लिए काफी कुछ है। पर, मैं जानता हूं कि ब्रिटिश अधिकारी हमारी गंदगी के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। यदि इस मामले में हमने सचमुच उन्हें स्वतंत्रता से काम करने का अवसर दे दिया, तो वे तलवार की नोक पर हमारी आदतें सुधार देंगे।'

भारतीय नगर पालिकाओं के शासन के दृष्टिकोण के प्रति मि. गांधी के निर्णय ने भारत के अनेक छोटे-बड़े नगरों के बारे में मेरे ही विचारों की पुष्टि की थी। उदाहरण के लिए, देश के तीसरे सबसे बड़े नगर मद्रास ने 1914 में ही अपनी वर्तमान जल प्रणाली का काम पूरा कर लिया था। पहाड़ी इलाकों के भी अनेक गांव इस योजना में शामिल थे।

इस प्रणाली से जो पानी नगर-संयत्र में पहुंचता है; वह लगभग उतना ही गंदा होता है, जितना हो सकता है। लेकिन, जो प्रणाली बनाई गई है; उसके द्वारा यहां एक दिन में 1,00,00,000 गैलन की दर से पानी को रेत फिल्टर से शुद्ध करके धीमी गति से टैंक में भरा जाता है।

किन्तु, मद्रास की जनसंख्या बढ़ गई है और अब संयत्र की क्षमता नगर की दैनिक जरूरतों के हिसाब से 40,00,000 गैलन कम हो गई है। ब्रिटिश विशेषज्ञों की सहायता से नए फिल्टरों के निर्माण की विस्तृत योजनाएं नगर पालिका परिषद के समक्ष रखी गई थीं। पर, इन 60 नेताओं और संरक्षकों ने—जो सभी भारतीय हैं—जनहित की एक सरल योजना को अपनाया है। जैसा कि मैंने स्वयं उस स्थान पर जाकर देखा और वहां सुप्रिंटेंडेंट ने भी मुझे बताया कि वे एक दिन में 1,00,00,000 गैलन पानी ही फिल्टर करके शुद्ध पानी के टैंक में पहुंचाते हैं। फिर उसमें बिना शुद्ध किया हुआ 40,00,000 गैलन पानी मिलाते हैं और उसी मिश्रित पानी को वे पाइप के द्वारा नगर के नागरिकों को पहुंचाते हैं।

इस काम को देखते हुए यह याद रखना चाहिए कि अंग्रेजी सीखने की तुलना में अंग्रेजों की सोच और जीवन की आदतों को विकसित करने में ज्यादा समय लगता है।

अच्छे पहनावे वाला व्यक्ति भी—जो ऑक्सफोर्ड उच्चारण की अंग्रेजी बोलता है—एक गांव से आ सकता है। जहां यदि वे एक नया कुआं चाहते हैं, तो वे आज भी वही काम करते हैं, जो हजारों साल पहले उसके पूर्वजों ने किया था। वे जो जगह चुनते हैं, वो जमीन की ढलान देखकर नहीं चुनते; बल्कि वे एक बाल्टी पानी बकरे के ऊपर डाल देते हैं। बकरा भागता है और लोग उसके पीछे भागते हैं। और पहली बार में जहां भी बकरा रुककर अपने को हिलाता है, उसी जगह नया कुआं खोद दिया जाता है। फिर चाहे वह जगह मुख्य सड़क के बीच में ही क्यों न हो।

---

[1] घना इसलिए, क्योंकि भारतीय घरों में कम पानी उपयोग होता है।

[2] यंग इंडिया, 20 अक्टूबर 1925, पृष्ठ-371

[3] वही। देखिए, मि. गांधी का लेख- 'अवर इनसैनिटेशन', पृष्ठ-399। 'यंग इंडिया' के 21 जनवरी 1926 के अंक में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में अभी हाल में इकट्ठा हुए हिंदू राजनीतिक शिष्टमंडल की सफाई आदतें उससे भी ज्यादा खराब हैं, जिसका मि. गांधी अंयत्र वर्णन करते हैं।

अध्याय **27**

दुनिया का खतरा

ब्रिटिश भारत में करीब 50 लाख गांव मिट्टी के बने हुए हैं। उनमें से ज्यादातर ने एक ही जगह से गड्ढा खोदकर मिट्टी निकाली है। उसी गड्ढे के किनारे वे स्वयं भी बसे हुए हैं।

वह गड्ढा पहली बरसात में ही पानी से भर गया और गांव का तालाब बन गया। तबसे हमेशा के लिए गांव ने अपने उसी तालाब में अपना नहाना-धोना किया। उसी में अपने बर्तन धोए। उसी तालाब से अपने मवेशियों को पानी पिलाया। उसी से अपना खाना बनाने के लिए पानी निकाला। उसी से प्रकृति की आवश्यकताओं को पूरा किया और यह सब करते-करते तालाब की अपनी प्यास भी शांत हो गई। तालाब पूरी तरह से स्थिर होने के कारण उसमें भरे पानी में मच्छर पैदा हो गए, जो तेजी से बढ़ते जाते हैं और लगातार वाष्पीकरण के कारण इसका पानी और गाढ़ा होता जाता है। कभी-कभी यह तालाब श्वेत कुमुदनियों से ढका और ताल-पत्रों से आच्छादित बहुत सुंदर लगता है। इन तालाबों में जो मच्छर पलते हैं, वे गांव में किसी को नहीं बख्शते और वे इस मामले में पूरा लोकतंत्रीकरण सुनिश्चित करते हैं। इनमें पलने वाले मच्छर इस अनुकूल मदद के बल पर गांव में बिना किसी भेदभाव के मलेरिया फैलाते हैं।

छोटे बंगाली बच्चे तालाब के किनारे मच्छरों से भिनभिनाती घास पर लिटा दिए जाते हैं।

'तुम मांएं अपने बच्चों को यहां मच्छरों द्वारा जिंदा खाए जाने के लिए क्यों डाल देती हो?' –उनसे पूछा गया।

'इसलिए कि अगर हम अपने बच्चों को बचाते हैं, तो देवता नाराज होकर हम सबका अहित करेंगे।' –उन्होंने बताया।

एक सर्वाधिक लोकप्रिय और शानदार उपहार, जो एक उदारवादी धनी व्यक्ति अपने गांव को दे सकता है; वह है एक अतिरिक्त तालाब की खुदाई। ब्रिटिश सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिकारी का सबसे बड़ा सपना इन सभी तालाबों को भरना है। कोई भी भारत में मलेरिया के सटीक फैलाव के बारे में नहीं जानता है। गांव के जो महत्वपूर्ण आंकड़े हैं, गांव का पुराना चौकीदार रखता है। वह हर ऐसी मृत्यु—जो सर्पदंश, हैजा, प्लेग, सिर फटने के कारण नहीं होती है—का कारण 'बुखार' दर्ज करता है। एक मोटे अनुमान के अनुसार, भारत में मलेरिया से हर साल लगभग 10 लाख लोगों की मौत होती है।

तालाबों के अलावा मलेरिया पैदा करने वाले और भी बहुत-से स्थान हैं। उदाहरण के लिए, बंबई शहर का बंदरगाह, जो दुनिया के जल-सैनिकों के लिए अनावश्यक और घातक विषैला जाल है। रेलवे के वे पुश्ते भी, जो जल-निकासी की समस्या का पर्याप्त हल किए बिना ही बनाए गए हैं। पंजाब तो पूरा ही पानी से सराबोर है। वह संयुक्त प्रांत का नया कृषि क्षेत्र है, जो हिमालय की पहाड़ियों के बाघ अभयारण्यों की भूमि को काटकर बनाया गया है। प्राकृतिक रूप से ये दोनों ही विकट मलेरिया वाले क्षेत्र हैं। पर, अब इन दोनों क्षेत्रों को गहराकर इन्हें सरकार की सिंचाई योजना का हिस्सा बना दिया गया है और इसको सुखा दिया गया है।

मलेरिया पूरी तरह से देश की सबसे बड़ी और खर्चीली बीमारी है। न सिर्फ अपनी विशाल मृत्यु दर की वजह से, बल्कि इससे भी ज्यादा उन कमजोर शारीरिक तथा सामाजिक स्थितियों की वजह से भी, जो अन्य प्रकार की बीमारियों के आमंत्रण के साथ उन्हें पैदा करती हैं।

भारतीयों द्वारा किए जा रहे रोकथाम कार्यों की वर्तमान परिस्थितियों में सरकारी मलेरियारोधी कार्य अन्य स्वच्छता कार्यक्रमों की तरह ही अपंग हो गया है। फिर भी यह आमतौर पर अपनी पकड़ बनाए रखने का प्रयास करता रहता है। हालांकि, वे प्रगति के प्रभावों से इनकार करते हैं।

कोई इस बात से संतुष्ट हो सकता है कि जहां-तहां कुछ छोटी स्वयंसेवी संस्थाएं इस अजनबी और विदेशी धरती पर उगने लगी हैं। इन संस्थाओं में एक श्रेष्ठ भारतीय संस्था बंगाल की मलेरियारोधी सहकारी समिति है, जो अब गांव वालों को उनके स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करके लोगों के जीवन में मलेरिया के प्रकोप को रोकने का प्रयास कर रही है। इसका श्रेय इसके मुख्य आयोजक राय बहादुर डॉ. जी.सी. चटर्जी और उनके प्रबल सहायक डॉ. ए.एन. मित्रा और के.एन. बनर्जी के उत्साह को जाता है। ये सज्जन—जिनसे मैं उनके नीमटा केंद्र में मिली हूं—न केवल मलेरिया के रोकथाम की कोशिश कर रहे हैं, बल्कि वे बंगाल के ग्रामीणों के लिए पश्चिमी इलाज में प्रशिक्षित भारतीय डॉक्टरों की सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए आवश्यक धन भी जुटा रहे हैं।

इस कीमती तालाब से अलग गांव में एक कुआं भी है। कुओं की गहराई औसतन 20 से 40 फीट तक होती है। उसका पानी मुख्य रूप से सतह पर ही निकल आता है। सूरज के ताप में सुखाई हुई ईंटों से एक छोटा गोल जगत कुएं के चारों ओर बनाया गया है और उसके मुंह पर एक लट्ठा लिटा दिया है। उस जगत पर बैठकर उस लट्ठे के पास आप पूरे दिन गांव वालों को अपने कपड़े धोते हुए, नहाते हुए, दातून करते हुए, मुंह धोते हुए देख सकते हैं। जबकि, वही पानी—जो वे इस्तेमाल करते हैं—उछलकर उनके पैरों से होता हुआ उसी कुएं में गिरता है; जहां से वे पानी निकालते हैं।

कुएं से पानी निकालने के लिए हर आदमी अपना घड़ा या बाल्टी घर से लेकर आता है, जो एक डॉक्टर के दृष्टिकोण से अत्यंत गंदा और खतरनाक बर्तन होता है। वह उस बर्तन को अपनी एक पुरानी रस्सी से बांधकर कुएं में डालता है और फिर पानी से भरकर उसे खींचता है। वह कुएं के पानी से भरे हुए उस बर्तन को घर वालों के पीने के लिए अपने घर ले जाता है।

ब्रिटिश स्वास्थ्य प्रशासन के महान उद्देश्यों में एक उद्देश्य गांवों में अच्छे कुओं का निर्माण कराना और उनके सही इस्तेमाल के लिए लोगों को शिक्षित करना भी है। अब, किसी को भी ऐसे पक्के कुएं हमेशा मिल जाते हैं। किन्तु, जैसा कि फिलीपींस में पैतृक चीजों के प्रति लोगों में तीव्र उत्कंठा देखी जाती है, तो यहां भी वे प्राय: नए और संरक्षित जल स्रोत को अपनी उस पुरानी जगह की तरह छोड़ देंगे, जहां वे बैठकर गपशप करते हुए एक-दूसरे के अंदर बेवजह जहर घोलते हैं।

पंपों के लिए कुओं को सील करने और पानी निकालने की सुविधा को सुगम बनाने के लिए कुछ खास उपाय किए गए हैं। पर, नियमत: पंप अव्यावहारिक हैं। कारण यह है कि भारतीय लोग मशीनरी के किसी पुर्जे का उपभोग तो करते हैं, परंतु उसका सही उपयोग और उसकी देखरेख नहीं करते हैं। अगर मशीन का एक भी नट या वाशर गिर गया, तो वे उसे वापस नहीं डाल पाते हैं और मशीन कबाड़ा बन जाती है।

आज भारतीय कुओं का यह विषय भारतीयों के महत्व से अधिक है। क्योंकि, हैजा मुख्य रूप से पानी से पैदा होने वाली बीमारी है। और

आंकड़े बताते हैं कि ब्रिटिश भारत में कुछ प्रांत हैजा-संक्रमण के मामले में दुनिया में अब तक के सबसे बड़े और सबसे मजबूत केंद्र हैं। [1]

यह रोग हैजा रोगियों के मल से संक्रमित पानी पीने से या अधपका संक्रमित भोजन खाने से फैलता है। यह ज्यादातर उस आबादी में फैलता है, जहां लोगों में कम जीवन शक्ति और आमतौर पर कमजोर तथा अप्रतिरोधी स्थिति होती है। [2] इसे टीकाकरण के जरिए रोकने के लिए एक वैक्सीन है। पर, अगर एक बार बीमारी विकसित हो गई, तो फिर उसका कोई इलाज नहीं है। इसके प्रकोप से मृत्यु दर 15 से 90 प्रतिशत तक हो जाती है। जबकि आमतौर से 40 प्रतिशत तो रहती ही है। भारत में निचले बंगाल का क्षेत्र और गंगा की घाटी हैजा के मुख्य केंद्र हैं। लेकिन, पूरे भारतीय प्रायद्वीप के बड़े हिस्से में आमतौर पर यह बीमारी स्थानीय है।' [3]

वर्ष 1817 से हैजा की 10 महामारियां हुई हैं। 1893 में संयुक्त राज्य अमेरिका में यह महामारी फैली। और यह महामारी पहले की तुलना में बहुत तेजी से पूरब से पश्चिम तक फैल गई। [4]

सामान्य परिस्थितियों में उन स्थानों पर, जहां सार्वजनिक जल-आपूर्ति अच्छी और वैज्ञानिक रूप से नियंत्रित है; हैजा होने की आशंका नहीं है। किन्तु, आधुनिक समय के महान और क्रांतिकारी परिवर्तनों ने स्थितियों को तेजी से पलट दिया है। उदाहरण के लिए, 1920 में पश्चिमी यूरोपीय देशों में रूस की ओर से अचानक सैकड़ों हजार रोगग्रस्त शरणार्थियों ने प्रवेश किया था।

खतरे की चेतावनी के डर के बिना अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य अधिकारी आज सवाल करते हैं कि क्या वे यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि स्थानीय नियंत्रण से इन असंख्य हमलों को हमेशा सख्ती से रोका जा सकेगा? इस सवाल को ध्यान में रखते हुए वे भारत में हैजा को गहन अंतर्राष्ट्रीय आयात की राष्ट्रीय समस्या मानते हैं।

संक्रमण से संयुक्त राज्य की सुरक्षा के आकलन में संक्रमण फैलाने वाले तत्त्वों पर विचार किया जाना चाहिए। प्रत्येक महामारी उन संक्रमणधारकों की फसल पैदा करती है, जिनकी बीमारी फैलाने की शक्ति 101 दिन में खत्म होती है। [5] इसके अलावा स्वस्थ संक्रमणवाहक का अस्तित्व प्रामाणिक तौर पर साबित हुआ है। और भारत से इस महामारी को न्यूयॉर्क या सैन फ्रांसिस्को पहुंचने में एक महीने से ज्यादा नहीं लगेगा।

अंतर्राष्ट्रीय सेवा के एक अमेरिकन स्वास्थ्य अधिकारी ने कहा– 'जब भी भारत की वास्तविक स्थिति के बारे में पता चलेगा, तो विश्व के सभी सभ्य देश राष्ट्र संघ जाकर अपने लिए सुरक्षा की मांग करेंगे।'

हैजा के लिहाज से बंगाल सबसे बदतर इलाकों में एक है; जो लगभग नेब्रास्का के बराबर है। इसमें रहने वाले ग्रामीणों की आबादी 4,35,00,000 है, जो 84,981 गांवों में रहते हैं। वर्ष 1921 में (जो हैजा की दृष्टि से एक आसान वर्ष था) 11,592 गांवों में हैजा फैलने की खबर मिली थी, जबकि वह 26 जिलों में फैला था; और कुल मौतों की संख्या 80,547 थी। [6] कल्पना कीजिए कि विस्तृत क्षेत्र में फैले 4,35,00,000 लोगों को टीका लगाना है। और यह भी कि इस टीके को सिर्फ 90 दिन के भीतर ही प्रयोग किया जाना चाहिए। यह भी कल्पना कीजिए कि उन सभी गांवों के कुओं को संक्रमण-मुक्त करने का प्रयास भी कितना कठिन रहा होगा, जब आप पहली बार इसके लिए वहां के लोगों को राजी करेंगे; न कि बाध्य करेंगे। तो अक्सर शक्की और भाग्यवादी लोग आपका विरोध करेंगे।

1924-25 की सर्दियों में भारत के कश्मीर राज्य में हैजा के कुछ छिटपुट मामले प्रकाश में आए थे। ब्रिटिश अधिकारी जो कर सकते थे, वह सब उन्होंने कश्मीरी लोगों को बीमारी से बचाने के लिए किया। परंतु, हाय भारतीय रिवाज! यहां के लोगों ने इस बीमारी को गंभीरता से नहीं लिया। परिणामतः अप्रैल में हैजे का एक विस्फोट हुआ और एक ही महीने में राज्य की दो प्रतिशत आबादी मौत के मुंह में समा गई। ब्रिटिश भारत की सीमा के पार पंजाब में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में भारतीय लोगों को भर्ती करने की इस कदर जल्दबाजी की गई कि सिर्फ एक ब्रिटिश अधिकारी ही विभाग में रह गया था। इसी के परिणामस्वरूप 30 वर्षों में पहली बार उस घातक संकट ने कश्मीर की सीमा पार करके पंजाबी किसानों के बीच भयंकर तबाही मचा दी।

फिर भी सामान्य घटनाक्रम में हैजा की व्यापक महामारी का खतरनाक स्रोत मुख्य रूप से मेलों, त्योहारों तथा धार्मिक शहरों के तीर्थस्थानों में जमा होने वाली लोगों की भारी भीड़ है। पिछले 12 या इससे भी ज्यादा वर्षों के दौरान जहां अस्थाई शौचालय बनाए गए हैं, वहां लोगों में संक्रमण को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार का स्वास्थ्य नियंत्रण संबंधी विभाग पानी की पाइप लाइन बिछाकर, कुओं में क्लोरीन डलवाकर और डॉक्टरों तथा सुरक्षा कर्मियों को तैनात करके इतना कामयाब हुआ है कि हैजे का खतरा काफी हद तक कम हो गया है। भविष्य की संभावनाओं के बारे में यह कश्मीरी घटना बहुत कुछ कहती है।

यह आंत में पलने वाला एक परजीवी हुकवर्म (कीड़ा) है, जो अपने शिकार की जीवन-शक्ति को इतना कमजोर कर देता है कि उसका शरीर और मन गिर जाता है और अंततः वह अपने आपको या किसी अन्य को संभालने लायक नहीं रहता है। यह कीड़ा नंगे पैर टहलने से संक्रमित लोगों के मल पर पैर पड़ जाने से शरीर में प्रवेश करता है। इस कीड़े से—(1) सही शौचालयों का प्रयोग करके और (2) पैरों में जूते पहनकर चलने से बचा जा सकता है।

जैसा कि मि. गांधी ने व्यक्त किया है कि हिंदू कहीं भी लैटरीन कर लेते हैं। परंतु, इससे परे वे जो करते हैं, उससे हमेशा चिंतित नहीं होते हैं। एक शहर में मुझे नगर पालिका के चेयरमैन से पता चला कि स्वास्थ्य अधिकारी की इच्छा और योजना के अनुसार कुछ शौचालय बनवाए गए थे। किन्तु, उसने कहा कि लोग उनमें पाखाना करके चुपचाप छोड़कर आ जाते थे। जैसा कि वे सड़कों, गलियों, नालों और अपने फर्शों का उपयोग करते हुए हमेशा करते थे।

चूंकि शहर के उस हिस्से में अछूत जातियां कम थीं। इसलिए, उनके मलों को उठाकर फेंकने वाला कोई नहीं था। यह वह गंदगी थी, जिसे कोई भी सवर्ण व्यक्ति उठाकर नहीं फेंक सकता। भले ही वह अपनी उस गंदगी में पड़ा सड़ता रहे। क्योंकि, इस हिस्से में हिंदू धर्म के रिवाज को मानना ज्यादा आसान था। [7] गांव वाले हर हालत में शौच कर्म के लिए हमेशा अपने आस-पास के उन्हीं खाली खेतों का प्रयोग करते हैं, जिन पर वे बराबर चलते-फिरते भी हैं।

संक्षेप में मद्रास के स्वास्थ्य विभाग के भारतीय सहायक निदेशक डॉक्टर आदिसेशन के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं– 'आप हैजा के हुकवर्म को कैसे रोक लेंगे? जब लोग लैटरीनों का इस्तेमाल ही नहीं करेंगे। और कोई भी सनातनी हिंदू जूते पहनने के लिए राजी नहीं होगा। निश्चित रूप से कोई स्त्री भी नहीं।'

यद्यपि हैजे का इलाज अच्छी तरह से स्थापित, सरल और सस्ता है। परंतु, इस तरह की परिस्थितियों में हैजे के मरीजों को पुनः संक्रमित होने

से बचाने के लिए उनका इलाज करना प्रशासन के लिए जनता के धन की बर्बादी होगी।

एक अनुमान के मुताबिक, मद्रास में 80 प्रतिशत से भी अधिक और बंगाल में 60 प्रतिशत लोगों में हैजे के कृमि पाए गए हैं। इस संबंध में डॉ. एंड्रयू बालफोर एक रोचक आकलन प्रस्तुत करते हैं। वह भारत के संदर्भ में कहते हैं– [8]

> 'एक सीमित अनुमान बताता है कि इस देश में 4,50,00,000 मजदूर हुकवर्म से संक्रमित हैं। 1915 में सांख्यिकीय विभाग ने बंगाल में एक कुशल कृषि मजदूर का औसत वेतन 10 रुपए मासिक की गणना की थी। अगर हम इन 4,50,00,000 संक्रमित मजदूरों में प्रत्येक का औसत वार्षिक वेतन 100 रुपए भी मान लें, तो ये लोग वर्तमान में 4,50,00,00,000 रुपए प्रतिवर्ष कमा रहे हैं। अब दार्जिलिंग जिले में चाय बागान के प्रबंधकों का अनुमान है कि वहां रॉकफेलर हुकवर्म-निरोधक अभियान से कुलियों की श्रम-दक्षता 25 प्रतिशत से बढ़कर 50 प्रतिशत हो गई है।
>
> 'मान लीजिए कि भारत में आमतौर पर दक्षता में केवल 10 प्रतिशत वृद्धि हुई है। यहां तक कि 4,50,00,00,000 रुपए बढ़कर 4,95,00,00,000 रुपए हो गए हैं।'

टाऊन (बूबोनिक) प्लेग पहली बार भारत में 1896 में फैला था और यह चीन से आया था। आज भारत दुनिया में इस संक्रमण का मुख्य केंद्र है और 1896 से अकेले इसी वजह से लगभग 1,10,00,000 लोगों की जानें जा चुकी हैं। [9] इससे होने वाली मृत्यु-दर लगभग 70 प्रतिशत है। केवल एक आकस्मिक मामला न्यूमोनिक प्लेग का बचता है, जो कभी-कभी किसी और रूप के साथ जुड़कर विकसित होता है।

अपने स्रोत पर अनियंत्रित प्लेग किसी भी समय एक अंतर्राष्ट्रीय संकट बन सकता है। एक ऐसा खतरा, जिसके लिए अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य अधिकारी उसी समय से और ज्यादा सचेत हैं, जबसे बाद के दिनों के पर्यवेक्षण ने यह बताया है कि बीमारी सीमा तोड़कर उन क्षेत्रों में जा सकती है; जहां इसकी घटना पहले नहीं हुई थी।

हैजा के विपरीत प्लेग आदमी से आदमी में नहीं फैलता है, बल्कि यह बीमार चूहों के जिस्मों के पिस्सुओं से आदमी में फैलता है। पिस्सू आदमी को काटता है और जहां काटता है, उसके आसपास जहरीला पदार्थ छोड़ता है। उससे खुजली होती है, जिससे आदमी उस जगह को खुजलाता है। खुजलाने से जहर उसकी त्वचा में प्रवेश कर जाता है। बस, प्लेग हो गया। जब प्लेग गांव में फैलता है, तो प्रभावी कदम गांव को एक बार में खाली कराकर गांव वालों को प्लेग-वैक्सीन का टीका लगाने का होता है।

अधिकांश देशों में आप रोग पर वास्तविक नियंत्रण के लिए चूहों को मारने की कार्यवाही करते हैं। किन्तु, इस हिंदू देश में आप यह काम प्रभावी ढंग से नहीं कर सकते। क्योंकि, यहां हिंदू धर्म इसकी इजाजत नहीं देता है।

पब्लिक स्वास्थ्य अधिकारी के मार्ग में निरंतर बनी रहने वाली बाधा विशेष रूप से भारतीय लोगों की भाग्यवादी उदासीनता है। बाद में एक और बाधा राजनीतिक एजेंट के द्वारा पैदा हुई, जो गांव-गांव जाकर लोगों के कान भरता है कि यह दुष्ट सरकार हमारा नुकसान करने पर तुली हुई है। समय-समय पर इसी तरह की गलत-बयानी करके इन लोगों ने अपने पीड़ितों के दिमाग में यह बैठा दिया है कि सरकार ने देशी स्वास्थ्य एजेंट—जिन पर उनको संक्रमित क्षेत्र से बाहर ले जाने की जिम्मेदारी थी—की हत्या कर दी है।

हालांकि, बार-बार होने वाली घटनाओं के कारण सरकार के आदेशों के परिणामस्वरूप कुछ हद तक सुधार हुआ है। उन इलाकों में, जहां अक्सर प्लेग फैलता है; चूहों के मरना शुरू होते ही लोगों ने खुद ही घर खाली करने शुरू कर दिए हैं और पास की डिस्पेंसरी में जाकर टीके लगवाने लगे हैं। पर, आमतौर पर उनके दिमागों में अभी भी अंधेरा इतना गहरा है कि आंदोलनकर्ता उनको आसानी से प्रतिरोध के लिए उत्तेजित कर सकते हैं। यहां तक कि दुष्टता की कोई भी कहानी सुनाकर उन्हें हिंसा के लिए भी भड़का सकते हैं।

जब जिले की प्रथम भारतीय महिला को अंग्रेज महिला डॉक्टर के पास लाया गया, तो वह डॉक्टर से कहती है– 'मैं अपनी जीभ क्यों दिखाऊं? जब दर्द जीभ के इतना नीचे होता है। फिर अगर मैं अपना मुंह खोलूंगी, तो बहुत-सी दुष्ट आत्माएं भी अंदर घुस जाएंगी।' या जब जिले का मुख्य जमींदार दुष्ट आत्मा को डराने के लिए, जो उसके 10 दिन के बेटे को संताप दे रही है; उसकी पहुंच से दूर एक बड़े बंदर को बांधेगा और फिर वह बच्चे को छीनने और चंचल बनाने के लिए उसे उत्तेजित करेगा। तालाब के किनारे बैठे ऐसे लोगों से क्या आशा की जा सकती है?

1926 की सर्दियों में मैं ब्रिटिश स्वास्थ्य अधिकारी के साथ एक प्लेग संक्रमित जिले से गुजरी। जिस पहले गांव का हमने दौरा किया, वह आसपास के किसानों के लिए बाजार वाला कस्बा था। जहां अनाज व्यापारियों, दुकानदारों और साहूकारों की समृद्ध बस्ती थी। प्रत्येक घर में अनाज से भरे बोरे थे और झुंड के झुंड चूहे थे। जब चूहे मरने शुरू हो गए और दो लोगों की मृत्यु हो गई, तो ब्रिटिश जिला कमिश्नर ने तुरंत लोगों को बस्ती खाली करने का आदेश दिया।

अब वे सब बसंत का इंतजार करने और बीमारी के खत्म होने तक के लिए अस्थाई रूप से पुआल से बने एक छोटे-से गांव में इकट्ठे हो गए थे, जो उनके कस्बे से कुछ 100 गज की दूरी पर था। चिकित्सक के रूप में भारतीय मेडिकल सेवा में 30 वर्ष के अनुभवी डॉक्टर स्कॉचमैन ने वहां पहुंचकर कैम्प लगाया। वहां उनको सभी पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों ने बधाई दी और फिर उनके सामने अपनी यह समस्या रखी–

'साहब! यदि हम यहां खाना बनाने के लिए आग जलाते हैं और हवा चलती है, तो उसकी चिंगारी से हमारे द्वारा बनाए गए ये पुआल के घर जल जाएंगे। तब हम कैसे खाना बनाएंगे? कृपया इसका कुछ इंतजाम करें।'

'आप उस टीले के पीछे आग जलाओ।' – अधिकारी ने कहा।

'हां, साहब! यह ठीक है।'

'साहब! यदि हम अपने दरवाजों के बाहर वहां जाकर बैठेंगे, तो बुरे लोग हमारे घरों में घुसकर हमारा अनाज चुरा ले जाएंगे। तब क्या होगा?'

'इसकी बजाय कि प्लेग आप लोगों को मारे, क्या यह बेहतर नहीं है कि वे बुरे लोग प्लेग से मर जाएं? फिर भी आप कुछ दूरी से चौकीदारी कर सकते हैं।'

'साहब अक्लमंद हैं।' एक बात और—'वहां तंबू में एक अजनबी हमारी त्वचा पर दवाई लगाना चाहता है। क्या वह अच्छी दवाई है? क्या हम उसकी बात मानें? और उस दवाई की सही कीमत क्या है?'

'तंबू में वह आदमी सरकार के द्वारा भेजा गया है। अगर तुम जिंदा रहना चाहते हो, तो यह दवाई तुम सबको लेना जरूरी है। यह दवाई नि:शुल्क है। इसकी कोई कीमत नहीं है।'

लोग मौन रहकर एक-दूसरे को देखते हैं। फिर उनका मुखिया बोलता है– 'अच्छा हुआ साहब! आप यहां आए।'

जैसे ही हम आगे बढ़े, डॉक्टर ने कहा– 'लगता है मेरा कोई आदमी टीका लगाने से पहले इन लोगों को पैसे के लिए परेशान कर रहा है। वे उसे पैसा देंगे। और फिर अगर लोग उसको संतुष्ट नहीं करेंगे, तो वह रिपोर्ट करेगा कि उन्होंने टीका लगवाने से इनकार कर दिया है। सेना और पुलिस के मामले को छोड़कर हमें दूसरों को टीका लगाने के लिए मजबूर करने का कोई अधिकार नहीं है। यह एक जोखिम भरा काम था। यह इतने बड़े पैमाने की मौतों से बिना मुकम्मल औजारों के लड़ना था।'

बाद में हमने उस अजनबी को तंबू में बैठे हुए पाया। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग का कंपाउंडर था, जो मामूली सर्जरी कर लेता था। संक्रमणरोधी टीका लगाने के साथ-साथ साधारण बीमारियों की मामूली दवाइयां दे देता था और स्वास्थ्य संबंधित चित्रों को दिखाकर स्वस्थ रहने के तरीकों का प्रचार करता था। वह अपना शो दिखाकर एक महीने से इस तंबू में बैठा हुआ था।

उसने हमसे शिकायत की– 'मैं रोज लोगों को टीका लगाने के लिए बुलाता हूं, परंतु वे आने से मना कर देते हैं।' उसने आगे बताया—'वे कहते हैं कि जब यहां प्लेग के डॉक्टर आप हैं, तो प्लेग अब जरूर आएगा। और यह कहकर वे मुझ पर हंसते हैं। वे बहुत-ही पिछड़े और अशिक्षित लोग हैं।'

डॉक्टर उसके उपकरणों की जांच करता है। उसके प्लेग-बॉक्स के भीतर ढक्कन पर खुराक लिखी हुई है। उसमें सीरम, ट्यूब्स, सुइयां, कीटाणु-नाशक उपकरण थे, जिन्हें छुआ तक नहीं गया था। उसकी दवाइयों के डिब्बे में पाचक चूर्ण, देशी दवाइयां और कुछ साधारण गोलियां थीं।

डॉक्टर ने कहा– 'अपने औजार दिखाओ।' उसके सारे औजारों में जंग लगी लगी हुई थी। अनेक टूटे हुए और काम लायक नहीं थे।'

डॉक्टर ने आगे कहा—'तुम्हें इन्हें तोड़ने से पहले यहां भेजना चाहिए था। अगर तुमने इन्हें यहां भेजा होता, तो वह तुरंत बदल दिया गया होता। अब तुम कैसे काम करोगे? तुम्हारे पास तो कुछ भी नहीं है।'

'हां, हां; मैं उन्हें भेजना चाहता था; पर मैं भूल गया।' –उसने कहा।

---

[1] दि प्रीवेलेंस ऑफ एपीडेमिक डिसीज... इन दि फॉर ईस्ट, डॉ. एफ. नॉर्मन व्हाइट, लीग ऑफ नेशंस, 1923, पृष्ठ-24
[2] देखिए, फिलीपींस जर्नल ऑफ साइंस, 1914, डॉ. विक्टर जी. हैजर।
[3] अ मेमोरेंडा ऑफ द एपिडेमियोलॉजी ऑफ कॉलरा, मेजर ए.जे. रसेल, निदेशक, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मद्रास प्रेसीडेंसी, लीग ऑफ नेशंस, 1925, जो संपूर्ण विषय पर प्रकाश डालता है।
[4] एडिनबर्ग मेडिकल पत्रिका में प्रकाशित, ई.डी.डब्ल्यू. ग्रीग का हैजा के हेतु विज्ञान पर नवीन शोध पत्र, जुलाई, 1919
[5] इंडियन मेडिकल रिसर्च जर्नल में ई.डी.डब्ल्यू. ग्रीग का लेख, 1913, वॉल्यूम-I, पृष्ठ-59 से 64
[6] स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश, 1914-15 से 1923-24 तक, पृष्ठ-2 एवं 382, बंगाल के स्वास्थ्य विभाग के निदेशक की 54वीं वार्षिक रिपोर्ट, परिशिष्ट-I, पृष्ठ-XXVIII
[7] देखिए, हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरिमॅनीज, पृष्ठ-237 से 240
[8] हैल्थ प्रॉब्लम ऑफ दि एम्पायर, पृष्ठ-193, 194
[9] दि प्रीवेलेंस ऑफ एपीडेमिक डिसीज... इन दि फार ईस्ट, डॉ. एफ. नॉर्मन व्हाइट, लीग ऑफ नेशंस, 1923, पृष्ठ-21

अध्याय **28**

नीम-हकीम, जिन्हें हम जानते हैं

ब्राह्मणों की एक कहावत है– 'चलने से बैठना अच्छा है। बैठने से लेटना अच्छा है। जागने से सोना अच्छा है। और मृत्यु इस सबसे अच्छी है।'

इस अध्याय में हम इसी विषय पर विचार करेंगे। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि एक भारतीय को उसकी सफाई संबंधी आदतें किस तरह प्रभावित करती हैं। इस प्रश्न का जवाब भारत में अध्ययन कर रहे एक अमेरिकी वैज्ञानिक के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है–

> 'लंबे समय से गंदे सीवेज का इस्तेमाल करते रहने से उन्होंने वास्तव में एक प्रतिरोधक गुण को प्राप्त कर लिया है। अब भी वे सभी आंत्र परजीवियों के पिंजरे में घूम रहे हैं, जो उनके पाचन-तंत्र को गंभीर रूप से शक्तिहीन बना देते हैं। ये आंत्र परजीवी अनिवार्य रूप से निमोनिया और इनफ्लूएंजा जैसी घातक बीमारियों को पैदा करते हैं। तब लोग मक्खियों की तरह मरने लगते हैं। क्योंकि, उनमें फिर कुछ भी प्रतिरोधी शक्ति नहीं रह जाती है।'

बाल विवाह, असुरक्षित यौन-संबंध और यौन-संक्रमणों के जुड़ जाने से ये स्थितियां आगे की पीढ़ियों के लिए शारीरिक तथा मानसिक रूप से और भी दु:खद हो जाती हैं। और यहां फिर से यह अनुमान लगाया जाता है कि कैसे लोग इतने जीवित हैं और कैसे उनके अस्तित्व को जिंदा रखा जा सकता हैं।

इसका एक उत्तर यूरोपियन अंतर्राष्ट्रीय सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के एक प्रमुख अधिकारी के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है–

> 'यह किसी बात को अपनाने और एक उप-श्रेणी के अस्तित्व के विकास का प्रश्न है; जिस पर वे जीवित हैं। जिन अंग्रेजों को दुनिया के लिए खतरा पैदा करने के लिए जिम्मेदार माना जाता है, उन्होंने यदि उनकी सुरक्षा नहीं की होती, तो उत्तर की बलवान जातियों ने उनका सफाया कर दिया होता।'

उत्तरी जातियों का श्रेष्ठ पौरुष, जिनमें सिख और विशेष रूप से पठान और अन्य मुस्लिम वंश शामिल हैं; श्रेष्ठ खाना खाने के कारण है। ये सभी हृष्ट-पुष्ट मैदानी लोग बड़े मांसाहारी होते हैं और दूध तथा अनाज का सेवन ज्यादा करते हैं। दक्षिण के हिंदुओं के आहार में ऐसा कुछ नहीं होता, जो उनके ऊतकों की मरम्मत करे या उन्हें बनाए। वे मुख्यत: मिठाई व कार्बोहाइड्रेट्स पर निर्भर रहते हैं और एक गतिहीन जीवन जीते हैं। इसलिए, अक्सर एक आम दक्षिण भारतीय वक्त से पहले ही मधुमेह का रोगी हो जाता है। [1]

भारत सरकार के केंद्रीय शोध संस्थान के निदेशक लेफ्टीनेंट कर्नल क्रिस्टोफर (आई.एम.एस.) ने अपने शोध-पत्र 'व्हाट डिजीज कॉस्ट इंडिया' में कहा है– [2]

> 'भारत में होने वाली मौतों की सालाना संख्या लगभग 70,00,000 है, जो वृहत्तर लंदन की जनसंख्या के काफी निकट है। अब मरना तो सभी लोगों को है, परंतु आशा की जाती है कि उनमें से हरेक अपने लिए धनार्जन करेगा। जीवन के पहले वर्ष के दौरान एक भारतीय के जीवन की उम्मीद लगभग 23 वर्ष है। पांच वर्ष की आयु में यह उम्मीद 35 वर्ष है; जो किसी भी आयु में सर्वाधिक है।'

कर्नल क्रिस्टोफर आगे उल्लेख करते हैं कि इतनी भारी मृत्यु-दर अवश्य ही व्यापक और सतत रहने वाली बीमारी, कम उत्पादकता, प्रशासन के भारी खर्च और दंडित व्यापार की ओर संकेत करती है। जिसका देश के संसाधनों पर, संयुक्त कर (हालांकि उसकी गणना करना मुश्किल है) पर या समृद्धि पर एक भारी नैतिक और आर्थिक बोझ होता है।

इस महान क्षेत्र के लिए साधनों की हमेशा विशेष कमी रही है। 1925-26 के लिए कुछ प्रांतों का मदवार बजट इस प्रकार था– [3]

	शिक्षा	सार्वजनिक स्वास्थ्य
बंबई प्रेसीडेंसी	$ 69,59,700.	$ 9,64,700.
मद्रास प्रेसीडेंसी	62,11,100.	10,54,500.
संयुक्त प्रांत	57,13,000.	4,93,700.
बंगाल	43,22,000.	8,80,000.

इससे बेहतरी के रास्ते खुले और स्पष्ट हैं। पर, आज तक उस पर कोई चला नहीं है। एक मार्गपट्ट पर इस प्रकार लिखा है– [4]

> 'किसी भी सही विकास के लिए प्रारंभिक आवश्यकता मानवतावादी शिक्षित वर्गों में एक ऐसी मिशनरी भावना विकसित करना है; जो अपने बदनसीब भाइयों के बुरे हालात को सुधारने में अपना समय, धन और ऊर्जा खर्च करें। जब तक भारत की जनता को सामाजिक प्रथाओं में विश्वास करने से नहीं रोका जाएगा, तब तक भारत को महामारियों से होने वाली भयानक मृत्यु-दर से नहीं बचाया जा सकता; जो उनके स्वास्थ्य और उनकी आर्थिक समृद्धि दोनों की विरोधी हैं।'

किन्तु, यह मानवीय भावना आज मौजूद नहीं है।

इस विषय में मि. गांधी के कुछ दूसरे ही विचार हैं। वह हिंदू डॉक्टरों के बारे में कहते हैं– [5]

> 'यह बात विचार करने की है कि हम चिकित्सा का पेशा क्यों अपनाते हैं? अवश्य ही मानवता की सेवा करने के लिए नहीं अपनाते हैं। हम इसलिए डॉक्टर बनते हैं, ताकि हम सम्मान और दौलत हासिल कर सकें।'

इसके बाद वह इस बात पर ज्यादा जोर देते हैं कि यूरोपियन डॉक्टर सबसे खराब होते हैं। वह अपने आरोप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

> 'ये (यूरोपियन) डॉक्टर हमारी धार्मिक प्रवृत्ति का हनन करते हैं। उनकी बहुत-सी दवाओं में या तो पशु-मांस होता है या मादक द्रव्य, जो हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए निषिद्ध हैं।'

इसके बाद वह यह विशेष बात कहते हैं–

> 'मैं बहुत ज्यादा खाता हूं। इसलिए मुझे अपच है। मैं डॉक्टर के पास जाता हूं, तो वह मुझे दवाई दे देता है। उसे खाकर मैं ठीक हो जाता हूं। मैं फिर ज्यादा खा लेता हूं और मैं फिर

> गोलियां ले लेता हूं। यदि मैंने पहली अपच में ही गोलियां नहीं ली होतीं, तो अपच से मुझे यह सजा मिलती कि मैं दोबारा बहुत ज्यादा नहीं खाता। इसलिए, लगातार दवाइयां लेते रहने से मन पर नियंत्रण खत्म हो जाता है।'

और वह अंत में कहते हैं– 'इन परिस्थितियों में हम देश की सेवा करने के अयोग्य हैं। और इसलिए यूरोपियन चिकित्सा की पढ़ाई करना अपनी गुलामी को और गहन बनाना है।'

मि. गांधी के विचार चाहे जो हों, पर उनकी ईमानदारी पर संदेह नहीं किया जा सकता। इसलिए, भारत में पश्चिमी डॉक्टरों के उद्देश्य और महत्व पर इस प्रकार के विचार को ध्यान में रखते हुए सरकार और उसकी कार्यप्रणाली के विरुद्ध उनके असहयोग आंदोलन पर आश्चर्य नहीं होता; जिसमें उन्होंने सरकार के शिक्षा संबंधी प्रयासों को भी नकारते हुए चिकित्सा और स्वास्थ्य के विद्यार्थियों को अपनी कक्षाएं त्यागने और स्कूलों का बहिष्कार करने का आह्वान किया था। उस समय जो बचकानी बातें उन्होंने कीं, भारत के लिए उनकी क्या कीमत थी?

भारतीय राष्ट्रवाद की इस अवस्था का दूसरा पक्ष आयुर्वेदिक अर्थात् प्राचीन हिंदू चिकित्सा पद्धति के प्रति उसका उत्साह है; जिसके अंतर्गत एक बड़ी देशी आबादी अपना इलाज करा रही है। विशेषकर बंगाल तथा मध्य और दक्षिण भारत में। माना जाता है कि यह पद्धति प्राचीन समय के देवताओं से प्राप्त हुई है, जो एक आध्यात्मिक और प्रकृति प्रेरित है। इस पद्धति के कुछ अंश सुश्रुत संहिता में मिलते हैं, जो उन दो धार्मिक ग्रंथों में से एक है, जिस पर यह पद्धति आधारित है। [6] यथा–

> 'रोग की अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थिति की भविष्यवाणी डॉक्टर को बुलाने के लिए भेजे गए व्यक्ति के हुलिया, उसकी बोलचाल, उसके कपड़े और चाल-ढाल से या उसके पहुंचने के वक्त के नक्षत्र की प्रकृति और चंद्रमा की गति से या उस समय चलने वाली हवा की दिशा से या सड़क पर उसके द्वारा देखे गए शकुन के स्वरूप से या स्वयं चिकित्सक के आसन या बोलने से की जा सकती है। अगर चिकित्सक और उसे बुलाने जाने वाले व्यक्ति की जाति एक ही है, तो यह शुभ शकुन माना जाना जाएगा। किन्तु, अगर वे अलग-अलग जाति के हैं; तो यह रोग के निदान का प्रतिकूल संकेत माना जाएगा।'

आधुनिक आयुर्वेदिक चिकित्सा पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। वे दावा करते हैं कि दो हजार वर्ष पूर्व की सुश्रुत जीवविज्ञान और चीड़फाड़ (सर्जरी) आधुनिक पश्चिमी विज्ञान से श्रेष्ठ थे।

वे यह भी निष्कर्ष निकालते हैं कि उस समय से अब तक आयुर्वेदिक प्रणाली में कोई गंभीर परिवर्तन नहीं हुआ है और वो (ग्रंथ) व्यावहारिक रूप से परिपूर्ण हैं। सर पेट्रिक हेहिर कहते हैं– [7]

> 'इस पद्धति का सिद्धांत है कि बीमारियां दुष्ट आत्माओं के प्रकोप का परिणाम हैं, जिन्हें झाड़-फूंक और चढ़ावों से शांत तथा संतुष्ट करके ठीक किया जा सकता है।' बच्चों की बीमारियों के बारे में वह कहता है– [8] 'यह कुछ उन आत्माओं का काम है, जो विनाश करने वाले देवता के सेवकों में लाभदायक मुकाम प्राप्त करने में पिछड़ गई थीं। और जिन्हें अपनी ताकत दिखाने के लिए बच्चों के माता-पिता को दुःख देने के लिए बाध्य किया जाता है। ताकि वे अपने वंश को पीड़ित होने से बचाने के लिए सैकड़ों अजीब अनुष्ठानों में से किसी भी एक को करने के लिए तैयार हो जाएं।' इस पद्धति में किसी भी निश्चित और तर्कसंगत चिकित्सा विज्ञान तक पहुंचने में कोई भी अनुसंधान व्यर्थ है। यहां हमारे पास एक आधुनिक आयुर्वेदिक कृति है, जिसमें दवाओं के एक जटिल मिश्रण का गुणगान किया गया है कि वह मोटापा और सूजाक जैसी बीमारी को भी ठीक करने में समर्थ है। और एक अन्य मिश्रण के बारे में दावा किया गया है कि वह स्त्रियों की हर तरह की बीमारी को—चाहे वह किसी भी कारण से हुई हो—ठीक करने में असरदार है।'

आयुर्वेदिक सर्जरी के दो मामलों की छानबीन मैंने खुद की थी। पहली घटना एक छोटे बच्चे की थी, जो 1925 में मद्रास प्रांत के एक अस्पताल में चला गया था। वह अपनी ही कलाई को पार्सल बनाए हुए लाया था। उसने अस्पताल के प्रभारी ब्रिटिश सर्जन से अनुरोध किया कि एक प्रसिद्ध आयुर्वेदिक डॉक्टर ने बांह को सिलवाने के लिए कहा है। इस लड़के की कहानी यह थी कि उसके हाथ में दो जगह फ्रैक्चर हो गया था। जख्म खुलने से मांस फटकर लटक गया था। आयुर्वेदिक डॉक्टर ने सबसे पहले उस जख्म पर गाय का गोबर लगाया और फिर उसे पट्टे से थपथपाया और पेड़ की छाल के साथ कसकर बांध दिया। गर्म और शुष्क मौसम की वजह से छाल जल्दी सिकुड़ गई और एक भारी दबाव बन गया। रक्त का प्रवाह रुक गया। भीतर सूखी गैंगरीन बन गई और त्वचा मृत हो जाने से हाथ कोहनी पर से लटक गया। यह देखकर आयुर्वेदिक डॉक्टर को अपने पेशे के शिष्टाचार का ख्याल आया और उसने उसे पश्चिमी सुई से बांह को सिलवाने का सुझाव दिया।

दूसरी घटना भी इसी प्रांत में 1926 में हुई थी। एक आयुर्वेदिक डॉक्टर ने अपनी पद्धति के अनुसार एक व्यक्ति की जांघ में निकली हुई एक बड़ी-सी गांठ को ऑपरेशन करके निकालने का प्रयास किया। उसने मरीज को नीचे लिटाकर उसे एनेस्थीसिया से बेहोश किए बगैर ही गांठ को चीर दिया। जैसे ही गांठ में चाकू घुसा, मरीज कूद गया। इससे एक धमनी कट गई और पेरिटोनियल झिल्ली फटने से पेट खुल गया। आयुर्वेदिक डॉक्टर को शरीर-विज्ञान की कोई जानकारी नहीं थी। अत: वह मरीज को निकट की सरकारी डिस्पेंसरी में ले गया। किन्तु वह एक छोटी डिस्पेंसरी थी, जिसका इंचार्ज एक भारतीय था। वह उसे देखकर घबरा गया। उसने कहा– 'इस तरह का मामला मेरी समझ से परे है। मैं केवल छोटी-मोटी मरहम-पट्टी करता हूं। आप इस मरीज को अस्पताल ले जाइए।'

किन्तु, अस्पताल पहुंचने से पहले ही मरीज की मौत हो गई।

इस मानव-हत्या के लिए पुलिस ने आयुर्वेदिक डॉक्टर के खिलाफ केस दर्ज किया। पर, पश्चिमी डिग्रीधारी भारतीय डॉक्टरों की एक संस्था ने —जिसमें ज्यादातर सरकारी नौकर थे—उसका केस लड़ा और सारा खर्च वहन किया। उन्होंने कहा– 'हमारी प्राचीन श्रेष्ठ भारतीय चिकित्सा पद्धति पर हमला नहीं होना चाहिए।' उनके वकीलों ने पहले तो तकनीकी आधार पर प्रतिवाद किया और फिर उपचार में आपराधिक देर करने के लिए उस छोटी डिस्पेंसरी के डॉक्टर को दोषी ठहरा दिया। प्राचीन चिकित्सा पद्धति के पक्ष में आम तर्क यह दिया जाता है कि यह लोगों के लिए एक सस्ता इलाज है। भारतीय विधानों के अनुरूप है और यह ईश्वरकृत है। अंतिम दो मतों को छोड़कर—क्योंकि ये बहस में नहीं हैं—हम सस्ते इलाज के तर्क पर बात करते हैं। हमने पता लगाया है कि एक आयुर्वेदिक डिस्पेंसरी चलाने में जो खर्चा आता है; वह उतना ही है, जितना पश्चिमी पद्धति की डिस्पेंसरी चलाने में आता है। [9] और पद्धति पर दवाइयों की प्रतिक्रिया के मामले में गोरे और भूरे आदमी के बीच कभी भी कोई भौतिक अंतर नहीं है।

फिर भी 'माण्टेग्यु-चेम्सफोर्ड सुधारों' ने देशी चिकित्सा को दोबारा शुरू करने का बड़ा अवसर प्रदान किया है। इसीलिए, लोकप्रिय वोट बैंक पर निर्भर रहने वाले प्रांतीय मंत्री आयुर्वेदिक और यूनानी [10] कॉलेज, अस्पताल और डिस्पेंसरी खोलने के लिए जनता का धन खर्च करने के पक्ष में हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह दावा किया कि आयुर्वेदिक चिकित्सा उतनी ही वैज्ञानिक है, जितनी आधुनिक पश्चिमी चिकित्सा है। तो सर रबीन्द्रनाथ टैगोर जैसे कवि ने भी पूरे उत्साह से उसके सुर में सुर मिलाते हुए घोषणा कर दी कि आयुर्वेदिक विज्ञान किसी भी पश्चिमी विज्ञान से ज्यादा अच्छा काम करता है। इसलिए स्वराजवादी इसे देशभक्ति के आधार पर प्रोत्साहित कर रहे हैं। पर, स्वराजवादियों की देशभक्ति के नाम पर इसको आगे बढ़ाने से इन रोगों से सर्वाधिक ग्रस्त इस देश में औषधि और सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए मिलने वाली राशि

में निरंतर कमी की जाती है। और एक ऐसे विज्ञान को प्रचारित किया जाता है, जो वेस्ट इंडियन नीग्रो के 'जादुई वैद्यगीरी' के ही स्तर का होता है।

लेकिन, अभी भी जनता की कल्पनाओं में मजबूत पकड़ रखने वाली प्राचीन देशी पद्धति पर सवाल नहीं उठाया जा सकता। अफसोस, जादुई वैद्यगीरी की तरह वे भी कुछ अच्छी जड़ी-बूटियों का उपयोग सिखाते हैं। यही दो चीजें उनके चिकित्सकों को अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए पर्याप्त उपचार प्रेरित करने के लिए सक्षम बनाते हैं।

किन्तु, एक समय यह था कि मि. गांधी ने व्यापक और सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी– 'अस्पताल पाप के प्रचारक संस्थान हैं। [11] यूरोपियन डॉक्टर सबसे बुरे हैं। और जिन्हें हम नीम-हकीम कहते हैं, वे उन डॉक्टरों से बेहतर हैं, जो मानवता का दिखावा करते हैं।' [12] और फिर अचानक खुद ही पेट दर्द से बीमार पड़ गए।

जब उन्हें पेट दर्द हुआ, तो वह जेल में थे। भारतीय मेडिकल सेवा का एक ब्रिटिश सर्जन उनसे मिलने आया।

सर्जन ने कहा– 'मि. गांधी! जैसा कि मुझे बताया गया है, मुझे यह बताते हुए दुःख हो रहा है कि आपको अपेंडिसाइटिस है। यदि आप मेरे मरीज होते, तो मैं तुरंत ऑपरेशन कर देता। पर, आप अपने आयुर्वेदिक चिकित्सक को बुलाना पसंद करेंगे।'

मि. गांधी को यह बात अन्यथा लगी।

सर्जन ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा– 'मुझे ऑपरेशन की बात नहीं करनी चाहिए थी। क्योंकि, अगर परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण हुआ, तो आपके सारे मित्र हमारे विरुद्ध दुर्भावनापूर्ण इरादे से ऑपरेशन करने का आरोप लगा देंगे; जबकि हमारा काम आपको ठीक करने का है।'

जवाब में मि. गांधी ने कहा– 'यदि आप ऑपरेशन करने के लिए सहमति देते हैं, तो अभी मैं अपने मित्रों को बुलाकर कह दूंगा कि आपने यह ऑपरेशन मेरे अनुरोध पर किया है।'

इस प्रकार मि. गांधी अपनी इच्छा से 'पाप के प्रचारक संस्थान' में गए और भारतीय मेडिकल सेवा के 'सबसे बुरे' ब्रिटिश सर्जन से अपना ऑपरेशन कराया। और विशेष रूप से एक अंग्रेज नर्स ने उनकी जो सेवा-सुश्रुषा की, उससे वह समझ गए कि आखिरकार यही उपयोगी व्यक्ति है।

---

[1] विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, 'दि प्रोटीन एलीमेंट इन न्यूट्रीशन', मेजर डी. मैक (आई.एम.एस.), लंदन, एडवर्ड अर्नाल्ड, 1912
[2] इंडियन मेडिकल गजट, अप्रैल 1926, पृष्ठ-196, 200
[3] इंडियन ईयर बुक, 1926, पृष्ठ-89, 97, 107, 118
[4] (ब्रिटेन में प्रचलित उंगली के आकार के सड़क किनारे लगे सूचना-पट्ट,-अनुवादक), स्टेटमेंट एक्जीबिटिंग दि मोरल एंड मैटेरियल प्रोग्रेस... ऑफ इंडिया ड्यूरिंग दि ईयर 1923-24, लंदन, 1924, पृष्ठ-211, 112
[5] मि. गांधी का यह वक्तव्य उनकी पुस्तक 'इंडियन होम रूल', गनेश एंड को., मद्रास, 1924, पृष्ठ-61, 62 से उद्धृत है।
[6] कविराज कुंजलाल बिशाग्रत्रा कृत अनुवाद, पृष्ठ-270
[7] दि मेडिकल प्रोफेशन इन इंडिया, मेजर जनरल सर पेट्रिक हेहिर, आई.एम.एस., हेनरी फ्रावडे एंड होडर एंड स्टाउटन, लंदन, 1923, पृष्ठ-104
[8] कविराज नागेन्द्र नाथ सेन गुप्त कृत 'दि आयुर्वेदिक सिस्टम ऑफ मेडिसिन', 3 वॉल्यूम्स, कलकत्ता, 1909 से उद्धृत।
[9] दि मेडिकल प्रोफेशन इन इंडिया, पृष्ठ-116
[10] एक प्राचीन अरबी चिकित्सा संप्रदाय।
[11] इंडियन होम रूल, पृष्ठ-61
[12] वही, पृष्ठ- 62

अध्याय **29**

आर्थिक लेंस के माध्यम से मनोवैज्ञानिक झलकियां

हम सब इस बात से सहमत हैं कि किसी व्यक्ति का कल्याण उसके आर्थिक आधार पर ही होता है। पिछले अध्यायों में मैंने भारत की आर्थिक स्थितियों के कुछ पहलुओं को दिखाया है। इस अध्याय में मैं भारतीयों के उस झूठे प्रचार को जोड़ रही हूं, जिसके आधार पर वे अपने रोजगार के क्षेत्रों को बर्बाद करने का प्रचार कर रहे हैं। उनके ऐसे सारे अवलोकन—व्यवहार और उद्देश्य दोनों में—पूरी तरह गैर-राजनीतिक हैं।

भारतीय नेताओं ने अपनी अवनति के जिन कारणों को बताया है, उसे वे 'आर्थिक निकासी' का लचीला नाम देते हैं। पहले ही हल किए गए मामलों की तुलना में उनके ये विचार सतही लगते हैं, जो मुख्य रूप से मुद्दे को भटकाते हैं। मैंने इस पुस्तक में कुछ मुख्य आर्थिक निकासियों का —जो मुझे दिखाई दीं—जिक्र किया है। किन्तु, भारतीय नेता इनका कोई जिक्र नहीं करते हैं। इसके बजाय वे कपास, चाय, सरकारी बांड्स के ब्याज, अनाज के निर्यात, सेना के रखरखाव और भारत में ब्रिटिश सिविल सेवकों के वेतन जैसे विषयों की बात करते हैं।

भारतीय बुद्धिजीवियों के साथ इन विषयों या किसी भी विषय पर बात करने में सतर्कता के साथ भी निराशा ही हाथ लगती है और उसके अंतर्द्वंद्व के जाल में समाप्त होने की संभावना रहती है। इसका कारण यह है कि जैसे ही सवाल पर चर्चा आगे बढ़ती है, भारतीय बुद्धिजीवी सामान्यतया उस सवाल को छोड़कर दूसरे सवाल पर चर्चा को ले जाते हैं; जहां उनके पास विषय को उलझाने की ज्यादा गुंजाइश होती है। मगर, वे सिर्फ तथ्यों को हल्का-सा छूने की बस कल्पना करेंगे और छोड़ देंगे। विचारों को स्पष्ट करने का उनका यही तरीका है।

कपास के बारे में उनका लगातार यह कहना है कि देश की कच्ची फसल एक स्वार्थ के तहत लंकाशायर के बुनकरों को रोजगार देने के लिए इंग्लैंड भेज दी जाती है। और वहां से वह कपड़े के रूप में वापस लाकर भारतीय खरीदारों को बेच दिया जाता है।

किन्तु, वास्तविक तथ्य ये हैं– (अ) भारत के कपास उत्पादन के खरीदारों की सूची में अंग्रेजी बाजार छठें स्थान पर स्थित है। [1] (ब) भारतीय कपास खराब गुणवत्ता, बेडौल, रेशे की कमी और उसे वजनी बनाने के लिए लगातार छेड़छाड़ करने के कारण अंग्रेजी वस्त्र-निर्माताओं की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है। (स) लंकाशायर के करघों के लिए सूत की आपूर्ति अमेरिका और सूडान से की जाती है। (द) यूनाइटेड किंगडम में भारतीय कपास का उपयोग मुख्य रूप से लैंप की बत्ती बनाने, पोंछा और अन्य निम्न श्रेणी के कपड़े बनाने में होता है।

भारत में कपास के आयात व्यापार की वर्तमान स्थिति को प्रभावित करने के रूप में दो विपरीत प्रभावों का उल्लेख करना होगा। एक तरफ भारतीय मिलों के सूती सामान पर लगे पुराने उत्पाद शुल्क का आज कोई अंग्रेज समर्थन नहीं करता है। यह उत्पाद शुल्क अब समाप्त हो गया है और इसके खत्म होने से स्वाभाविक रूप से आयात घटेगा और घरेलू निर्माण की बिक्री को प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरी ओर तथ्य यह है कि भारत के लोग साल-दर-साल थोड़ा ज्यादा पैसा खर्च करने के लिए कमाते हैं और उसे थोड़ा ज्यादा खर्च करने की आदत डालते हैं। वे बढ़िया कपड़े पहनना पसंद करते हैं, क्योंकि भारतीय मिलों के कपड़े ज्यादातर मोटे होते हैं। इसलिए, मुक्त बाजार के होने पर भी बढ़िया सामान में जापान की बढ़ती प्रतिस्पर्धा और मि. गांधी के हथकरघा कताई अभियान व उसके भद्दे उत्पाद के बावजूद भारत में अभी भी लंकाशायर के महीन कपड़ों को काफी पसंद किया जाता है।

सरकार इस बीच कपास की फसल की गुणवत्ता को सुधारने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ रही है। कपास के क्षेत्रों में काम करने की अधिक जानकारी रखने के लिए उत्पादकों को प्रेरित करने के प्रयास में प्रायोगिक खेतों और आदर्श केंद्रों की स्थापना की गई है। ऊंची कीमतों की संभावना के रूप में एक सक्रिय प्रचार के साथ प्रदान किए गए उन्नत उपकरण [2] तथा अच्छे बीज [3] उपलब्ध कराए गए हैं और उन्हें बेहतर बनाया गया है।

एक अमेरिकन अधिकारी ने कहा है– 'भारत सचमुच कपास-उत्पादन में संयुक्त राज्य के मुकाबले एक बेहतर देश है। किन्तु, लोग मेहनत नहीं करते और स्वराज के नेता यह कहकर सुधरे हुए उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं कि भारत को कपास का उत्पादन बढ़ाकर इंग्लैंड की मदद नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका उपयोग लंकाशायर करेगा।'

तथ्यों की परवाह किए बिना या अनजान होने पर प्रमुख भारतीय नेताओं ने मुझे बार-बार यही बात कही है– 'इंग्लैंड हमारा कच्चा कपास अपने बेरोजगारों को काम देने के लिए ले जाता है और कपड़े के रूप में उसे वापस लाकर हम पर थोप देता है। इसलिए भारत का सारा लाभ लूट लिया जाता है। इस तरह की 'निकासी' को कोई भी देश सहन नहीं कर सकता है।'

मैंने पूछा– 'किन्तु अमेरिका भी कपास पैदा करता है, जिसका कुछ हिस्सा इंग्लैंड खरीदता है। उससे कपड़ा बनाकर वह उसे पुन: अमेरिका को बेच देता है। हम खुशी-खुशी उसे अच्छे खरीदारों को बेच देते हैं। हमारी पसंद की चीज हमें जहां भी मिलती है, उसे हम खरीद लेते हैं। इसके अलावा हम भी कुछ कपड़ा बनाते हैं। फिर आपके और अमेरिका के मामले में अंतर क्या है?'

एक भारतीय अर्थशास्त्री ने तुरंत जवाब दिया– 'लेकिन, चाय के सवाल पर विचार करें। हम चाय का भारी उत्पादन करते हैं और लगभग सारी चाय भारत के बाहर चली जाती है। क्या यह भारत को कमजोर करने वाली दूसरी निकासी नहीं है?'

'क्या आप अपनी चाय बेचते हैं या ऐसे ही दान कर देते हैं?' –मैंने पूछा।

'आह! पर यह चाय तो चली गई न।' –उसने जवाब दिया।

देश में तीसरी निकासी या पनाला—जैसा कि ऊपर नाम दिया गया है—सरकार के पब्लिक यूटीलिटी बांड्स के ब्याज को बताया जाता है, जिसका भुगतान लंदन को किया जाता है। इस आरोप की सच्चाई को संक्षेप में रेलवे के ही एक उदाहरण से दिखाया जा सकता है।

भारत में पहली रेलवे लाइन 1853 में पूरी हुई थी। मार्च 1924 के अंत में भारत के पास खुली प्रणाली की 38,039 मील लंबी रेलवे लाइन थी। [4] और 1925 में इसने प्रति मील के हिसाब से अमेरिका की तुलना में साढ़े चार गुना ज्यादा यात्रियों की ढुलाई की।

अब इस मामले में हम अमेरिकियों और भारतीयों के दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए भारतीय अर्थशास्त्र पर कुछ और प्रकाश डालते हैं। जब अमेरिका ने अपनी रेलवे का निर्माण किया, तो उस वक्त उसके पास बिना कर्ज लिए उस काम को पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। परिणामत: उसने यूरोप से—अधिकतर ग्रेट ब्रिटेन से—उधार लिया। जो उसकी रेलवे प्रणाली के निर्माण का लगभग आधा धन था। देश में इस

प्रणाली के खुलने से होने वाले फायदों के मद्देनजर इसकी लागत कुछ भी नहीं थी। ये कीमतें सामान्य कार्य प्रणाली में लगभग 1914 तक बनी रहीं थीं। जब भारत ने अपनी रेलवे लाइन का निर्माण किया, वह तब भी घरेलू स्रोतों से धन हासिल करने में विफल हो गया था। फिर भी उसके मामले में धन की कमी कारण नहीं था; बल्कि कारण था—भारतीय पूंजीपति भारी ब्याज की दर पर उधार दे रहे थे। परिणामत: उसने लंदन के सस्ते बाजार से उधार लिया। व्यावहारिक रूप से उसने उस सारे ऋण पर, जिससे उसने अपनी रेलवे लाइन का निर्माण किया था, 2.5 से 5 प्रतिशत यानी औसतन 3.5 प्रतिशत की ब्याज दर से भुगतान किया था; जो दुनिया की सबसे कम ब्याज दर मानी जाती है।

यही इन ऋणों पर वार्षिक ब्याज का भुगतान है, जिसे भारतीय आलोचक देश के संसाधनों की एक असहनीय 'निकासी' का नाम देते हैं। लेकिन ब्याज, ऋण-निधि और वार्षिक करों का भुगतान करने के बाद भारत सरकार को 1924-25 में रेलवे से होने वाला शुद्ध मुनाफा $58,736,000 था। [5]

रेलवे पर मि. गांधी के विचार, उनके ब्रिटिश-विरोधी प्रचार की विशेषता होने के कारण यहां देखे जा सकते हैं– [6]

> 'अच्छाई कछुआ चाल से चलती है। इसका रेलवे से कोई संबंध नहीं हो सकता है। जो भलाई करना चाहते हैं, वे जल्दबाजी नहीं करते हैं। पर बुराई के पंख होते हैं। इसलिए, रेलवे बुराई फैलाने की ही एजेंसी हो सकता है। रेलवे अकाल फैलाता है कि नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है। पर, यह बात विवाद से परे है कि वे बुराई फैलाता हैं। ईश्वर व्यक्ति के शरीर को ऐसा बनाता है कि उसकी सचल आकांक्षाओं को सीमा में बांध दिया जाता है। पर मनुष्य अपनी सीमा को लांघने के लिए उपायों की तलाश में तुरंत तत्पर हो गया ...रेलवे सर्वाधिक खतरनाक संस्था है।'

फिर भी खुद मि. गांधी ने देश के अपने बहुत-से राजनीतिक दौरों में इस खतरनाक संस्था में यात्रा करने की मिसाल पेश की है। और इस विषय पर अपने संदेह के बावजूद रेल मार्गों के अस्तित्व का एक प्रभाव यह रहा है कि इसने भारत में अकाल के प्राणघातक आतंक का सफाया कर दिया है। जबकि पुराने दिनों में भारत पर यह खतरा हमेशा लटका रहता था और इंतजार होता था सिर्फ एक मानसून के विफल होने का। पर, अब इस कारण से लोगों की मौत नहीं होती। क्योंकि, सरकार द्वारा संचालित अकाल योजना लोगों को परिवहन के माध्यम से इन दो वजहों से चल पा रही है– (अ) लोगों को अकाल-क्षेत्रों से निकालकर उन क्षेत्रों में ले जाया जाता है, जहां उनकी देखभाल हो सकती है और (ब) जहां भोजन और चारा दोनों बहुतायत में मौजूद हो। क्योंकि, जीवन बचाने के लिए दोनों की ही आवश्यकता है।

यही नहीं, रेलमार्गों के अलावा ब्रिटिश ने उन मार्गों पर भी अच्छी सड़कों का निर्माण करा दिया है और मोटर यातायात को तेज कर दिया है; जहां कभी सिर्फ बैल गाड़ियां ही धूल उड़ाती और रेंगती हुई चलती थीं।

एक वरिष्ठ जिला उपायुक्त ने कहा– 'मैं हर बार अकाल, उबाऊ काम और भारी मौतों के बारे में सोचता हूं। भगवान हेनरी फोर्ड को आशीर्वाद दें।'

रेलवे के व्यावहारिक प्रयोगों के बारे में बताने की शायद ही अब कोई जरूरत है। चाहे वह कीमतों की बराबरी का मामला हो, बाजार खोलने का मामला हो या फिर व्यापार के विकास का मामला हो; जो व्यक्तिगत संपन्नता लाने के साथ-साथ सरकार के राजस्व में भी वृद्धि करता है।

अब चौथी बात पर आते हैं। मि. गांधी और अन्य भारतीय आलोचकों का कहना है कि देश के जिन क्षेत्रों से अनाज का निर्यात किया जाता है, वहां अनेक इलाकों में भोजन की कमी है। इसलिए वह उसे प्रशासन की बीमार सोच, लालच या कुप्रबंध की असहनीय 'निकासी' कहते हैं। हालांकि, वह अपने इस प्रकार के विचार से उसकी नंगी हड्डियों की कहानी पर परदा डाल देते हैं।

आज कोई व्यक्ति वह अनाज नहीं बेचता है, जिसकी उसे जरूरत होती है। यदि वह अनाज बेचता है, तो कुछ और प्राप्त करने के लिए बेचता है; जो उसके लिए ज्यादा आवश्यक या वांछनीय है। सरकार ने पिछले 30 वर्षों में भरपूर अनाज पैदा करने वाले बड़े इलाके बनाए हैं, जहां पहले सिर्फ रेगिस्तान ही अस्तित्व में था। आज लाखों भारतीय उन जमीनों पर अपनी और अपने इलाकों में रहने वाले लोगों की खपत से कहीं ज्यादा अनाज पैदा करने वाले रहे हैं। सड़कें, रेल-मार्ग और हवाई मार्ग दुनिया भर के बाजारों को उनके दरवाजों पर ले आए हैं। और वे सबसे ज्यादा बोली लगाने वालों को अनाज बेचते हैं। अगर सरकार उनकी उपज को घर पर रखने के लिए एक निर्यात शुल्क लगाती है, तो कितने शर्म की बात है कि इससे वह तानाशाह हो गई। और उस पर यह आरोप लगा दिया गया कि उसकी ईर्ष्यापूर्ण पकड़ ने उसकी कड़ी मेहनत के फल को श्रम से वंचित कर दिया है। अनाज भारत में विश्व-व्यापार की धाराओं के पालन में हर जगह आता-जाता है।

हमारा पांचवां बिंदु सेना पर होने वाला खर्च है, जिसे वे हमेशा देश के राजस्व के अनुपात में भारी भरकम खर्च होने का आरोप लगाते हैं। राजनेता कहते हैं कि सेना बहुत बड़ी है।

'क्या यह आपकी सुरक्षा और शांति बनाए रखने की दिशा में काम करने के लिए बहुत बड़ी है?'

यह पूछने पर उनका सामान्य जवाब होता है– 'मुझे नहीं पता। मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया है। लेकिन, इस पर भारत के राजस्व का एक अपमानजनक प्रतिशत खर्च होता है।'

इस विषय पर केवल भारतीय केंद्रीय बजट को ही ध्यान में रखकर विचार व्यक्त करने की परंपरा रही है, जिसमें रक्षा बजट कुल बजट का लगभग 59 प्रतिशत होता है। किन्तु, यदि प्रांतीय बजट में रक्षा वस्तुओं को भी—जिन्हें उसमें पूरी तरह मुक्त रखा जाता है—शामिल कर लिया जाए, तो पता चलेगा कि रक्षा के लिए नियत सरकारी राजस्व का अनुपात लगभग 30 प्रतिशत ही है। [7]

भारतीय लोगों पर उनके देश की रक्षा के लिए लगने वाला कर प्रति व्यक्ति $.58 है। [8]

ग्रेट ब्रिटेन के लोग इस मद में प्रति व्यक्ति $13 का कर भुगतान करते हैं और अमेरिका के लोग प्रति व्यक्ति $5 का कर देते हैं। जबकि जापान के लोगों को भारत के मुकाबले रक्षा के लिए छह गुना ज्यादा कर देना पड़ता है, जिसका अर्थ है प्रति व्यक्ति $3.50 से अधिक कर। [9]

भारत के कब्जे में 1400 मील लंबी खतरनाक सीमा है, जहां से हमेशा उसे सक्रिय रूप से धमकी मिली है और पिछली शताब्दी में तीन बार लड़ाई भी हो चुकी है। उसकी एक विशाल और अत्यंत कमजोर तट रेखा भी है, जिसकी ब्रिटिश बेड़े के द्वारा बिना अतिरिक्त बजट लिए रक्षा की जाती है। और अंत में उसकी आबादी है, जिसमें आपस में ही बार-बार घातक विस्फोट होते रहते हैं। इससे उसे खुद भी सुरक्षा की जरूरत है। पर, कर कम हैं; क्योंकि लोग गरीब हैं। इसलिए, राजस्व भी कम आता है; क्योंकि कर हल्के हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा का व्यय इसलिए बड़ा दिखता है, क्योंकि राजस्व कम आता है। सरकार का प्रधान कर्तव्य शांति-व्यवस्था को कायम रखना है। इस कर्तव्य के लिए कोई भी सरकार वही खर्च करेगी, जो जरूरी है। अगर कुल राजस्व कम होगा, तो अन्य कार्यों के लिए धन भी कम बचेगा। अत: स्पष्ट समाधान राजस्व बढ़ाना ही है। [10]

किन्तु, भारतीय तर्क में बड़ी कमजोरी है कि सेना की लागत से भारत के धन को भारत के बाहर ले जाया जाता है; जो इस तथ्य में निहित है कि वास्तव में सेना का सारा वेतन भारत में रहता है। सैनिकों का बड़ा दल चूंकि भारतीय है, इसलिए उसका भुगतान स्वाभाविक रूप से यहीं होता है। लेकिन, ब्रिटिश सैनिकों के वेतन का जो हिस्सा उनके घर ब्रिटेन जाता है, वह शायद ही इतना बड़ा है कि उस पर शब्द बर्बाद किए जाएं। भारत में ब्रिटिश सेना के अधिकारी वास्तव में अपने निजी साधनों से रह रहे हैं, जो उनके वेतन से अधिक है। उपकरण और सामान, जो भी भारतीय कंपनियां उपयुक्त गुणवत्ता के साथ उचित प्रतिस्पर्धी मूल्य पर उपलब्ध कराती हैं, उनको आदेश देकर भारत में ही खरीदा जाता है। अन्यथा, उन्हें लंदन में तैनात भारत के उच्च आयुक्त—जो खुद एक भारतीय है—के आदेश पर विदेश से खरीदा जाता है। किसी भी विभाग में सामान की सरकारी खरीद के इस मामले में विभाग में मौजूद वास्तविक रिकॉर्ड और राजनेताओं के बयानों के बीच लगातार असमानता मौजूद रहती है; जिसे मैंने खुद देखा है। यह इसलिए होता है, क्योंकि वे तथ्यों को जानने की बजाय अपनी सुविधा से आरोप गढ़ने के अभ्यस्त हैं।

देश के संसाधनों पर छठी विशेष 'निकासी' भारतीय सिविल सेवा के ब्रिटिश सदस्यों को होने वाला भुगतान है। यहां प्रासंगिक तथ्य यह है कि शुरुआत में नौकरी में अच्छे लोगों को लेने के लिए अच्छे वेतन की पेशकश करनी आवश्यक थी। और यह कि पिछली तिमाही में कीमतों में बढ़ोतरी होने के साथ उनके वेतन में कोई तुलनात्मक योग्य वृद्धि नहीं हुई थी। आज भारत किसी भी विदेशी व्यक्ति के रहने के लिहाज से एक मंहगा देश है। यह गोरे आदमी का देश नहीं है। क्योंकि, यह उसे जीने तो देता है; पर उससे उसका स्वास्थ्य छीन लेता है। वह उसकी सेवा के लिए अपनी प्रतिबद्धता में लंबे समय तक घर-परिवार से अपने सभी संपर्कों और विशेषाधिकारों को छोड़ देता है। यदि वह शादी करता है, तो उसे शुरू में ही अपने बच्चों से अलग हो जाना पड़ता है और उसके बच्चे तीन सप्ताह की लंबी यात्रा तक अपने माता-पिता से दूर रहते हैं। जब वह 25 से 35 वर्ष की सक्रिय सेवा के बाद सेवा-निवृत्त होता है, तो उसकी 1,000 पाउण्ड की वार्षिक पेंशन में से 25 प्रतिशत की टैक्स कटौती भी होती है। और अंत में जो न्यूनतम वेतन सबको दिया जाता है, उनमें केवल भारतीयों को ही कुछ उच्चतम अधिकारियों का वेतन ज्यादा लगता है। हालांकि, जिस अलग स्तर का जीवन वे जीते हैं; उसे कुछ ही गोरे लोग स्वीकार करेंगे। भारत में शादीशुदा ब्रिटिश सिविल अधिकारी, जिसे यदि अपने बच्चों को पढ़ाना-लिखाना है और उसके पास वेतन के अलावा कोई निजी संसाधन खर्च करने के लिए नहीं है; तो उसे पूरी तरह चौकस मितव्ययिता के साथ ही खर्च करना होता है। और वह बुरे दिनों के लिए थोड़ा ही बचा सकता है या कुछ भी नहीं।

इसके बावजूद बहुत-से भारतीयों की तरह ही सर एम. विश्वेश्वरैया [11] कहते हैं– 'भारत के दुःखी लोगों के पास खाने के लिए भोजन नहीं है और पहनने के लिए कपड़े नहीं हैं, फिर भी वे दुनिया के सबसे मंहगे प्रशासन को समर्थन देते हैं।'

कर-तालिका पर नजर डालने के बाद इस बयान की जांच करना समय नष्ट करना है। इतने कम संसाधनों से दुनिया के सबसे मंहगे प्रशासन को नहीं चलाया जा सकता। यह तालिका भू-राजस्व को शामिल करते हुए ठीक तरह से किराए के रूप में नहीं, बल्कि कराधान के रूप में तैयार की गई है। जिसके अनुसार, 1923-24 में ब्रिटिश भारत में रहने वाले लोगों के द्वारा दिया गया प्रति व्यक्ति कुल कर साढ़े पांच रुपए है; [12] जो उस समय की विनिमय दर से संयुक्त राज्य की मुद्रा में $1.82 बनता है। जबकि फिलीपींस में—जैसा कि इन्सुलर ऑडिटर की वार्षिक रिपोर्ट में दिखाया गया है—1923 में प्रति व्यक्ति कराधान $3.50 था।

भारतीय लोगों की सामान्य गरीबी की तुलना में यह धनराशि बड़ी लग सकती है। पर, सरकार की लागत को कमजोर करने वाले ये कर अभी भी एक गरीब के लिए ज्यादा हैं। किन्तु, आलोचक कम कराधान को भारत की गरीबी का कारण नहीं मानते हैं; जो प्रशासन को काम करने के साधनों से वंचित करता है।

अब आइए, तर्कों के मामलों को छोड़कर भारत के महत्वपूर्ण संसाधनों की होने वाली बर्बादी को भी देखें। पिछले पृष्ठों में प्रमुख आर्थिक निकासियों को दिखाया जा चुका है। परंतु, इनमें अनेक विषयों को, जैसे- जातीय विवाह का खर्च, सूदखोरी, जमाखोरी और भिक्षावृत्ति को बिना छुए ही छोड़ दिया गया है।

जाति के कानून संभावित विवाहों की पहुंच को सीमित करते हैं। कभी-कभी आधा दर्जन परिवारों की सीमा तक भी। इसलिए किसी व्यक्ति को भले ही इस बात का भय सता रहा हो कि वह पुत्रहीन ही रह जाएगा, लेकिन वह तब तक इंतजार करेगा, जब तक उसकी जाति में वह लड़की पैदा न हो जाए, जिससे वह विवाह कर सके। भले ही इस इंतजार की प्रक्रिया में वह बूढ़ा क्यों न हो जाए। [13] इस तरह अपनी जाति में विवाह योग्य लड़की को पाने के लिए स्वयं को बर्बाद कर सकता है। या फिर यह सही जाति के पतियों के लिए इस तरह का संघर्ष है कि पिता अपने अहम को त्यागने के बजाय अपनी लड़की को अविवाहित छोड़कर अपनी बेटियों के लिए योग्य पतियों को सुनिश्चित करने के लिए अपनी तड़क-भड़क को महत्व देते हैं।

पिछले वर्षों में बंगाल में लड़कियों की आत्म-हत्याओं के अनेक मामले प्रकाश में आए थे। इन लड़कियों ने दहेज के भारी बोझ से अपने पिताओं को बचाने के लिए जवान होते ही आत्महत्याएं कर ली थीं। [14] पर दिलचस्प है कि बंगाल के युवकों ने उनके इस कदम की सामूहिक तारीफ की, जिसने और भी आत्महत्याओं को प्रेरित किया। ऐसी घटनाओं ने पिता के आर्थिक बोझ को जरा भी प्रभावित नहीं किया। यद्यपि जो व्यक्ति समृद्ध होता है और ज्यादा धन खर्च करता है, उसके परिवार में विवाह अभी भी उसे बर्बादी की ओर खींचता है। क्योंकि, प्रतिष्ठा और प्रथा हमेशा उसे अपने साधनों से आगे बढ़कर खर्च करने की मांग करती हैं।

विवाह और अंतिम संस्कार के खर्च, मुकदमेबाजी के शौक, फिजूलखर्ची और पैदावार की कमी ये वे प्रमुख मार्ग हैं; जो भारतीयों को कर्ज में डुबो देते हैं। भारत का 'बनिया' और फिलीपींस का 'कुदीसक' (सूदखोर) एक ही व्यक्ति हैं। और ठीक जैसा कि फिलीपींस में होता है, आम भारतीय के पास भी थोड़ा पैसा होता है; भले ही वह जाति से और बोलचाल में 'बनिया' न हो। पर, यदि वह उधार देने का मन बनाए, तो अपने पड़ोसियों को 33 प्रतिशत पर उधार देगा। लेकिन, सरकार को रेलवे लाइन बनाने के लिए 3.5 प्रतिशत ब्याज की दर पर ऋण की दरकार है, जो वह नहीं देगा। (वह मानता है–) ऐसा लंदन के मूर्ख लोगों को करने दो।

'बनिया' वह व्यक्ति है, जो पहले ही अपने क्षेत्र में सभी अनाजों की कम पैदावार को जान लेता है। अत: बुआई के समय अपने पड़ोसियों को 200 प्रतिशत लाभ पर अनाज का बीज उधार बेचता है और जमानत के तौर पर फसल को अपने नाम करा लेता है।

एक बार जो बनिए के कर्ज में फंसा, तो कुछ ही उससे बाहर निकलते हैं। कपड़ा, बैल और जरूरत की सारी चीजें उसी पुराने चालाक मकड़े (बनिये) से उधार में खरीदी जाती हैं। साल-दर-साल गुजरते जाते हैं और चक्रवृद्धि ब्याज उसी पुराने तरीके से ऊपर बढ़ता जाता है; जिसके बोझ के तले भावी तीसरी और चौथी पीढ़ियां लंगड़ाती चलती हैं।

काल्वर्ट लिखते हैं– 'यह धारणा कि कर्जा गरीबी के कारण होता है, अस्वीकार्य है। कर्जा उधारी के कारण होता है और उधारी संपन्नता पर निर्भर करती है; गरीबी पर नहीं।' भारत में उधारी अंग्रेजों ने शुरू की और उसने संपत्ति की सुरक्षा से यह उपलब्धि हासिल की, जिसमें सार्वजनिक कार्यों का भी योगदान था; जो उत्पादन बढ़ाने के साथ-साथ जमीन की कीमत भी बढ़ाता है। इसलिए, बनिया अपने पूरे स्वरूप में ब्रिटिश शासन का सह-उत्पाद है। पंजाब, जो कि धनी प्रांतों में शुमार है, वहां इनकी संख्या 40,000 है। और लोगों से ये जो वार्षिक सूद वसूलते हैं; वह उस राशि का लगभग तीन गुना होता है, जो ये लोग सरकार को हर साल चुकाते हैं। [15]

सूदखोर हर जगह—खुलकर या छिपकर—लोगों की शिक्षा का विरोध करता है। क्योंकि, वह जानता है कि अगर आदमी पढ़ लेगा, तो वह कागज पर अंगूठा नहीं लगाएगा; जिसके द्वारा बनिया उसे गुलाम बना लेता है। क्योंकि, वह पढ़कर जान जाएगा कि उसका कर्जा कितना है और कब तक खत्म होगा। इस पेशे से जुड़े दो भारतीय बनियों ने मुझे बताया– 'बनिया इस विदेशी म्लेच्छ सरकार से नफरत करता है। क्योंकि, उसने एक सहकारी ऋण प्रणाली शुरू कर दी है, जिसे ब्रिटेन चलाता है। यह प्रणाली जहां-जहां है, वहां वह हमारे पुराने अच्छे बैंकिंग कारोबार को बर्बाद कर रही है। यह सरकार इसी से संतुष्ट नहीं हुई, बल्कि अब वह लोगों के दिमाग को बदलने के लिए रात्रि-स्कूलों और प्रौढ़ शिक्षा की योजनाओं को भी बढ़ावा दे रही है।'

बनिया देशभर में बहुत ताकतवर है और स्वराजवादी पार्टी में एक मजबूत प्रभावशाली तत्त्व के रूप में रहता है; जो उसे श्रमिक हितों और मुद्रा सुधारों का शत्रु बनाने के लिए काम करता है।

तीसरी वास्तविक निकासी समृद्धि पर है, जो शायद ही कभी सुनी गई और जो न केवल भारत को प्रभावित करती है; बल्कि बाकी दुनिया को भी ...और वह है—सोने-चांदी के प्रति उसका लगाव। रोमन साम्राज्य की शुरुआत से ही पश्चिमी अर्थशास्त्रियों को अपने उत्पाद के भुगतान के लिए विदेशी वस्तुओं की तुलना में भारत की कीमती धातुओं का भुगतान करने में परेशानी हुई है। भारत ने इन धातुओं को हमेशा लील लिया है। [16]

1889 में यह अनुमान लगाया गया था कि भारत ने वाणिज्यिक प्रयोजन के लिए पूरी तरह बेकार स्वर्ण धातु के भण्डार को कैद करके रखा था, जिसके मूल्य में प्रतिवर्ष लगभग तीन मिलियन स्टर्लिंग ($ 1,40,00,000) की दर से—270 मिलियन पाउण्ड्स स्टर्लिंग ($ 1,31,20,00,000) से कम—वृद्धि हुई। [17] यह खजाना सबसे गरीब मजदूर से लेकर सबसे प्रतिष्ठित राजकुमार तक, सब तरह के लोगों के पास है।

1927 में बंबई के अमेरिकी व्यापार आयुक्त मि. डी.सी. ब्लिस ने भारत में खजाने के बारे में लिखा था– [18]

> 'विशाल भण्डार जमा है...। यह अनुमानतः पांच अरब डॉलर से ज्यादा है। लेकिन, वे उन कीमती धातुओं को अनुत्पादक रूप में जबरदस्ती जमा करके रखे हुए हैं। अगर वे इन धातुओं की उत्पादक कामों में उपयोग करें या दुनिया के मुद्रा-बाजारों में उधार दें; तो वे भारत को दुनिया का एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए काफी होंगी। भारतीयों के पास पुश्तैनी धन तो है; पर इस रूप में है कि वह उनके धारकों को कुछ भी लाभ नहीं देता है।'

प्राचीन काल से इसे गलत माना जाता है कि कोई उत्तराधिकारी अपने पिता के अनमोल खजाने को निकाले। उसके लिए यही उचित होता है कि वह अपना स्वयं का खजाना बनाए। हैदराबाद के निजाम ने अपने तहखानों में अपार मूल्य के हीरे-जवाहरात इकट्ठे कर रखे थे। वर्तमान नवाब भी हीरे-जवाहरात के शौकीन समझे जाते हैं और उनके खुद के भण्डार की कीमत 150 से 200 मिलियन डॉलर के बीच बताई जाती है। इसी तरह हर किसान अपनी जमीन में गुप्त रूप से चांदी गाड़कर रखता है। और उसे सुरक्षित रखने के लिए अपनी औरतों की गर्दन, कलाई और एड़ियों पर भार डाल देता है। इस प्रकार भारत विश्व के समग्र स्वर्ण-उत्पादन का 40 प्रतिशत और चांदी-उत्पादन का 30 प्रतिशत लील जाता है। इस सोने से न कोई सिक्का ढलता है और न यह मुद्रा-विनिमय में काम आता है। बल्कि मि. ब्लिस कहते हैं– 'चांदी का समस्त उपयोग आभूषण के रूप में होता है।' वह कहते हैं– 'इसमें कोई शक नहीं कि लोग सोने-चांदी का विशाल भंडार धरती में दफन करके भूल जाते हैं। और आमतौर पर आदमी के पास सिक्कों का गुप्त भण्डार होते हुए भी वह लगातार बनिए से कर्ज लेता रहता है और कर्ज से दबा रहता है। यह प्रथा बुरे दिनों की तैयारी करने और बैंकिग की किसी भी योजना में लोगों का विश्वास न होने के कारण बनी हुई हैं।'

भारत में ध्यान केंद्रित करने के लिए दुनिया की सोने-चांदी की प्रवृत्ति और उसे अमल से गायब करने की अपनी ही कहानी है। एक तरफ अवश्य ही एक गरीब देश इस तरह धन गाड़कर समृद्ध नहीं हो सकता था। दूसरी तरफ कोई भी देश जो अपने धन को जमीन में गाड़कर उसकी कब्र बनाकर नहीं सोता है, वास्तव में समृद्ध हो सकता है।

अब जमीन की लूट के माध्यम से की गई 'निकासी' पर आते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, भारत पहले से ही एक कृषि देश है। किन्तु, उसने अपनी भूमि को कभी भी उपजाऊ नहीं बनाया है। वह इससे लगातार हासिल तो करता है, पर उसे लौटाता कुछ नहीं है। और फिर भी अपनी फसलों के खराब होने पर रोता है। उसके पास जलाऊ लकड़ी होती है; पर ईंधन के लिए उसका प्रयोग कम करता है और गाय के गोबर को ज्यादा जलाता है। बहुसंख्यक हिंदू धार्मिक कारणों से मृत पशु के अवशेषों का निपटान करने के लिए अस्थियों का प्रयोग खाद के लिए नहीं करते हैं; जबकि उनके पास उसका काफी भण्डार होता है। इसके बजाय वे उनको विदेश में निर्यात के लिए बेच देंगे। वे लकड़ी के छोटे हल के साथ खेती करते हैं, जो मुश्किल से जमीन की सतह को खरोंच पाता है।

मान लीजिए कि उन्होंने अभी भी गड़े हुए धन का सम्मान करते हुए अपनी कुछ निष्क्रिय नकदी या ब्याज का इस्तेमाल किया, तो वे उसे उर्वरक और मशीनरी खरीदने के काम में लाएंगे। भले ही इस एक कदम से उनके दूरगामी लाभ में कोई असर न पड़े, लेकिन उससे उनकी सामान्य जीवन शैली में एक समृद्धि आ सकती है।

उत्तराधिकार के प्राचीन नियमों के अंतर्गत संपत्ति के विभाजन में किसी व्यक्ति की जमीन इतने बेतुके आकार और व्यापक रूप से छितरे हुए टुकड़ों में विभाजित हो जाती है कि उस पर उपयोगी खेती असंभव है और यह लोगों के कल्याण में एक दूसरी बड़ी बाधा है। इस विषय का अध्ययन करने वालों को पंजाब के बारे में काल्वर्ट की किताब 'वेल्थ एंड वेलफेयर ऑफ दि पंजाब' में अच्छा वर्णन मिलेगा, जहां महिलाओं के काम की कमी को भी संभावित राजस्व का एक बड़ा प्रतिबंध माना जाता है। [19]

और यहां भी—हालांकि, दोहराव की कीमत पर—अपने 70 लाख गैर-लाभकारी मवेशियों के रखरखाव के माध्यम से देश को हुए भारी नुकसान को याद कीजिए; जो धार्मिक कारणों से होता है। लेकिन, शायद ही देश के लाभ में पशुओं की खालों और हड्डियों का कोई योगदान हो।

हमने भारत की संपत्ति पर अपने प्रारूप में सूची का अंतिम विषय भिक्षावृत्ति को रखा है।

ब्राह्मण-संहिता सक्रिय जीवन से संन्यास लेने और जीवन को ध्यान में लगाने का उपदेश देती है तथा भिक्षावृत्ति को मनुष्य की सांसारिक वृत्ति का अंतिम पड़ाव बताती है। उसी समय वह यह शिक्षा देती है कि जो व्यक्ति भिखारी को दान देता है, वह वास्तव में उस भिखारी का ऋणी होता है और प्राप्तकर्ता दानदाता को पुण्य कमाने का अमूल्य अवसर प्रदान करता है। इसलिए, भिखारी न शर्म महसूस करता है और न आभार। [20]

02 फरवरी 1926 को सर हरिसिंह गौड़ ने भारतीय विधानसभा में कहा था– [21]

> 'पिछली जनगणना रिपोर्ट में भिखारियों, आवारा घुमंतुओं, चुड़ैलों और जादूगरों के तौर पर 58 लाख लोगों की संख्या दर्ज मिलती है। लेकिन, असल में यह संख्या इससे भी अधिक है। क्योंकि, इसमें भिक्षा पर जीने वाले संतों और फकीरों को भी शामिल करना होगा।'

1921 का सरकारी आकलन बताता है कि उस समय भिक्षा पर जीने वाले संतों और फकीरों की संख्या 14,52,174 थी।

बार-बार ये विशेषाधिकार प्राप्त साधु लोग एक बार में सैकड़ों के समूह में इकट्ठा होते हैं और पूरे देश में घूमते हैं। वे जहां भी जाते हैं, लोग उन्हें भोजन कराते हैं। प्रत्येक साधु का शिष्य अपने गुरु के भिक्षा-पात्र को लेकर उसके पीछे-पीछे चलता है और शायद ही उसे कहीं इनकार किया जाता हो। देश में कोई भी उनको अपने डेरे के साथ घूमता हुआ देख सकता है।

जब कोई उनको सड़क पर मिलता है, तो सिवाय उनके बदन पर राख के कुछ नहीं होता है। वे करीब-करीब या पूरे नंगे होते हैं। उनके सिर पर अदरकी रंग की विशाल बालों की जटाएं होती हैं और लगातार नशा करते रहने से उनकी आंखें हमेशा लाल रहती हैं। वे बड़े-बड़े मेलों में बड़ी संख्या में जाते हैं। एक दर्शक ने मुझे बताया कि अभी हाल में मद्रास के 12 साला मेले (कुम्भ) में शहर से ढाई मील दूर स्नान-स्थल तक सड़क के दोनों तरफ ये धार्मिक भिखारी कंधे से कंधा मिलाकर लाइन से बैठे हुए थे और हरेक के सामने एक चेला बैठा हुआ था; जो लोगों से अपने गुरु के महत्व का बखान करते हुए दान करने को कह रहा था।

अब हम एक और गूढ़ प्रश्न पर आते हैं, जो लोगों की पिछले युगों की स्थिति की तुलना में उनके वर्तमान आर्थिक स्तर से संबंधित है। मि. गांधी और उनके अनुयायी यह मानते हैं कि भारत के लोग ब्रिटिश सरकार के कारण तेजी से और भी गरीब तथा दयनीय होते जा रहे हैं।

सही तथ्यों का अनुमान लगाना सचमुच मुश्किल है। लोगों में अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठने या उसे बदलने की आकांक्षा भी कम है। उनके दिमागों में जो भरा हुआ है, उससे वे बाहर निकलना नहीं चाहते। वे अपनी कच्ची झोपड़ियों के साथ ही संतुष्ट हैं। उन्हें खिड़कियां और चिमनियां दी गईं, पर उन्होंने उनको बंद कर दिया। उन्हें खुली जगह दी गई, पर वे कोठरी में ही जमे रहे। घर की मरम्मत करने की बजाय वे उसे बारिश में नष्ट होने देते हैं। जब वह ढह जाता है, तो नया बना लेते हैं। वे ज्यादा भोजन पाने के लिए ज्यादा मेहनत करने की बजाय छुट्टी करके आराम करने का पुराना तरीका अपनाते हैं और उस दिन ज्यादा भोजन करना पसंद करते हैं। [22]

लेकिन, उनकी सुरक्षा का दायरा काफी अधिक है और आपदा को रोकने की शक्ति में भी वृद्धि हुई है। और तमाम आरोपों के बावजूद उनकी आय के साधनों में हर समय बढ़ोतरी ही हो रही है।

भौतिक विकास की जागृति की इच्छा के रूप में कोई भी इस तरह के साधनों को व्यक्तिगत जीवन में अपनाते हुए देख सकता है। [23] सवाल यह है कि इस तरह की इच्छा अच्छी है या बुरी? यही मुख्य रूप से पूर्वी और पश्चिमी विचार एवं कार्य के बीच के मुख्य अंतर को रेखांकित करता है।

अब इन कारणों को चिह्नित करते समय किसी को भी यह याद रखना चाहिए कि भारत की धरती 50 साल पहले की तुलना में 5,40,00,000 से अधिक मानव प्राणियों का दबाव झेलती है, जिसमें 20 प्रतिशत की अतिरिक्त वृद्धि भी हुई है। [24]

पुन: यह युद्धों और उपद्रवों से और अकाल से होने वाली मौतों से मुक्ति, महामारियों की जांच करके उनका कारण समझने और खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने का परिणाम है– ये सारे ही तत्त्व एक स्थापित सरकार की अपरिहार्य विशेषताओं के रूप में सदैव प्रभाव छोड़ते हैं। और मानवता की जो विशाल संभावनाएं यह प्रकट करता है, वह दशकों बाद भी आश्चर्यजनक है। भारत आज एक ऐसी धुरी पर खड़ा है; जहां भ्रूणहत्या, सती प्रथा और कई तरह के ऐसे ही घरेलू रीति-रिवाज आज भले ही अपने पुराने स्वरूप में प्रचलित न हों; लेकिन यहां पर शादियां आज भी कम उम्र में होती हैं। और बेहिसाब बच्चे पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में बीमारी और सिर्फ बीमारी ही जनसंख्या को नियंत्रित करती है। [25]

---

[1] देखिए, परिशिष्ट-3 क
[2] मूलरूप से अमेरिका से आयात, परंतु सरकारी कृषि केंद्रों में भारतीय मजदूरों द्वारा निर्मित।
[3] अमेरिकन स्टॉक से।
[4] स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट, पृष्ठ-413, परिशिष्ट- 3 ब भी देखें।
[5] स्टेसमैन'स ईयर बुक, 1926, पृष्ठ-139
[6] इंडियन होम रूल, पृष्ठ-45 से 48
[7] डिफेंस ऑफ इंडिया, 'ऑर्थर विन्सेंट', हम्फ्री मिल्फोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922, पृष्ठ-94
[8] इंडिया इन, 1924-25, पृष्ठ- 31
[9] दि स्टेट्समैंस ईयर बुक, 1926, पृष्ठ-19.
[10] देखें परिशिष्ट -3 ग
[11] रिकांस्ट्रक्टिंग इंडिया, पृष्ठ-7
[12] स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट, 1914-15 टू 1923-24, पृष्ठ-190
[13] रिकंस्ट्रक्टिंग इंडिया, विश्वेश्वरैया, पृष्ठ-241
[14] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 1922, वॉल्यूम,-II, पार्ट-II, पृष्ठ-1811
[15] देखिए परिशिष्ट-3 ग
[16] देखिए परिशिष्ट-3 ङ
[17] दि इंडस्ट्रियल कॉम्पिटीशन ऑफ एशिया। एन इनक्वायरी इंटू द एन्फ्लुएंसऑफ करेंसी ऑन द कॉमर्स ऑफ द एंपायर इन द ईस्ट, क्लार्मों जॉन डैनिएल। केगन पॉल, ट्रेंच, ट्रबनर एंड को. लि., लंदन, 1890, पृष्ठ-249
[18] दि बंबई बुलियन मार्केट, डॉन सी. ब्लिस, यू.एस. ब्यूरो ऑफ फॉरेन एंड डोमेस्टिक कॉमर्स, ट्रेड इंफॉरमेशन बुलेटिन नं.-457, पृष्ठ-5, 6
[19] देखिए, परिशिष्ट -3च

[20] देखिए, परिशिष्ट -3छ
[21] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम-VII, नं.-8, पृष्ठ- 635-36
[22] सेन्सस ऑफ 1921, वॉल्यूम-I, पार्ट-I, पृष्ठ-54
[23] देखिए, परिशिष्ठ-3 ज
[24] सेन्सस ऑफ 1921, पृष्ठ-7 एवं 48। जनसंख्या वृद्धि के ये आंकड़े क्षेत्र के विलय के बाद की जनसंख्या के जुडने के कारण इस संख्या तक पहुंचे हैं।
[25] वही, वॉल्यूम-I, पार्ट-I, पृष्ठ-49

अध्याय **30**

उपसंहार

इस पुस्तक के पिछले अध्याय आज के भारत की जीवित सच्चाइयों से रू-ब-रू कराते हैं, जिन्हें न आसानी से नकारा जा सकता है; न गलत साबित किया जा सकता है और खंडन तो किया ही नहीं जा सकता। हालांकि, मैंने इसके अलावा जो बहुत-से विषय मेरे शोध में शामिल नहीं थे, उन सबको छोड़ दिया है।

मेरे कहने का मतलब यह कतई नहीं है कि भारत के बारे में दावा करने वाली कुछ अत्यंत निराधार चीजें यदि गुण में नहीं, तो चरित्र और प्रवृत्ति में हमारे पश्चिमी जीवन के कुछ भाग में नहीं हैं। किन्तु, भारत ने अहंमन्यता और भौतिकवाद के सिद्धांतों को पश्चिम की तुलना में अधिक और व्यापक निष्कर्ष के लिए आध्यात्मिकता का बाना पहनाया है। इसके परिणामस्वरूप यहां व्यक्ति के लिए परिवार और जाति ही मुख्य हो गई है। क्योंकि, वे उस मार्ग के अंत की ओर रोशनी डालते हैं।

कुछ भारतीयों को इन सीधी-सच्ची बातों से उनके दिल पर चोट लगी होगी। लेकिन, क्या सच बोलने का यह काम इतना मौलिक साबित हो सकता है कि असंतोष के सभी झटके अंतत: उसमें समाहित हो जाएं। और एक चुनौती और घोषणा के अभाव के लिए जीवन और समय को आगे और अधिक नष्ट करने की कोई जरूरत न पड़े?

https://ebooks.hindiyug.com

परिशिष्ट **1**

चिकित्सा संबंधी साक्ष्य

1922 की भारतीय विधानसभा में निम्नलिखित साक्ष्य पटल पर रखे गए थे, जो उन दिनों के हालात का वह वर्णन था; जिस पर उस दिन मौजूद भारतीय सांसदों ने न सवाल उठाया था और न विरोध किया था। हालांकि, 31 साल से यह तथ्य चुनौतियों से परे बना हुआ है; फिर भी इसका योगदान महत्वपूर्ण है। जिन साक्ष्यों को पटल पर रखा गया था, उनका संकलन 1891 में भारत में चिकित्सा सेवा में तैनात पश्चिमी महिला डॉक्टरों ने किया था; जिसे इससे पहले उन्होंने भारत के बच्चों की ओर से हस्तक्षेप करने की याचना के साथ वायसराय को सौंपा था। वे दावे से कहती हैं कि इसे उन्होंने उन मामलों के आधार पर तैयार किया है, जो उनके अधीन उपचार के लिए आए थे और जिनके जीवन की संभावनाएं उनके पेशेवर अनुभव में लगातार प्रकट हो रही थीं।

1. आयु नौ वर्ष : शादी के एक दिन बाद की घटना है। बायीं जांघ की हड्डी उखड़ गई थी। कोख कुचल गई थी और बेढंगी हो गई थी। मांस कटकर लटक गया था।

2. आयु 10 वर्ष : खड़ी होने में असमर्थ। खून की धार चल रही थी। मांस के चिथड़े हो गए थे।

3. आयु नौ वर्ष : पूरी तरह इतना वीभत्स बलात्कार कि सर्जिकल चिकित्सा भी मुश्किल थी। उसके पति की दो और भी पत्नियां थीं और वह बहुत अच्छी अंग्रेजी बोल रहा था।

4. आयु 10 वर्ष : इस बच्ची की गुदा से जानलेवा खून बह रहा था। उसका पति लगभग 40 साल का व्यक्ति था और उसका वजन 11 बट्टों से कम न था। एक बट्टा अर्थात 14 पाउण्ड यानी लगभग 154 पाउण्ड (करीब 70 किलो) वजन का व्यक्ति।

5. आयु लगभग नौ वर्ष : उसके निचले अंगों को पूरी तरह लकवा मार गया था।

6. आयु लगभग 12 वर्ष : योनिद्वार के बीच का हिस्सा फटा पड़ा था और वह चल नहीं पा रही थी।

7. आयु लगभग 10 वर्ष : खून बह जाने से बहुत कमजोर थी। लगता था कि उसके साथ अप्राकृतिक मैथुन के द्वारा कोई बड़ी हिंसा की गई थी।

8. आयु लगभग 12 वर्ष : योनिद्वार के बीच का भाग फट गया था।

9. आयु लगभग सात वर्ष : एक मासूम बच्ची, जो पति के साथ रही। दर्द से तड़पकर तीन दिन बाद मर गई।

10. आयु लगभग 10 वर्ष : अत्यंत दयनीय स्थिति। एक दिन अस्पताल में रहने के बाद दूसरे दिन ही उसके पति ने 'विधिसम्मत' उपयोग के लिए उसकी मांग की और ले गया।

11. आयु 11 वर्ष : उसके साथ इतनी बड़ी हिंसा हुई कि वह जीवनभर के लिए अपंग हो गई होगी। उसके पैरों का कोई उपयोग नहीं रह गया था।

12. आयु लगभग 10 वर्ष : वह अपने दोनों हाथों के पंजों और घुटनों के बल रेंग कर अस्पताल आई थी। शादी के बाद से वह कभी सीधी खड़ी नहीं हो सकी।

13. आयु नौ वर्ष : जांघ की हड्डी उखड़ने से वह खड़ी नहीं हो सकती थी। यानी वह एक पैर रखने के बाद दूसरा पैर उठाकर नहीं रख पाती थी।

यह पूरी सूची 1922 की विधानसभा बहस के तीसरे खंड के पहले भाग में पृष्ठ-919 पर मौजूद है। पृष्ठ-882 पर परिशिष्ट भी अवलोकनीय है।

परिशिष्ट **2**

महिलाओं की मुक्ति

1919 के सुधार विधेयक के निर्माण में ब्रिटिश संसद ने यह निश्चय किया था कि भारत की महिलाओं के लिए मुक्ति का प्रश्न केवल भारतीय लोगों द्वारा ही ठीक से रखा जा सकता है। इसलिए संसद ने तदनुसार विधेयक में पुराने लिंग-भेद के नियम को रहने दिया था। लेकिन, एक ही समय में इतने चुनावी नियमों को आकार देते हुए इसे एक प्रस्ताव के द्वारा प्रांतीय चुनावी रजिस्टर पर महिलाओं को रखने के लिए प्रत्येक प्रांत की विधान परिषद की शक्ति पर छोड़ दिया गया था।

इस अधिकार का अनुसरण करते हुए मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब और असम प्रांत ने महिलाओं को पुरुष मतदाताओं की ही तरह समानता की शर्त पर महिलाओं को वोट का अधिकार देकर लिंग-भेद को समाप्त कर दिया। इसके अलावा अब केंद्रीय विधानसभा के द्वारा ऐसा ही प्रस्ताव पारित करने के बाद महिलाएं न सिर्फ अपनी प्रांतीय परिषदों के लिए, बल्कि विधानसभा के लिए भी मतदान कर सकती हैं। फिर भी वर्तमान सामान्य योग्यताओं के अंतर्गत अब भारत में मतदान की अधिकारी महिलाओं की कुल संख्या 10,00,000 अर्थात् कुल मतदाताओं का लगभग 17 प्रतिशत से ज्यादा नहीं है।

1924 की सर अलेक्जेंडर मुद्दीमन सुधार जांच समिति ने भी अपनी अगली कार्यवाही के खुलासे में निर्वाचित पद के लिए महिलाओं की उम्मीदवारी की पुष्टि की थी कि यह सवाल सामाजिक व्यवस्था और भारत की भावनाओं के अंदर गया। और जैसा कि संवैधानिक रूप से कहा गया है, भारतीयों की इच्छा के अनुरूप बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से ही इसे सुलझाया जा सकता है।' [1]

हालांकि, मुद्दीमन समिति की सिफारिश पर ही प्रांतीय परिषद की उम्मीदवारी के लिए नियमों को हाल में संशोधित किया गया और इस तरह प्रांतीय परिषद के वोटों के द्वारा लिंग संबंधी अयोग्यता को समाप्त किया जा सका। मुद्दीमन समिति की अगली सिफारिश यह थी कि भारतीय विधायिका के दोनों सदनों—स्टेट काउंसिल और विधानसभा—के निर्वाचन कानूनों में लिंगभेद को समाप्त करने के लिए संशोधन किए जाएं, ताकि जिन प्रांतों ने अपने चुनाव क्षेत्रों में महिलाओं को मताधिकार दिया है; वे दोनों सदनों के लिए महिलाओं का चुनाव कर सकें। इसलिए 01 सितंबर 1926 को भारतीय विधायिका ने मतदान किया।

हालांकि, ब्रिटिश प्रांतीय गवर्नर अभी तक भारतीय मतदाता के बदले नए विशेषाधिकारों का उपयोग कर रहा है। 1922 से 1926 तक 22 महिलाएं नगर पालिका की सभासद या स्थानीय सरकारी परिषदों की सदस्य बनी थीं। इनमें से केवल चार का निर्वाचन हुआ था; बाकी सबको सरकार ने मनोनीत किया था। [2]

निम्नलिखित बयान उस अंग्रेज का है, जो भारतीय मामलों से गहराई से परिचित है और जिसने उपर्युक्त परिवर्तनों के पक्ष में अपने नैतिक प्रभाव का जोरदार उपयोग किया था। यह बयान मेरे अनुरोध पर उनकी वर्तमान स्थिति और उनके विचारों के आधार पर हासिल किया गया था और जिसकी अन्यत्र भी प्रतिष्ठित भारतीयों के द्वारा पुष्टि की गई थी। यह रहा वह बयान–

> 'जहां तक भारतीय महिलाओं को मताधिकार देने का संबंध है। मैं आपको उसकी वजह बता सकता हूं कि मैंने उसे संसदीय समिति के समक्ष क्यों रखा था, जिसके बाद उसने कानून बनाया था। असल में बंबई जैसे कुछ स्थानों पर महिलाओं को लंबे समय से नगर पालिका में वोट देने का अधिकार प्राप्त है। जिसकी वजह से बंबई में महिलाओं की महत्वपूर्ण संख्या है, जो हमारे सामाजिक कार्य में बहुत उपयोगी भूमिका निभाती हैं। इसलिए, मैंने महिलाओं के मताधिकार के लिए उन्हें प्रोत्साहन और बढ़ावा देने पर जोर दिया; जहां ये वास्तव में दूसरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दे सकें। जितनी जल्दी हो सके उनका परदा टूटना चाहिए, क्योंकि इसका उनके स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। मैंने मताधिकार को परदे के ताबूत में एक और कील के रूप में देखा है।'
>
> 'अब तक मैं बंबई प्रेसीडेंसी में मताधिकार के कुछ प्रभाव को देख सकता हूं। वहां सार्वजनिक जीवन में महिलाएं मताधिकार से पहले एक ही सीमा में थीं। मुझे कहना होगा कि भारत के दूसरे भागों में यह प्रभाव अभी भी बहुत कम है। अतः जब तक सामाजिक स्थितियां नहीं बदलेंगी, तब तक भारतीय महिलाओं के लिए मताधिकार का कुछ भी अर्थ नहीं है। क्योंकि, वह उसका प्रयोग करने का साहस ही नहीं कर सकतीं।'

भारत में सबसे विशिष्ट बंबई की महिलाओं की स्थिति पर गौर करें तो उसमें योगदान करने वाला एक बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि यह नगर एक विशाल पारसी केंद्र है। संपूर्ण भारत में पारसियों की कुल संख्या-1,01,778 में से लगभग 93,000 लोग बंबई प्रेसीडेंसी के निवासी हैं। [3] प्राचीन पारसियों के वंशज ये सभी पारसी या तो विशेष रूप से व्यापारी हैं या साहूकार हैं। उनमें प्रति 1000 में 800 लोग शिक्षित हैं, जबकि इसके विपरीत प्रति 1,000 हिंदू पुरुषों में कुल 115 ही शिक्षित हैं। पारसी लोग अपनी महिलाओं को न तो परदे में रखते हैं और न उनकी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाते हैं; बल्कि उनकी उचित शिक्षा का समर्थन करते हैं। इसी वजह से प्रति 1,000 पारसी महिलाओं में 672 शिक्षित हैं। [4] जबकि इसके विपरीत हिंदुओं में प्रति 1,000 में 14 ही शिक्षित महिलाएं हैं।

इस तरह के लोगों का मुख्य पदों पर कब्जा करना निश्चित रूप से संपूर्ण ऊंचे वर्ग की जनसंख्या को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता।

---

[1] रिपोर्ट ऑफ दि रिफार्म्स इन्क्वायरी कमेटी, 1924, पृष्ठ- 57
[2] इंडियन ईयर बुक, 1926, पृष्ठ-511
[3] सेंसस ऑफ इंडिया, 1921, वॉल्यूम-I, पृष्ठ-118
[4] वही, पृष्ठ-180

परिशिष्ट **3 :** विविध

(क) भारतीय कपास

वर्ष 1924-25 में भारत से कच्चे कपास के निर्यात का विवरण निम्न प्रकार है, जिसमें 400 पाउण्ड की गांठों की एक इकाई है– [1]

जापान	16,71,000
इटली	4,85,000
चीन (हांग कांग शामिल नहीं)	2,84,000
बेल्जियम	2,01,000
जर्मनी	1,74,000
यूनाइटेड किंगडम	1,62,000

इंग्लैंड को निर्यात होने वाले कच्चे कपास का बहुत थोड़ा ही हिस्सा उसकी खराब गुणवत्ता के कारण लंकाशायर के करघों में उपयोग होता है। बाकी मिस्र और अमेरिका से खरीदा जाता है। 1924-25 में भारत का कुल कपास निर्यात 33,26,400 गांठ था। [2] इस अवधि में भारतीय मिलों में उसकी खपत 20,50,891 गांठ थी। जापान की खरीद अधिकतर खराब दर्जे की कपास की है और मुख्य रूप से उसका उपयोग चीन में भारत की मिलों के उत्पाद से प्रतिस्पर्धा करने में किया जाता है।

1924 में ब्रिटिश भारत में 337 कॉटन मिलें थीं। ये सभी मिलें लगभग भारतीय-स्वामित्व वाली हैं और नियम के अनुसार उनमें भारतीय श्रमिकों के साथ ब्रिटिश अधीक्षक और फोरमैन काम करते हैं। निम्नलिखित आंकड़े इस स्थिति को और भी स्पष्ट कर देंगे– [3]

	1913-14	1922-23	1923-24	1924-25
	मिलियन गज	**मिलियन गज**	**मिलियन गज**	**मिलियन गज**
भारतीय कॉटन मिलों में उत्पादन–				
कपड़ों के थान	1,164.3	1,725.2	1,701.6	1,970.5
भारतीय कॉटन मिलों के कपड़ों के थानों (रोल्स) का निर्यात	89.2	157.0	165.3	181.5
यूनाइटेड किंगडम, भारत में जापान, इटली, नीदरलैंड, यूनाइटेड स्टेट्स आदि देशों से विदेशी कपड़ों का आयात	3,197.1	1,593.3	1,485.8	1,823.2

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भारत का उत्पादन और निर्यात व्यापार बढ़ रहा है। जबकि आयात व्यापार उससे भी लगभग आधा हो गया है, जो 1914 से पहले था।

(ख) रेलवे के आंकड़े

वर्ष 1925 के निम्नलिखित आंकड़े 1926 की 'दि स्टेट्समेंस ईयर बुक' में प्रकाशित आंकड़ों पर आधारित हैं–

	भारत	अर्जेंटीना	यूनाइटेड स्टेट्स	कनाडा
प्रति 1000 वर्गमील माइलेज	21	19	88	15
प्रति मील यात्रियों की संख्या	15,834	5,966	3,550	814
प्रति मील, टनों में माल ढुलाई	2,785	2,042	8,277	2,019
कुल आयात और निर्यात मूल्य प्रति मील	$56,929	$73,092	$33,116	$35,647

(ग) सैन्य खर्च

एक जानकार अधिकारी इस विषय पर इस प्रकार लिखता है– [4]

> 'राष्ट्र के सैन्य-खर्च का सुरक्षित आंकड़ा लगभग पूरी तरह से देश के नियंत्रण से बाहर सोच-विचार से तय किया जाता है, जिसमें उसकी भौगोलिक और जातीय सीमाओं, उसके पड़ोसियों की शक्ति तथा व्यवहार, उसके राष्ट्रीय मानव तथा भौतिक संसाधनों और उसकी जातीय एकता तथा विखंडन आदि पर विचार किया जाता है। इन सबकी जांच पड़ताल में यह देखा जाता है कि क्या (भारत का) कुल बजट उसके विशाल प्रदेशों और उनकी समृद्धि (की रक्षा) के योग्य है या नहीं। अगर बजट का योग काफी हद तक बढ़ाया गया, तो रक्षा मद लगभग स्थिर बने रहेंगे और भारत को सुरक्षात्मक व्यय से विश्व में सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र बनाने के लिए विषमता गायब हो जाएगी।'

(घ) सूदखोर

पंजाबी 'बनिया' के बारे में मि. काल्वर्ट लिखते हैं– [5]

> 'वह अकेला ही सबसे धनी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। सभी किसानों के लाभ को एक साथ रखने से भी उसका लाभ अधिक है। उसके सिवाय यहां पेशेवर वर्ग नगण्य हैं। उद्यमी वर्ग उपेक्षित है और व्यापार तथा वाणिज्य भी यहां दूसरे स्थान पर है।'

लेकिन, सूदखोर पंजाब के लिए किसी भी तरह से अजीब नहीं हैं। ब्रिटिश भारत का कुल मुख्य अनुत्पादक ग्रामीण ऋण अनुमानतः $1,90,00,00,000 है। ऋण का यह बोझ काफी हद तक शातिर सूदखोरी और चक्रवृद्धि ब्याज प्रणाली की वजह से है। इसका एक तुच्छ प्रतिशत भूमि-सुधारों के लिए गया है और बाकी मुख्यतया असाधारण रूप से शादियों पर व्यय हुआ माना जा सकता है।

(च) सोना-चांदी

भारत से 1924-25 में माल निर्यात ने $ 50,00,00,000 से अधिक के मूल्य के आयात को पार कर लिया था। [6]

उस वर्ष के दौरान निजी माल का आयात कुल $ 32,80,00,000 मूल्य का था। [7] 1924-25 में अमेरिका ने $ 11,70,00,000 मूल्य के भारतीय माल का आयात किया था। [8]

अभी तक उसने भारत को कुल $ 4,69,00,000 मूल्य का ही माल बेचा है और इतने ही मूल्य की चांदी की छड़ें भारत को निजी खाते से निर्यात की हैं। जबकि सोने का निर्यात $ 6,77,00,000 मूल्य का किया है। यह प्रक्रिया साल-दर-साल तेजी से बढ़ रही है और उसी गति से सोने-चांदी की विश्व में कीमतें भी बढ़ रही हैं।

(छ) महिला श्रम की क्षति

काल्वर्ट अपनी पुस्तक 'वेल्थ एंड वेलफेयर ऑफ दि पंजाब' में पृष्ठ-207 पर लिखते हैं–

> 'अगर पश्चिमी देशों में भी सिर्फ घरेलू कामों को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में महिलाओं के काम करने के बहिष्कार का आंदोलन चला होता और यदि वह आंदोलन सफल हो जाता, तो उस आंदोलन से संपूर्ण आर्थिक निर्माण खतरे में पड़ जाता और वे देश बर्बाद हो जाते।'
>
> 'यहां भारतीय जनजातियां अपनी महिलाओं को खेतों में भी काम करने नहीं देती हैं। यही एक अकेला प्रमाण उनकी गरीबी को समझने के लिए काफी है।'

इसी विषय को एक हिंदू लेखक विश्वेश्वरैया ने भी अपनी पुस्तक 'रिकंस्ट्रक्टिंग इंडिया' में पृष्ठ-246 पर रेखांकित किया है–

> 'यही समय है, जब भारतीयों को इस विषय पर गंभीरता से सोचना है कि ऐसा निष्क्रिय जीवन किस काम का, जिसमें तथाकथित मर्यादाओं की रक्षा के नाम पर महिलाएं निंदा की पात्र हैं। और जिसकी भयानक कीमत- देश की आधी आबादी के कार्य और बौद्धिक प्रयास की क्षति के रूप में -देश को चुकानी पड़ती है।'

(ज) दरिद्रता

02 फरवरी 1926 को पूर्वी पंजाब से मुस्लिम सदस्य मि. अब्दुल हई ने भारतीय विधानसभा में भारत में भिक्षावृत्ति और आवारगी पर रोक

लगाने संबंधी एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। उसके समर्थन में उन्होंने अंशतः कहा था– [9]

> 'ताज्जुब होता है कि स्वर्ग में सितारों की संख्या ज्यादा है या इस देश में भिखारियों की। कृषि को छोड़कर भारत में दूसरा कोई पेशा नहीं है, जो अधिक अनुयायियों का दावा कर सकता है। लेकिन, मैं बिना किसी डर और विरोधाभास के यह कहने का साहस करता हूं कि इस देश में हर 25वां आदमी भिखारी है।'

इन भिखारियों के बारे में लाला लाजपत राय अपनी किताब 'नेशनल एजुकेशन इन इंडिया' में पृष्ठ-37 पर लिखते हैं–

> 'हमें आज पता चला है कि राष्ट्र का एक अच्छा-खासा भाग (कभी-कभी एक चौथाई होने का अनुमान) भिखारियों से भरा हुआ है; जिन्होंने आर्थिक उत्पादन के सारे कार्य करने छोड़ दिए हैं। और जो लोगों में यह विश्वास भर रहे हैं कि वह साधु बनने के समीप है। और यह कि आदमी के लिए सबसे अच्छी चीज यह है कि वह नरक के शाप से बचने के लिए साधुओं को भोजन दे और उनका भरण-पोषण करे।'

(झ) जनता की आर्थिक स्थिति

बढ़ते हुए साधनों के सामान्य परिस्थितिजन्य साक्ष्य के रूप में हरेक जानता है कि गैर-जरूरी किसानों द्वारा की गई उनकी खपत एक बार उनके सपनों के बाहर है। इस प्रकार फरवरी 1926 में अलीगढ़ मेले में सस्ते जूतों का एक सप्ताह में व्यवसाय $ 5,000 डॉलर का था। जिस पर 20 प्रतिशत शुद्ध मुनाफा था। जिन जूतों पर लोग अपने पैर डालने के लिए झपट रहे थे, वे 20 साल पहले उनके लिए एक अनसुनी विलासिता थी। मेले में बड़ी संख्या में छातों, लैम्पों और लोहे की चमकीले संदूकों की बिक्री हुई थी और इसी अवसर पर साधारण किसान भी बार-बार खरीदारी कर रहे थे। वहां बिक्री के लिए चाय, सिगरेट, माचिस, लालटेन, बटन, जेब-चाकू, शीशा और ग्रामोफोन आदि इस तरह की चीजें थीं; जिन्हें लोग 15 साल पहले कुछ भी खरीदने की हालत में नहीं थे। यही नहीं, रेल द्वारा भारी संख्या में तीसरे दर्जे के यात्रियों का आना-जाना भी पास में धन होने का एक बड़ा सुबूत है। भारतीय किसानों की यात्रा से रेल इस तरह भर जाती है, जिस तरह अमेरिका में सिनेमा भर जाता है। 1924-25 में तीसरे दर्जे के 58,18,04,000 लोगों ने रेल यात्रा की थी। जबकि प्रथम श्रेणी में यात्रा करने वालों की संख्या 12,46,000 थी, जो किसानों के पास अतिरिक्त धन की उपस्थिति का स्पष्ट प्रमाण है। 'वे सब कहां जा रहे हैं?' मैंने तीसरे दर्जे के डिब्बे में घुसी भीड़ से बार-बार पूछा।

उनका उत्तर था– 'कहीं पर भी। घूमने, तीरथ करने, विवाह समारोहों में, कुछ व्यापार के काम से -सिर्फ जाना और आना। ...ज्यादातर यात्रा के रोमांच के लिए।'

---

[1] रिव्यू ऑफ दि ट्रेड ऑफ इंडिया इन 1924-25, कलकत्ता, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया सेंट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1926, पृष्ठ-73
[2] वही, पृष्ठ-21, 22
[3] वही, पृष्ठ-23
[4] दि डिफेंस ऑफ इंडिया, आर्थर विन्सेंट, पृष्ठ-93, 94
[5] दि वेल्थ एंड वेलफेयर ऑफ दि पंजाब, एच. काल्वर्ट, लाहौर, 1922, पृष्ठ-130
[6] रिव्यू ऑफ दि ट्रेड ऑफ इंडिया, पृष्ठ-47
[7] वही, पृष्ठ-48
[8] वही, पृष्ठ-48,60, 61 व 76
[9] लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, वॉल्यूम-VII, संख्या-8, पृष्ठ-607